PDFaid.com
#1 pdf solutions online

जिज्ञासा-समाधान

भाग-2

'जिनभाषित' मासिक पत्रिका में प्रकाशित
जिज्ञासा-समाधान का संकलन
(वर्ष ख्म-ख्क तक)

समाधानकर्ता
पं0 रतनलाल बैनाड़ा, आगरा

प्रकाशक
श्री दिग बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान, जैन नसियां रोड़
वीरोदय नगर, सांगानेर, जयपुर (राज.) 302029

कृति : जिज्ञासा-समाधान (भाग-2)
समाधानक ार्ा : पं0 रतनलाल बैनाड़ा, आगरा

सहयोग राशि : 50 रुपये (पुनः प्रकाशन हेतु)

संस्करण : प्रथम, सित बर, 2011

प्रतियाँ : 1100

अर्थ सहयोग : श्रीमती निर्मला सुगमचन्द शाह (आंजनिया), सूरत

प्राप्ति स्थान :

1. श्री दिग बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान, जैन नसियां रोड़
   वीरोदय नगर, सांगानेर, जयपुर (राज.) 302029

2. अमर ग्रन्थमाला
   श्री दिग बर जैन उदासीन आश्रम
   584, महात्मा गाँधी मार्ग, तुकोगंज
   इंदौर (म.प्र.) मो. 094254-78846

3. जैन साहित्य केन्द्र
   श्री वर्णी दिग बर जैन गुरुकुल
   पिसनहारी मढ़िया के सामने, जबलपुर (म.प्र.)

मुद्रक : विकास ऑफसेट, भोपाल

प्रास्ताविक

संतशिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के आशीर्वाद से 'जिनभाषित' पत्रिका जनवरी 2001 से प्रार भ हुई थी। पत्रिका में आगमानुसार ज्ञानवर्धक सामग्री देने का संकल्प किया गया था, अत: यह निश्चय किया गया कि आगमानुसार प्रश्नो ार दिये जानेवाला 'जिज्ञासा-समाधान' नाम से एक कॉलम जरूर दिया जाये। जब तक चारों अनुयोगों के उद्भट विद्वान् पं. रतनचन्द्र जी मु तार, सहानपुरवाले जीवित थे, 'जैन-गजट' पत्र में उनके द्वारा सभी साधुगण एवं साधर्मी स्वाध्यायी जनों के विभिन्न प्रश्नों का उŠार नियमितरूप से प्रकाशित होता था। परन्तु उनके स्वर्गवास होने के उपरान्त स पूर्ण समाज के द्वारा यह कमी अनुभव की जा रही थी। यद्यपि उन जैसा समाधान तो वर्तमान में योग्य क्षमता रखनेवाले पं. जवाहरलाल जी शास्त्री, भीण्डर ही दे सकते हैं, परन्तु उनके अत्यन्त अस्वस्थ होने के कारण विभिन्न शास्त्रीय प्रश्नों के उŠार देने का कार्य पूर्ण न हो सका। अत: विभिन्न आगमिक शंकाओं के 'जिज्ञासा-समाधान' कॉलम का कार्य पं. रतनलाल जी बैनाड़ा को सौंपा गया। बड़े हर्ष की बात है कि पं. बैनाड़ा जी ने उस कार्य को अच्छी तरह स पन्न किया है तथा जनवरी 2001 से आज तक निरन्तर अपनी योग्यतानुसार प्रश्नक ाओं के उ ार दे रहे हैं। अभी तक 'जिनभाषित' का एक भी ऐसा अंक प्रकाशित नहीं हुआ, जिसमें जिज्ञासा-समाधान न आया हो। यह भी बड़े हर्ष की बात है कि 'जिनभाषित' के सभी पाठकों द्वारा, यहाँ तक कि विभिन्न साधुओं और आर्यिकाओं द्वारा इस कॉलम को अत्यन्त रुचिपूर्वक देखा जाता है।

दिस बर 2005 में बहुत से जिज्ञासु पाठकों द्वारा यह भावना व्यक्त की गयी थी कि प्रार भ से दिस बर 2005 तक जितने 'जिज्ञासा-समाधान' प्रकाशित हुये हैं, उनका अनुयोग के अनुसार विभाजन करके एक संग्रह प्रकाशित किया जाए। तदनुसार अप्रैल 2006 में 'जिज्ञासा-समाधान' भाग-1 का प्रकाशन किया गया था, जिसमें दिस बर 2005 तक की सभी जिज्ञासा-समाधानों का संग्रह विद्यमान था। इस प्रकाशित संग्रह को समाज में बड़ा यश मिला, जिसका प्रतिफल यह हुआ कि पिछले पाँच वर्षों में इसके तीन संस्करण निकाले गये और आज भी उसकी मांग विद्यमान है। पाठकों द्वारा पिछले एक-डेढ़ वर्ष से निरंतर अनुरोध किया जा रहा था कि इसका दूसरा भाग भी शीघ्र निकाला जाए। हम सभी को यह आश्वासन देते रहे कि दिस बर 2010 के उपरान्त इसका दूसरा भाग प्रकाशित किया जायेगा। अब अगले पाँच वर्ष पूर्ण हो गये हैं। अत: जनवरी 2006 से दिस बर 2010 तक 'जिनभाषित' में प्रकाशित सभी जिज्ञासा-समाधानों का यह दूसरा भाग आप सबके सामने प्रस्तुत है। इस द्वितीय भाग में प्रथमानुयोग की 27, करणानुयोग की 127, चरणानुयोग की 8 9 , द्रव्यानुयोग की 25, तथा अन्य 20, इस प्रकार कुल मिलाकर 288 जिज्ञासा-समाधानों का समावेश किया गया है। हमारी पूरी कोशिश रही है कि प्रस्तुत प्रकाशन में सभी आगम-प्रमाणों का उल्लेख, पूर्ण शुद्धि के साथ करें। पाठक स्वयं निर्णय करेंगे कि हम इसमें कहाँ तक सफल हुये हैं। हमें आशा है कि प्रथम भाग की तरह यह द्वितीय भाग भी सभी स्वाध्यायप्रेमी महानुभावों को आगमस बन्धी विभिन्न विषयों का प्रमाणपूर्वक समाधान देने में सफल रहेगा।

हम कृतज्ञ हैं सूरतनिवासी श्री निर्मलादेवी सुगमचन्द शाह आंजनिया तथा उनके स्वाध्यायरसिक दोनों सुपुत्र श्री राजाबाबू तथा धर्मेन्द्रकुमार जी के, जिन्होंने इस प्रकाशन की पूरी राशि हमें सहयोगस्वरूप प्रदान की है। इस परिवार द्वारा दिया गया यह ज्ञानदान वास्तव में प्रशंसायोग्य है। साथ ही स पूर्ण सामग्री को विधिवत् प्रकाशनयोग्य बनाने में पं. शिखर चन्द जैन, मालपुरा, जिला- टोंक ने भी हमें अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया है, अत: हम उनको भी बहुत धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

हमें आशा है कि आगम के अनुसार प्रश्नों के उ ार समझनेवाले सरस्वती के उपासकों को जिज्ञासा-समाधान का यह दूसरा भाग अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होगा। हमारी भी भावना यही है कि यह प्रकाशन सभी पाठकों के ज्ञानभण्डार को समृद्ध बनाए।

पं. महेशकुमार जैन
व्या याता, श्री दिग बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान
सांगानेर, जयपुर (राज.)।

जिज्ञासा-समाधान

अनुक्रमणिका

जिज्ञासा क्र.		पृष्ठ क्र.
	प्रथमानुयोग	
1.	एक कल्पकाल में तीर्थङ्करों की सं या	1
2.	तीर्थङ्कर बालक स्नान करते हैं या नहीं	2
3.	सभी तीर्थङ्करों का जन्म मध्यरात्रि में नहीं	2
4.	तीर्थङ्कर के माता-पिता के मोक्षप्राप्ति का नियम या	2
5.	रत्नवृष्टि के रत्नों का वर्तमान में अभाव €यों ?	3
6.	अरिहन्त अवस्था होते ही शरीर के ऊर्ध्वगमन के प्रमाण	3
7.	दिव्यध्वनि दिन में कितनी बार खिरती है	4
8.	तीर्थङ्करों की दिव्यध्वनि खिरते रहने का जघन्य काल	5
9.	तीर्थङ्कर की वाणी झेलनेवाले मु य गणधर या अन्य गणधर भी	6
10.	वापिका / भामण्डल में सात ाव दिखाई देना	7
11.	चक्ररत्न कुटु बयों का घात नहीं करता	7
12.	भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत पर कितने जिनालय बनवाये	8
13.	श्री रामचन्द्र जी की जन्मतिथि	9
14.	शलाका पुरुषों के शरीर के वर्ण	9
15.	रुद्र हुण्डावसर्पिणी काल में या उत्सर्पिणी में ाी	10
16.	श्रीदǯा मुनिराज का चरित्र	11
17.	मं खलि गोशालक का जीवन वृ ान्त	11
18.	बाहुबली स्वामी की मोक्षस्थली	12
19.	छप्पन कुमारियों के निवास स्थान	12
20.	श्री, ह्री, आदि देवियाँ किस निकाय की हैं	14
21.	देवों के शरीर की विशेषताएँ	15
22.	या देव मनुष्य को अपने निवासस्थान में ले जा सकता है	15
23.	दुर्योधन का आगामी भव	16
24.	पाँच श्रुतकेवलियों को मोक्ष उसी भव से या नहीं	16
25.	श्रेणिक का आयुबन्ध €यों और कब	17
26.	पुराण के भेद	18
27.	उपसर्ग के भेद	18

करणानुयोग

28. बहिरात्मा जीवों के गुणस्थान 19
29. तृतीय गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव कैसे 19
30. पंचम गुणस्थान की प्राप्ति में अन्तरंग कारण €या है 20
31. अप्रमǎाविरत गुणस्थान में भी आहार-विहार संभव 20
32. सातिशय अप्रम ाविरत में आयु बंध नहीं 21
33. गुणस्थानों की अपेक्षा सुख का बँटवारा 22
34. बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में शरीर परमौदारिक हो जाता है 22
35. तेरहवें गुणस्थान में असातावेदनीय का स्वमुख उदय 23
36. केवली भगवान् के कितने प्राण होते हैं 24
37. केवली के चारों प्रकार का बंध 25
38. केवली भगवान् न संज्ञी हैं न असंज्ञी 25
39. केवली भगवान् के योग और उनका कारण 26
40. बिना आहार भी अरिहन्तों का जीवन कैसे संभव? 27
41. स मूर्च्छन एवं उपपाद जन्म में अन्तर 28
42. कुभोगभूमिज तिर्यञ्चों का आहार 29
43. कुभोगभूमि में संस्थान 29
44. तिर्यञ्च गति अशुभ, पर तिर्यञ्च आयु शुभ €यों 29
45. लǎध्यपर्याप्त तिर्यञ्च के नरकायु व देवायु का बन्ध नहीं 29
46. नारकी जीवों का शरीर सप्त धातुरहित नहीं होता है 30
47. नरक में उत्पǎा का कारण : नरकगति या नरकायु 30
48. नरक की मिट्टी की दुर्गन्ध से जीवों के मरणस बन्धी दो मत 31
49. नरकों में अन्धकार होने पर भी आपसी मारपीट कैसे संभव? 32
50. नरकों में पाये जानेवाले सिंह आदि नारकियों की ही विक्रिया है 33
51. सभी देवों का जन्म के बाद अभिषेक नहीं होता 33
52. पंचमकाल के जीवों की स्वर्गों में कहाँ तक उत्पǎा 34
53. निर्ग्रन्थ मुनि का उपपाद किन स्वर्गों में 34
54. मुनिराज ही अगले भव में इन्द्र बन सकते हैं 36
55. नित्यनिगोदिया के पञ्चपरावर्तन कैसे 36
56. चतुर्गति-निगोद का स्वरूप 36
57. पृथ्वीकायिक आदि के शरीर में निगोदिया जीव हैं या नहीं? 37

58. बादर एवं सूक्ष्म निगोद का सर्वलोक में निवास 37
59. वातवलयों में ाी जीवों का सद्भाव 38
60. दो इन्द्रियों का उपयोग युगपत् नहीं होता है 38
61. विकलत्रय जीव लेच्छखण्ड में होते हैं, पर भोगभूमि में नहीं 39
62. तीनों योगों की प्रवृ ा युगपत् संभव है या नहीं ? 40
63. मिश्रकाययोग का स्वरूप 41
64. एकान्तानुवृद्धि योग या है 41
65. औदारिक मिश्र काययोग में मिश्र वर्गणाएँ आती हैं : दो मत 42
66. या अकेला मतिज्ञान होना संभव है ? 42
67. अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट का स्वरूप 43
68. स्वर्गों में अवधिज्ञान के क्षेत्र का प्रमाण 44
69. भवप्रत्यय अवधिज्ञान अपर्याप्त अवस्था में €यों नहीं 44
70. विभंगज्ञान गुणप्रत्यय भी, भवप्रत्यय भी 45
71. सर्वावधिज्ञान का विषय परमाणु : दो मत 45
72. 'णमो अणंतोहिजिणाणं' का अर्थ 46
73. मन:पर्यय ज्ञान द्वारा चिन्तित विषय 46
74. अनन्तानुबंधी की विसंयोजना के बिना भी उपशम श्रेणी स भव 47
75. स य€त्व के साथ चारित्र होने का नियम नहीं 47
76. मनुष्य या तिर्यञ्च आयु बाँधनेवाले के अणुव्रत धारण करने के ाव नहीं होते 48
77. परिहारविशुद्धि चारित्र के गुणस्थान 48
78. संयमासंयम एवं संयम की उत्पZा में जघन्य आयु का प्रमाण 49
79. कषायरहित अवस्था में लेश्या कैसे ? 50
80. एकेन्द्रिय जीवों के अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं 51
81. अभव्य को किस प्रकार का बंध होता है 51
82. अभव्य और भव्य जीव को कितना श्रुतज्ञान स भव 52
83. दूरानुदूरभव्य को रत्नत्रय की प्राप्ति कभी नहीं 52
84. अभव्य का स्वर्गों में कहाँ तक गमन संभव 53
85. भव्य जीवों से दूरानुदूर-भव्य अनन्तगुणे हैं 53
86. नित्य निगोद में अभव्य जीव नहीं पाये जाते 54
87. क्षायिक स य€त्व के लिए प्रथम संहनन आवश्यक 54
88. मिथ्यादृष्टि के उपदेश से स य€त्वप्राप्ति स भव नहीं 55

89. उपशम स य€त्व के साथ मन:पर्ययज्ञान स भव है या नहीं 56
90. उपशम स य€त्वी का संसारकाल, गति व वेद 57
91. स यग्दृष्टि का आर्ँरौद्रध्यान अशुभगति के बन्ध का कारण नहीं है 57
92. वेदकप्रायोग्य काल का स्वरूप 58
93. सप्तम पृथ्वी का निकला नारकी स य€त्व प्राप्ति कर सकता है या नहीं : दो मत 59
94. देव और नारकियों में जातिस्मरण से स य€त्वोत्पर्ँा कब 59
95. निर्वाणक्षेत्रों की वन्दना से स य€त्वोत्पर्ँा 60
96. स य€त्व प्राप्ति के योग्य जातिस्मरण एवं वेदना की विशेषता 60
97. द्रव्यमन और भावमन में अन्तर 61
98. अनाहारक जीव कौन-कौन होते हैं ? 62
99. अकर्मबन्ध या है ? 62
100. निरन्तरबन्धी और सान्तरबन्धी प्रकृति का या अर्थ है 63
101. निधर्ँा-निकाचितपना पुण्य और पाप दोनों प्रकृतिरूप है 63
102. कार्मण वर्गणा के भेद 64
103. कार्मण वर्गणाओं का बँटवारा 64
104. असंक्षेपाद्धाकाल का स्वरूप 65
105. स्वाध्याय के समय भी ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध 66
106. सादिबन्ध व अनादिबंध आदि का स्वरूप 66
107. स यक्मिथ्यात्व व स यक्प्रकृति का उदय, बन्ध में कारण नहीं है 67
108. क्षायोपशमिक स य€त्व के द्वारा भी नरकायु का अपकर्षण संभव 68
109. आयुकर्म का अपकर्षण नहीं, अवल बनाकरण होता है 69
110. उपशमस य€त्व के काल में तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध स भव : दो मत 70
111. तीर्थङ्कर प्रकृति के जघन्य स्थितिबन्ध का स्वामी कौन जीव 70
112. कृष्ण और नील लेश्या के साथ तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध अस भव 70
113. विस्रसोपचय का अर्थ या है 71
114. निद्रा के समय ाी कर्मबन्ध 71
115. निद्रा के समय साता-असाता का उदय 72
116. स्थिर छ क का अर्थ या है 72
117. मोहनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है 73
118. उदयाभावी क्षय का लक्षण 73
119. उदीरणा किन जीवों के होती है 74

120. केवली के औदयिक भावों की सं या 74
121. जीव के 53 भावों के अलावा अन्य भी भाव होते हैं 75
122. असाता वेदनीय का उत्कृष्ट उदयकाल 76
123. देव और नारकियों के भी आयु कर्म की प्रकृति-प्रदेश उदीरणा 76
124. एक साथ दो संस्थान का उदय नहीं होता 77
125. विग्रहगति में किस आयु का उदय, भुज्यमान का या बध्यमान का 77
126. विग्रहगति में पुद्गलविपाकी कर्मों का उदय नहीं 77
127. नवग्रह से शुभ व अशुभ फल नहीं, कर्मोदय से होता है 78
128. क्षपितकर्मांशिक का स्वरूप 79
129. उद्वेलना का स्वरूप व प्रकृतियाँ 79
130. विसंयोजना एवं क्षय में अन्तर 80
131. अकृतसमुद्घात जिन कौन हैं ? 80
132. उपपाद नाम का समुद्घात नहीं होता है 80
133. वेदना समुद्घात का जघन्य और उत्कृष्ट क्षेत्र 81
134. अशुभ तैजस शरीर निकलने के अन्य प्रमाण 81
135. तैजस शरीर की उत्कृष्ट स्थिति का अर्थ 82
136. भरतक्षेत्र आदि नाम अनादि हैं या सादि 82
137. ज बूवृक्ष व शाल्मलीवृक्ष का स्वरूप 83
138. लवणसमुद्र के पातालों की गहराई 84
139. ज्वारभाटा किन समुद्रों में आता है 84
140. विजयार्ध पर्वत पर विद्याधरों की जीवनचर्या 85
141. मानुषोǂार के बहिर्भाग के तिर्यञ्चों का जीवन 86
142. कलङ्कल पृथ्वी कहाँ है 87
143. सुदर्शन मेरु का वर्ण 87
144. चैत्यवृक्ष व कल्पवृक्ष पृथ्वीकाय या वनस्पतिकाय 87
145. क्षायिक भोगोपभोग आदि [] या हैं 88
146. सिद्धालय में प्रकाश है या अन्धकार 89
147. मरण के भेद व गुणस्थान 89
148. मुनिराज के पृथक् विक्रिया संभव 90
149. व्यवहार पल्य का प्रमाण 90
150. षट्खण्डागम ग्रन्थ का विषयपरिचय 91

151. अनन्त का अन्त नहीं होता 92
152. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति तथा व्युपरतक्रियानिवृ[] । शु[] लध्यान उपचार से कहे हैं 93
153. धर्मध्यान की अपेक्षा शु[] लध्यान का काल अधिक है 94
154. बल और वीर्य में अन्तर 95

चरणानुयोग

155. संयम धारण की योग्यता जन्म से आठ वर्ष बाद 96
156. स य€त्वाचरण और स्वरूपाचरण चारित्र में अन्तर 96
157. मोक्षमार्ग दो भेदवाला है 97
158. मनोज्ञ संज्ञा अव्रती और महाव्रती दोनों के लिए 98
159. मुनिराजों की गोचरीवृ[] । आदि का स्वरूप 100
160. अष्टप्रवचनमातृका का स्वरूप 101
161. मुनिराजों को तीन सन्ध्याकालों में सामायिक आवश्यक 101
162. चारित्रशुद्धि के 1234 व्रत कैसे 102
163. अपहृत संयम और उपेक्षा संयम में अन्तर 103
164. मुनिराजों द्वारा अपनी जन्म जयन्ती मनाना उचित नहीं 103
165. आगमोक्त चर्यावाले मुनिराज ही वन्दनीय 104
166. काल के कारण स्वयं को शिथिलाचारी बनाना उचित नहीं 105
167. मुनिराज पंखा कूलर, ए.सी. का प्रयोग नहीं करते हैं 106
168. मुनि खड़े होकर ही आहार करते हैं 107
169. साधु का लश की लैट्रिन में शौच जाना उचित नहीं 108
170. साधु को शिथिलाचारी दीक्षागुरु की भी वन्दना का निषेध 110
171. मुनिराज स्थावर हिंसा का ाी निर्देश नहीं देते हैं 111
172. चातुर्मास कलश स्थापना का नियम है या नहीं 112
173. साधु का आहार तय होना अनुचित है 113
174. जो साधु भावलिंगी नहीं, वह किसी भी गति में जा सकता है 114
175. पुलाकादि मुनि भावलिङ्गी ही होते हैं 115
176. पार्श्वस्थ आदि साधुओं के लक्षण 116
177. तीर्थङ्करों के छेदोपस्थापना चारित्र नहीं होता है 116
178. यथा यात चारित्र की पूर्णता कहाँ 117
179. आचार्य आदि भी भगवान् हैं 118
180. ध्याता तो वास्तव में मुनि ही होते हैं, गृहस्थ नहीं 119

181. गृहस्थों को आत्मध्यान नहीं होता 120
182. आतापन योग वर्तमान में स भव नहीं 121
183. केशलोंच सिर, दाढ़ी व मूँछ के बालों का ही होता है 121
184. दीक्षा के उपरान्त अन्तर्मुहूर्त में मोक्षप्राप्ति स भव 122
185. आर्यिकाओं को वन्दामि कहकर प्रणाम करना उचित है 123
186. आर्यिका को एकल विहार करने की अनुमति नहीं 123
187. आर्यिकाओं का गुणस्थान, पात्रपना, भक्तियाँ और चारित्र 124
188. आर्यिकाओं को सल्लेखना के समय भी वस्त्र नहीं त्यागना चाहिये 125
189. वस्त्रधारी की आरती उचित नहीं है 125
190. मुनि या आर्यिका को गृहस्थ के घर में ठहरना उचित नहीं 126
191. व्रत प्रतिमा में प्रतिदिन स बन्धी सत्रह नियम 127
192. जहाँ व्रत पालन न हो, ऐसे स्थान पर न जावें 128
193. रसों का वार से त्याग : शास्त्रों में उल्लेख नहीं है 128
194. भोगोपभोगपरिमाण व्रत के अतिचार किस प्रतिमाधारी के लिए 129
195. प्रतिमाधारी की वस्त्ररहित सामायिक करना आगमस मत 130
196. क्षुल्लकों का वाहन में बैठना आगमस मत नहीं 130
197. यज्ञोपवीत व्रती पहन सकता है, अव्रती के लिए नियम नहीं 131
198. परविवाहकरण का अर्थ €या है 133
199. असमीक्ष्याधिकरण 'अतिचार' का अर्थ €या है 134
200. ब्रह्मचारियों को धन एकत्रित नहीं करना चाहिये 134
201. गूढ़ ब्रह्मचारी कौन है 135
202. श्रावक श द के अनेक अर्थ 135
203. निदान शल्य, निदान आर्तध्यान तथा निदान बंध में अंतर 136
204. स्वाध्याय को परम तप कहा है 137
205. अष्टमी चतुर्दशी को सिद्धान्त ग्रन्थ नहीं पढ़ना चाहिये 138
206. कौनसा शूद्र जिनबि ब दर्शन कर सकता है 138
207. कामसेवन में त्रस जीवों का घात 139
208. उपवास के दिन या करें, या नहीं 139
209. आय का कितना अंश दानयोग्य 140
210. पात्र के अनुसार दान के फल में अन्तर 140
211. किमिच्छिक दान या है 141

212. सुबह भोजन बनाना कब प्रार भ करें 141
213. अनिष्टशान्ति के लिए किया गया पूजन-विधान निदान नहीं है 142
214. गृहस्थ को देवदर्शन और देवपूजा दोनों अनिवार्य हैं 143
215. जिनपूजा खड़े होकर करनी चाहिये 144
216. पूजन में पुष्पाञ्जलि क्षेपण €यों किया जाता है 145
217. पूजन के अंत में 'आये जो-जो देवगण' बोलना आवश्यक नहीं 145
218. देव, शास्त्र और गुरु में बड़ा कौन 146
219. चार-पाँच माह आदि की गर्भवती महिलाएँ पूजन आदि कर सकती हैं 147
220. व्रती गृहस्थ का पण्डितमरण नहीं, बालपण्डितमरण होता है 148
221. रात्रि बारह बजे के बाद दूसरा दिन प्रार भ नहीं होता है 149
222. अष्टांग नमस्कार उचित है या नहीं 150
223. आचार्य शान्तिसागर जी स्त्री अभिषेक के समर्थक नहीं थे 151
224. विधवा स्त्री संयम सहित जीवनयापन करे 151
225. प्यूरीफायर का पानी भी छानकर पीना चाहिये 151
226. नवनीत की मर्यादा मुहूर्त प्रमाण का घी शुद्ध है 152
227. रात्रिभोजन मांसभक्षण के समान 153
228. राई और नमक मिलाकर खाना अभक्ष्य 154
229. आलू को प्रासुक करो, फिर भी सेवनयोग्य नहीं 154
230. संकल्प और विकल्प में अन्तर 154
231. हींग, मिर्च आदि भी भाण्ड हैं 155
232. सल्लेखना के ोद 155
233. स य€त्व की भावनाएँ 156
234. जैन शास्त्रों में भी प्राणायाम के प्रसङ्ग 156
235. पद्मावती के मस्तक पर स्थित पार्श्वनाथ प्रतिमा पूज्य नहीं है 157
236. दि पालों व शासन देवों को अर्घ्य नहीं चढ़ाना चाहिये 158
237. क्षेत्रपाल आदि की स्थापना का उपदेश आगमस मत नहीं है 159
238. चाँदी के मेरु पूजनीय नहीं हैं 160
239. मन्दिर की चौखट चैत्यालय का प्रवेशद्वार है 160
240. जिस आसन से चि ा की एकाग्रता हो, वह आसन व काल ठीक है 161
241. चढ़ाये हुये श्रीफल पुनः उपयोग में नहीं लेना चाहिये 161
242. 'फट् स्वाहा' कहकर जिनालय में श्रीफल फोड़ना संकल्पी हिंसा का रूप है 162
243. कुž्ाा बिल्ली पालना नरकायु के बन्ध का कारण है 162

द्रव्यानुयोग

244. धर्मास्तिकाय न होने से लोकान्त के बाहर गमन नहीं 164
245. शुद्ध द्रव्यों में भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है 165
246. वायु पुद्गल है, जीव नहीं 165
247. परमाणु हल्का-भारी, कड़ा-नरम नहीं होता है 166
248. परमाणु का आकार : दो मत 167
249. परमाणु के भेद 167
250. कोई परमाणु ऐसा नहीं, जो आज तक स्कन्ध न बना हो 168
251. धर्म और अधर्म द्रव्य श्रद्धान के विषय हैं 168
252. अगुरुलघुत्व गुण के प्रकार 169
253. तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य में अन्तर 170
254. अभाव के भेद व स्वरूप 170
255. नित्य और ध्रौव्य में अन्तर 171
256. शŸद पुद्गल की पर्याय है, आकाश का गुण नहीं 171
257. निश्चय से रागादि भाव पुद्गलमय हैं 172
258. निश्चय स य€त्व और व्यवहार स य€त्व एक साथ नहीं होते 172
259. मिथ्यादृष्टि के व्यवहार स य€त्व मानना मिथ्या धारणा है 173
260. स यक् एकान्त, मिथ्या एकान्त आदि के लक्षण 175
261. केवलज्ञान के द्वारा स्वात्मा को नहीं जाना जाता 175
262. आगमशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र में अन्तर 175
263. शुभोपयोग से शुद्धोपयोग और उससे केवलज्ञान होता है 176
264. अव्रती के भोग निर्जरा के कारण नहीं हैं 177
265. अरहन्त अवस्था शुद्धोपयोग का फल है 177
266. पाप त्रैकालिक हेय व पुण्य तात्कालिक उपादेय है 178
267. पुण्य या शुभोपयोग त्रैकालिक हेय नहीं हैं 179
268. पुण्य के भेद व स्वरूप 182

अन्य

269. भगवान् बाहुबली स्वामी की प्राचीन मूर्ति कहाँ हैं 183
270. जैन कन्याओं का विवाह अजैनों में नहीं करना चाहिये 184
271. गौतम बुद्ध पहले दिग. साधु थे, बाद में नये मत का प्रचार किया 185
272. णमोकार मंत्र के विभिन्न उच्चारण 186

273. उपसर्गविजेता भगवान् की मूर्ति में फण बनाना अनुचित नहीं 186
274. देवों की ाषा 187
275. जैनध्वज के पंचरंग परमेष्ठी के प्रतीक 187
276. ओम् ह्रां ह्रीं आदि श[] दों के अर्थ 187
277. पुरुषार्थ का अर्थ एवं भेद 188
278. अनधिकृत भूमि पर जिनालय स्थापित करना उचित नहीं 189
279. स मेदशिखर में जन्म लेनेवाले निकट भव्य होते हैं 189
280. मंदिरों के शिखरों एवं चौखटों पर मूर्तियाँ बनाने का प्रयोजन 190
281. मन्दिर या धर्मसभा में मोबाइल बन्द रखना ही उचित 190
282. जिस पर लिखा हो, ऐसे पत्थर पर भी पैर न रखें 191
283. स मेदशिखर में सुवर्णभद्रकूट के ऊपरवाले चरण प्राचीन हैं 192
284. 'उज्जोवणमुज्जवणं' का अर्थ €या है 192
285. पंचवि इंदिय मुण्डा— गाथा का अर्थ €या है 193
286. €या श्री कषायपाहुड़ से पूर्व भी शास्त्र होते थे 193
287. दस धर्मों में पहले शौच या सत्य 194
288. सप्त परमस्थान 195

PDFaid.com
#1 pdf solutions online

प्रथमानुयोग

1. एक कल्पकाल में तीर्थङ्करों की सं या

जिज्ञासा— एक कल्पकाल में कितने तीर्थङ्कर हो सकते हैं ?

समाधान— उपर्युक्त प्रश्न का समाधान आदरणीय पं0 जवाहरलालजी शास्त्री भीण्डरवालों ने करणदशक नामक पुस्तक में अच्छी प्रकार लिखा है, उसी के आधार से यहाँ लिखते हैं।

तीर्थंकर नामकर्म का उदय क्फ्वें गुणस्थान से प्रारंभ होकर क्ब्वें गुणस्थान के अंत तक रहता है। क्ख्वें गुणस्थान तक के जीवों को तीर्थंकर नहीं कहा जा सकता €योंकि उनके तीर्थंकर नामकर्म के उदय का अभाव है। एक कल्पकाल में ख कोड़ाकोड़ी सागर होते हैं। इतने काल में भरत, ऐरावत में तो उत्सर्पिणी का तीसरा व अवसर्पिणी का चौथा ये दो काल ऐसे आते हैं कि जिनमें मोक्षमार्ग खुला रहता है तथा तीर्थंकर नामकर्म के उदय वाले जीव ाी मिलते हैं। पाँच भरत एवं पाँच ऐरावत = क क्षेत्रों में इस एक कल्पकाल में ख्ब्×क=ख्ब तीर्थंकर अवसर्पिणी में तथा ख्ब ही तीर्थंकर उत्सर्पिणी में होते हैं अर्थात् एक कल्पकाल में सभी भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में ब्त तीर्थंकर होते हैं न कम और न अधिक। परंतु विदेह क्षेत्र में, श्लोकवार्तिक द्वितीयखण्ड पृष्ठ -म्के अनुसार, एक कल्पकाल में असं यात तीर्थंकर नियम से हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि प्रथम तीन नरकों में तीर्थंकर प्रकृति की सŽाावाले असं यात जीव तथा स्वर्गों में भी असं यात जीव नियम से होते हैं। नरकों में तीर्थंकर प्रकृति की सŽाावाले नारकियों की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक फ सागर होती है (देखें- महाधवल क/ भ्-भ्त्र)। अत: वर्तमान में जो तीर्थंकर प्रकृति की सŽाा वाले असं यात नारकी हैं वे सब साधिक तीनसागर काल में नियम से मनुष्यगति प्राप्तकर तीर्थंकर बन जायेंगे और ये सभी तीर्थंकर विदेहक्षेत्र में ही होंगे। €योंकि पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्र में तो ख कोड़ाकोड़ी सागर काल में मात्र ब्त तीर्थंकर ही होते हैं इससे अधिक नहीं।

देवगति में तीर्थंकर प्रकृति की सŽाावाले देवों की उत्कृष्ट आयु फ्फ सागर होती है और इनकी सं या असं यात कही गयी है। धवल पुस्तक त्त—पृष्ठ त्रभ के अनुसार जिस गति में तीर्थंकर प्रकृति का आरंभ हुआ हो, उसे लेते हुए तीसरे भव में वह जीव नियम से तीर्थंकर बनकर मुक्तिलाभ पाता है। अत: ये सभी तीर्थंकर प्रकृति की सŽाा वाले असं यात देव भी, साधिक फ्फ सागर काल में नियम से मनुष्यगति प्राप्तकर मोक्ष पधारेंगे।

इस प्रकार तीर्थंकर प्रकृति की सŽाावाले देव और नारकी, साधिक फ्फ सागर काल में कई असं यात हो जाते हैं। इसके अलावा वे तीर्थंकर और भी हैं जो विदेहक्षेत्र में मनुष्यगति प्राप्त कर, उसी भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर, तीर्थंकर बनकर मोक्ष पधारते हैं।

इस प्रकार हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि जितने एक कल्पकाल में भरत—ऐरावत के क क्षेत्रों में ब्त तीर्थंकर होते हैं, उतने ही काल में विदेह क्षेत्र से सं यात × असं यात तीर्थंकर हो जाते हैं।

जनवरी, 2008

2. तीर्थङ्कर बालक स्नान करते हैं या नहीं

जिज्ञासा- €या तीर्थङ्कर प्रभु, बालक अवस्था में स्नान करते हैं ? इसका कोई आगम प्रमाण है ?

समाधान- बालक तीर्थङ्कर स्नान करते हैं। इस स बन्ध में श्री आदिपुराण / पर्व 14 / श्लोक 165 में इस प्रकार कहा है-

धात्र्यो नियोजिताश्चास्य देव्यः शक्रेण सादरम्।
मज्जने मण्डने स्तन्ये संस्कारे क्रीडनेऽपि च॥

अर्थ- इन्द्र ने भगवान् को आदरसहित **स्नान कराने,** वस्त्राभूषण पहिनाने, दूध पिलाने, शरीर के संस्कार (तेल, कज्जल आदि लगाना) करने और क्रीड़ा कराने के कार्य में अनेक देवियों को धाय बनाकर नियु त किया था। (जन्म कल्याणक मनाने के बाद जब इन्द्र अपने-अपने स्वर्ग को चले गये थे, तब €या व्यवस्था करके गये थे, यह उसका वर्णन है।)

अगस्त, 2010

3. सभी तीर्थङ्करों का जन्म मध्यरात्रि में नहीं

जिज्ञासा- €या सभी तीर्थङ्करों का जन्म मध्य रात्रि में ही होता है ?

समाधान- तीर्थङ्कर बालक के जन्म के लिये प्रातःकाल या मध्यरात्रि,जिज्ञासा-समाधान / भाग-2 / 2 कोई नियतकाल नहीं है। तीर्थङ्कर बालक का जन्म प्रातःकाल में भी हुआ था, इस स बन्ध में नि नलिखित प्रमाण ध्यान देने योग्य हैं-

1. शान्तिनाथपुराण / पृष्ठ 174 (रचयिता- भ0 आचार्य सकलकीर्ति)-

''अथानन्तर ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिवस **प्रातःकाल** के भरणी नक्षत्र में शुभ मुहूर्त एवं शुभ लग्न में, जिस प्रकार पूर्व दिशा सूर्य को प्रकट करती है, उसी प्रकार महासती ऐरादेवी ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न उत्पन्न किया।

2. आदिपुराण / भाग 1 / पर्व 13 / श्लोक 2-3 में इस प्रकार कहा है-

अर्थ- जिस प्रकार प्रातःकाल के समय पूर्व दिशा कमलों को विकसित करनेवाले प्रकाशमान सूर्य को प्राप्त करती है, उसी प्रकार मरुदेवी माता ने भी चैत्र कृष्णा नवमी के दिन **सूर्योदय के समय** उŽाराषाढ़ नक्षत्र और ब्रह्म नामक महायोग में मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से शोभायमान दैदीप्यमान पुत्र को प्राप्त किया।

सित बर, 2010

4. तीर्थङ्कर के माता-पिता के मोक्षप्राप्ति का नियम या

जिज्ञासा- या तीर्थंकर भगवान के माता-पिता का 2-3 भव में मोक्ष जाने का नियम है ?

समाधान- तीर्थंकर के माता-पिता के मोक्ष जाने के स बन्ध में तिलोयपण्णŽि में इस प्रकार कहा है-

तित्थयरा तग्गुरओ, च€की-बल-केसि-रुद्द-णारद्दा।
अंगज-कुलयर-पुरिसा, भव्वा सिज्झंति णियमेण॥ 4 / 1485॥

अर्थ- तीर्थंकर (24), उनके गुरुजन (24+24 माता एवं पिता), चक्रवर्ती (12), बलदेव (9), नारायण (9), रुद्र (11), नारद (9), कामदेव (24) और कुलकर (14) ये सब 160 भव्य पुरुष नियम से सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त कथन में भगवान् के माता-पिता के नियम से सिद्ध होने का तो वर्णन है, परन्तु कितने भव में सिद्ध होंगे इसका कोई उल्लेख नहीं है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष में इस गाथा का अर्थ करते हुए श्री जिनेन्द्र वर्णी ने- 'उसी भव में या अगले एक-दो भवों में' इस प्रकार जो लिखा है वह उनकी अपनी धारणा हो सकती है, परन्तु उपर्युक्त गाथा में ऐसा कोई भी श द नहीं कहा गया है। अत: तीर्थंकर के माता-पिता नियम से सिद्ध होते हैं, इतनी मात्र धारणा बनाना आगम स मत है।

अगस्त, 2009

5. रत्नवृष्टि के रत्नों का वर्तमान में अभाव €यों?

जिज्ञासा- भगवान के गर्भ में आने से पूर्व तथा बाद में 15 माह तक रत्नवर्षा होती है। वे रत्न असली होते हैं, फिर आजकल दिखाई यों नहीं पड़ते?

समाधान- आपके प्रश्न का उ ार किसी भी ग्रन्थ में मेरे देखने में नहीं आया। अत: जब मैंने यह प्रश्न पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज से किया, तो उन्होंने कहा कि कालपरिवर्तन एवं पंचमकाल के जीवों के पुण्य का अभाव होने के कारण ये रत्न अपने वास्तविक स्वरूप को छोड़ देते हैं, अर्थात् रत्नरूप में नहीं रहते। और इसीलिए भगवान महावीर के समय करोड़ों रत्न 15 माह तक बरसते रहे, फिर भी वर्तमान में उपलŽध नहीं होते हैं।

नव बर, 2009

6. अरिहन्त अवस्था होते ही शरीर के ऊर्ध्वगमन के प्रमाण

जिज्ञासा- मु तार ग्रंथ में केवलज्ञान होते ही 5000 धनुष ऊर्ध्वगमन हो जाता है, ऐसा उल्लेख किया है। परन्तु कोई प्रमाण नहीं दिये हैं। €या आगम में ऐसे प्रमाण मिलते हैं?

समाधान- आगम में ऐसे प्रमाण उपलŽध हैं जिनके अनुसार, तीर्थंकर भगवान् का शरीर केवलज्ञान होते ही 5000 धनुष ऊपर उठ जाता है। समवसरण की रचना, पृथ्वी से इतने ही ऊपर की जाती है। कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं-

1. श्री तिलोयपण्णŽी में इस प्रकार कहा है-

सुर-णर-तिरियारोहण-सोवाणा चउदिसासुपŽोयं।
वीस-सहस्सा गयणे, कणयमया उड्ढ उड्ढ म॥ 728॥
पास म पंचकोसा, चउबीरे अट्ठताल-अवहरिदा।
इगि-हत्थुच्छेहा ते, सोवाणा ए€क-हत्थ-वासा य॥ 730॥

अर्थ- देवों, मनुष्यों और तिर्यंचों के चढ़ने के लिये आकाश में चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में ऊपर-ऊपर स्वर्णमय बीस-बीस हजार सीढ़ियाँ होती हैं।

भगवान् पार्श्वनाथ के समवसरण में सीढ़ियों की ल बाई 5/48 कोस और वीरनाथ के 4/48 कोस प्रमाण थी। वे सीढ़ियाँ 1 हाथ ऊँची और 1 हाथ की विस्तार वाली थीं।

भावार्थ- 20000 सीढ़ियों की ऊँचाई = 20000 हाथ हुई। एक धनुष में चार हाथ होते हैं। अत: समवसरण की ऊँचाई 20000/4 = 5000 धनुष हुई।

2. श्री महापुराण (रचयिता-कवि पुष्पदंत) में इस प्रकार कहा है-

णिय पहणित्रेहय चंद€कउ, समवसरणु गयणंगणि थ€कउ।
पंचसहसधणु उच्छयमाणइ, सेणिय कहियउ जिणवर णाणइ॥ 1/28॥

अर्थ- अपनी प्रभा से सूर्य और चन्द्रमा को निस्तेज करने वाला, समवसरण पाँच हजार धनुष ऊँचाई के मान से आकाश में स्थित था। हे श्रेणिक, यह मैंने जिनवर के ज्ञान से कहा।

3. श्री वीरवर्धमानचरित्र में इस प्रकार कहा है- (रचयिता भट्टारक सकलकीर्ति)

भो विंशति सहस्राङ्कमणिसोपानराजितम्।
मु€त्वा सार्धद्विगव्यूतिं भूमेर्नभसि संस्थितम्॥ 14/70॥

अर्थ- हे भव्यो, वह बीस हजार मणिमयी सीढ़ियों से विराजित (समवसरण) था और ूतल से अढ़ाई कोस ऊपर आकाश में अवस्थित था।

4. श्री मेरुमंदर पुराण (भा0 अनेकांत परिषद्) पृष्ठ 16 पर इस प्रकार कहा है-

''वह समवसरण महान् विभूति वाला, पाँच हजार धनुष ऊँचा, जिसकी बीस हजार सीढ़ी, जिस पर इन्द्रनीलमणिमय गोल ूमि बारह योजन प्रमाण समवसरण की रचना है।''

5. श्री रत्नकरंडक श्रावकाचार की टीका में पं0 सदासुखदास जी ने समवसरण के वर्णन में लिखा है-

''भगवान् अर्हन्त के धर्मोपदेश देने का जो सभा स्थान है, वह समवसरण है। वह भूमि से पाँच हजार धनुष ऊँचा आकाश में बीस हजार सीढ़ियों सहित होता है।''

इस प्रकरण में यह भी ध्यान देने योग्य है कि समोशरण या समवसरण आदि शŹद सही नहीं हैं। सही शŹद तो 'समवसरण' ही है। श्री आदिपुराण 33/73 में कहा है- ''इसमें समस्त सुर और असुर आकर दिव्यध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हुये बैठते हैं, इसलिये जानकार गणधरादि देवों ने इसका 'समवसरण' ऐसा सार्थक नाम कहा है।''

मार्च, 2008

7. दिव्यध्वनि दिन में कितनी बार खिरती है

जिज्ञासा- तीर्थंकर की दिव्यध्वनि दिन में कितनी बार खिरती है ?

समाधान- इस स बन्ध में आचार्यों के विभिन्न मत हैं। जैसे- 1. तिलोयपण्णŹा में इस प्रकार कहा है-

पगदीए अ€खलिदो संझŹिादयं म णवमुहुŹाणि।
णिस्सरदि णिरूवमाणो दिव्वझुणी जाव जोयणयं॥ 903॥
अवसेस काल समए गणहर देविंदच€कवट्टीणं।
पण्हाणु रूवमत्थं दिव्वझुणी सŹा भंगीहिं॥ 904॥

अर्थ- भगवान् जिनेन्द्र की स्वभावत: अस्खलित और अनुपम दिव्यध्वनि तीनों संध्याकाल में 9 मुहूर्त तक निकलती है। (अर्थात् 9 मुहूर्त=18 घड़ी=6-6 घड़ी तीन बार) और एक योजन पर्यंत जाती है। इससे

अतिरिक्त गणधर देव इन्द्र अथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपणार्थ वह दिव्यध्वनि शेष समयों में भी निकलती है।

2. श्री अनगारधर्मामृत पृष्ठ 9 पर इस प्रकार कहा है-

पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे मज्झिमाए रॅीए।
छच्छघडियाणिग्गय दिव्वझुणी कहइ सुॅात्थे॥

अर्थ- यह दिव्यध्वनि प्रातः, मध्यान्ह, सायं और रात्रि के मध्य में छह-छह घड़ी तक अर्थात् एक बार में दो घण्टा 24 मिनट तक खिरती है, ऐसा आगम में कथन है।

3. श्रीशु ाचन्द्र रचित 'अंगप्रज्ञप्ति' में इस प्रकार कहा है-

तित्थयरस्स तिसंञ्झे णाहस्स, सुभज्झिमाय रॅीए।
बारह सहासु मज्झे छग्घडिया, दिॅैंब झुणि कालो॥ 41॥
होदि गणि चि€कमहवथ ण्हादो, अण्णदाबि दिॅैंबं झुणि।

अर्थ- तीर्थंकर नाथ का बारह सभाओं में दिव्यध्वनि काल **तीनों संध्या और अर्द्धरात्रि में छह-छह घड़ी** का है। तथा गणधर, चक्रवर्ती, इन्द्र के प्रश्न से अन्य समय में भी दिव्यध्वनि हो जाती है।

4. गो मटसार जीवकाण्ड की गाथा नं. 356-361 की टीका में भी उपर्युक्त प्रकार से ही, दिन में **छह-छह घड़ी चार बार** होने का उल्लेख किया गया है।

5. श्री जयधवला पु.1 पृष्ठ 126 पर इस प्रकार कहा है-

''वह दिव्यध्वनि सर्वभाषामयी है, अक्षर-अनक्षरात्मक है, जिसमें अनन्त पदार्थ समाविष्ट हैं (अनन्त पदार्थों का वर्णन है), जिसका शरीर बीज पदों से गढ़ा गया है, जो प्रातः मध्याह्न और सायंकाल इन तीन संध्याओं में छह-छह घड़ी तक निरन्तर खिरती रहती है। और उक्त समय को छोड़कर इतर समय में गणधर देव के संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय को प्राप्त होने पर, उनके संशय आदि को दूर करने का जिसका स्वभाव है, संकर और व्यतिकर दोषों से रहित होने के कारण जिसका स्वरूप विशद है और अध्ययनों के द्वारा धर्मकथाओं का प्रतिपादन करना जिसका स्वभाव है, इस प्रकार स्वभाववाली दिव्यध्वनि समझनी चाहिए।''

उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार विभिन्न आचार्य दिव्यध्वनि का काल छह-छह घड़ी चार बार तथा छह-छह घड़ी तीन बार, इस प्रकार निरूपण करते हैं।

अ टूबर, 2008

8. तीर्थङ्करों की दिव्यध्वनि खिरते रहने का जघन्य काल

जिज्ञासा— या तीर्थंकर केवलज्ञान होते ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, या उनके कुछ समय तक दिव्यध्वनि होना नियामक होता है ?

समाधान- तीर्थंकर चाहे विदेहक्षेत्र के हों या भरत-ऐरावत क्षेत्र के, उनको केवलज्ञान होने के उपरान्त पृथ€त्व वर्ष तक विहार करना ही होता है। इस काल में उनकी दिव्यध्वनि निरन्तर होती रहती है। इससे संबंधित आगम प्रमाण इस प्रकार हैं-

क. श्री धवला पु. स्त्र, पृष्ठ भ्स्त्र के अनुसार तीर्थंकरप्रकृति के उदयवाले सयोगकेवली का विहारकाल

सबसे जघन्य भी वर्ष पृथ€त्व से कम नहीं पाया जाता। इस उदयस्थान का उत्कृष्ट काल गर्भ से आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि है।

ख. श्री धवला पु.क्ख, पृष्ठ ब-बके अनुसार तीर्थ विहार का काल जघन्य से वर्ष पृथ€त्व मात्र पाया जाता है।

फ. श्री धवला पु. क्भ, पृष्ठ म्त्र के अनुसार तीर्थंकर नामकर्म का उदीरणा काल जघन्य से वर्ष पृथ€त्व और उत्कृष्ट से कुछ कम पूर्वकोटि प्रमाण है।

ब. षट्खण्डागम परिशीलन पृष्ठ भ्ब के अनुसार यहाँ वर्ष पृथ€त्व को कम इसलिए किया गया है कि तीर्थंकर का विहार जघन्य रूप में वर्ष पृथ€त्व काल तक पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त पंचसंग्रह पृष्ठ फ्त्रफ-फ्त्रब तथा संस्कृत पंचसंग्रह क्त्र- पर भी इसी प्रकार का कथन पाया जाता है।

इस प्रश्न का उžार पूज्य आचार्यश्री ने तžवार्थसूत्र पढ़ाते समय दिया था, जो मुझे याद था। परन्तु इसके प्रमाण मेरे पास नहीं थे। अत: मैंने उपर्युक्त सभी प्रमाण पं. जवाहरलाल जी शास्त्री, भिण्डर वालों से पूछकर लिखे हैं। वर्तमान में पं. जवाहरलाल जी शास्त्री पिछले त्त-क वर्षों से बिस्तर पर हैं। उनके शरीर की सारी नसों में पूर्ण रूप से शक्ति हीनता हो गई है। परन्तु उनके क्षयोपशम की विशिष्टता का यह उदाहरण है कि उनको अभी तक सारे शास्त्रीय सन्दर्भ ज्यों के त्यों स्मृति में हैं। वे केवल उँगली के इशारे से बताते हैं, बोलने या लिखने की सामर्थ्य नहीं है। मैं समय-समय पर उनसे अपनी जिज्ञासाओं का समाधान लेता रहता हूँ। जिनवाणी के ऐसे महान् सपूत को शीघ्र आरोग्य लाभ हो।

दिस बर, 2007

9. तीर्थङ्कर की वाणी झेलनेवाले मु य गणधर या अन्य गणधर भी

जिज्ञासा : €या तीर्थंकर भगवान् की वाणी मु य गणधर ही झेलते हैं ? तो फिर अन्य गणधरों का €या कार्य है ?

समाधान : सभी गणधर ऋद्धियों की अपेक्षा समान होते हैं। ये सभी स पूर्ण श्रुत के ज्ञाता अर्थात् श्रुतकेवली और 63 ऋद्धियों से स पन्न कहे गये हैं। तीर्थंकर प्रभु तो दिव्यध्वनि के कारण अर्थकžार्ा कहे गये हैं और ये सभी गणधर द्वादशांगरूप ग्रन्थ के कžार्ा कहे गये हैं। ऐसा नहीं है कि केवल मु य गणधर ही तीर्थंकर भगवान् की वाणी को झेलते हों। ये सभी गणधर समान रूप से तीर्थंकर भगवान् की वाणी को अपनी ऋद्धियों के द्वारा ग्रहण करते हैं और विस्तरित भी करते हैं। श्री उžारपुराण पर्व 60 श्लोक नं. 37 में भगवान् अनंतनाथ के जीवनचरित्र में इस प्रकार कहा है-

''जया यमु यपंचाशद्गणभृद्बृंहितात्मवाक्''

अर्थ- भगवान अनन्तनाथ के सभी जय आदि पचास गणधरों के द्वारा उनकी दिव्यध्वनि का विस्तार होता था।

अप्रैल, मई, जून, 2006

10. वापिका / भामण्डल में सात ाव दिखाई देना

जिज्ञासा- समवसरण की वापिकाओं एवं भामण्डल में स ाी जीवों को अपने-अपने सात-सात भव कैसे दिखाई पड़ जाते हैं ? चमत्कार कुछ समझ नहीं आता ?

समाधान- समवसरण में जीवों को, वहाँ स्थित वापिकाओं तथा भगवान् के भामण्डल में सात-सात भव दिखाई पड़ते हैं। श्री तिलोयपण्णŠिा गाथा 816 में इस प्रकार कहा है-

उववण-वावि-जलेहिं, सिŠिा पेच्छंति ए€क-भव जाइं।
तस्स णिरि€खण-मेŠो, सŠिा-भवातीद-भावि जादीओ॥ 4/816॥

अर्थ- उपवन की वापिकाओं के जल से अभिषि त जन-समूह एक भवजाति (जन्म) को देखते हैं, तथा उनके (वापी के जल में) निरीक्षण करने पर अतीत एवं अनागत स बन्धी सात भव-जातियों को देखते हैं।

श्री तिलोयपण्णŠिा गाथा 935 में इस प्रकार कहा है-

भव-सग-दंसण-हेदुं, दरिसण-मेŠोण सयल-लोयस्स।
भामंडलं जिणाणं, रवि-कोडि-समुज्जले जयइ॥ 4/935॥

अर्थ- जो दर्शन-मात्र से ही सब लोगों को अपने-अपने सात भव देखने में निमिŠिा है और करोड़ों सूर्यों के सदृश उज्ज्वल है, तीर्थंकरों का ऐसा वह प्रभामण्डल जयवन्त होता है।

समवसरण की वापिकाओं में तथा भामण्डल में अलग-अलग जीवों को, अपने-अपने सात-सात भव दिखने के अतिशय (चमत्कार) का अभिप्राय 'पं0 रतनचन्द्र जैन मु तार : व्यक्तित्व और कृतित्व' पृष्ठ 1214 पर इस प्रकार स्पष्ट किया गया है- ''वापिका जल व भामण्डल में सात भव लिखे नहीं रहते, किन्तु तीर्थंकर भगवान् की निकटता के कारण वापिका जल व भामण्डल में इतना अतिशय हो जाता है कि उनके अवलोकन से अपने सात भवों के ज्ञान का क्षयोपशम हो जाता है।'' स्थूल रूप से सात भवों के ज्ञान का क्षयोपशम हो जाने पर भी, जिसका उस क्षयोपशम की तरफ उपयोग नहीं जाता या जो सूक्ष्म रूप से जानना चाहता है वह प्रश्न कर लेता है और दिव्यध्वनि के सुनने से उसका स्वयमेव समाधान हो जाता है। भगवान् के मोहनीय कर्म का अभाव हो जाने से वे इच्छापूर्वक किसी के प्रश्न का उ ार नहीं देते।

आशा है आपको उचित समाधान प्राप्त हो गया होगा।

मई, 2009

11. चक्ररत्न कुटु बियों का घात नहीं करता

जिज्ञासा- चक्रवर्ती का चक्ररत्न चरमशरीरियों का घात नहीं करता है या पारिवारिक जनों का भी ?

समाधान- उपर्युक्त विषय पर आदिपुराण भाग 2 / पर्व 36 / श्लोक 66 में इस प्रकार कहा है-

आध्यानमात्रमेत्यारादद: कृत्वा प्रदक्षिणाम्।
अवध्यस्यास्य पर्यन्तं तस्थौ मन्दीकृतातपम्।।

अर्थ- स्मरण करते ही वह चक्ररत्न भरत के समीप आया, भरत ने बाहुबली पर चलाया, परन्तु उनके अबध्य होने से वह उनकी प्रदक्षिणा देकर तेजरहित हो, उन्हीं के पास जा ठहरा।

भावार्थ- देवोपुनीत शस्त्र कुटु ब के लोगों पर सफल नहीं होते। बाहुबली, भरतेश्वर के पैतृक भाई थे, इसलिये भरत का चक्र बाहुबली पर सफल नहीं हो सका। उसका तेज फीका पड़ गया और वह प्रदक्षिणा देकर बाहुबली के समीप ही ठहर गया।

उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट है कि चक्ररत्न पारिवारिक जनों का घात नहीं करता।

सित बर, 2010

12. भरत चक्रवर्ती ने कैलास पर्वत पर कितने जिनालय बनवाये

जिज्ञासा- भरत चक्रवर्ती ने कैलास पर्वत पर 24 जिनालय बनवाये थे या 72 बनवाये थे ?

समाधान- इस संबंध में नि न प्रमाण द्रष्टव्य हैं- 1. उǍारपुराण सर्ग-48 में इस प्रकार कहा है-

राज्ञाप्याज्ञापिता यूयं कैलासे भरतेशिना।
गृहाः कृता महारत्नैश्चतुर्विंशतिरर्हताम्॥ 107॥
तेषां गङ्गां प्रकुर्वीध्वं परिखां परितो गिरिम्।
इति तेऽपि तथा कुर्वन् दण्डरत्नेन सत्वरम्॥ 108॥

अर्थ— तब राजा ने आज्ञा दी कि भरत चक्रवर्ती ने कैलास पर्वत पर महारत्नों से अरहन्त देव के चौबीस मंदिर बनवाये हैं, सो तुम लोग उस पर्वत के चारों ओर गंगा नदी को उन मंदिरों की परिखा बना दो। उन राजपुत्रों ने भी पिता की आज्ञानुसार दण्डरत्न से वह काम शीघ्र ही कर दिया।

2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा पृष्ठ 247 पर परिग्रहपरिमाण व्रत में प्रसिद्ध जयकुमार की कथा में इस प्रकार कहा है- ''एक बार जयकुमार और सुलोचना कैलास पर्वत पर भरत चक्रवर्ती के द्वारा स्थापित 24 जिनालयों की वन्दना करने के लिए गये।''

3. रत्नकरण्डश्रावकाचार के श्लोक नं. 64 की टीका करते हुए पं0 सदासुखदास जी ने कैलास पर्वत पर 24 जिनालयों का उल्लेख किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार भरत चक्रवर्ती ने कैलास पर्वत पर 24 जिनालय बनवाये थे। 72 जिनालय बनवाने के नि न प्रमाण भी उपलǍध होते हैं।

1. भरतेश वैभव भाग-3, पृष्ठ-102 पर इस प्रकार कहा है- 'कैलास पर्वत पर सम्राट की आज्ञानुसार 72 जिनमन्दिरों का निर्माण हुआ।'

2. ब्र0 लामचीदास द्वारा लिखित 'कैलासयात्रा का वर्णन' की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है, जिसके अनुसार लगभग 250 वर्ष पूर्व, वे एक व्यंतर देव के द्वारा कैलास पर्वत पर ले जाये गये थे और उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से भरत चक्रवर्ती द्वारा बनवाये गये स्वर्ण और रत्नमयी 72 जिनालयों का साक्षात् दर्शन किया था।

3. पं0 भूधरदास जी ने 'चर्चा समाधान' पृष्ठ-108 पर लिखा है कि भरत जी ने कैलास पर्वत पर एक चैत्यालय कराया है, जिसके स बन्ध में **'तीणी चउवीसीय भरहणिमाविवयं'** यह पाठ मिलता है, जिसका अर्थ यह है कि महाराजा भरत के जिनालय में तीन चौबीसी के 72 जिनबि ब कहे हैं।

पाठकों को उपर्युक्त संदर्भों पर विचार करना उचित है।

अ टूबर, 2008

13. श्री रामचन्द्र जी की जन्मतिथि

जिज्ञासा- रामचन्द्र जी का जन्म चैत्र शु€ल नवमी को हुआा या फाल्गुन कृष्णा एकादशी को हुआ था?

समाधान- जैन प्रथमानुयोग के अनुसार रामचन्द्र जी का जन्म इन दोनों तिथियों को नहीं हुआ था। वैदिक या अन्य संस्कृति में हुआ हो, वह अन्य बात है। जैन प्रथमानुयोग के ग्रंथों के अनुसार रामचन्द्र जी का जन्म फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी को हुआ था। प्रमाण इस प्रकार हैं-

1. उŠारपुराण पर्व 67 में इस प्रकार कहा है-

कृष्णपक्षे त्रयोदश्यां फाल्गुने मास्यजायत।
मघायां हलभृद्भावी चूलान्तकनकामरः॥ 149॥
त्रयोदशसहस्राŠिदो रामनामानताखिलः।
तत एव महीभŠृिः कैकेय्यामभवत्पुरः॥ 150॥

अर्थ- फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी के दिन मघा नक्षत्र में सुवर्णचूल नामक देव जो कि मंत्री के पुत्र का जीव था, होनहार बलभद्र हुआ। उसकी तेरह हजार वर्ष की आयु थी, राम नाम था और उसने सब लोगों को नम्रीभूत कर रखा था।

2. श्री महापुराण (रचयिता-कवि पुष्पदंत) की 69 वीं संधि में पृष्ठ 22 पर इस प्रकार कहा है-

मघरि€खयंदि णीरयदिसिहि, फग्गुणि तमकालिहि तेरसि हि।
देविइ णवमासहिं सुउजणिउ, तणु रामुरामु राएं भणिउ॥ 12॥

अर्थ- जब चन्द्रमा मघा नक्षत्र में स्थित था, दिशा निर्मल थी ऐसी फाल्गुन वदी तेरस को नौ माह पूरे होने पर देवी ने पुत्र को जन्म दिया। शरीर से सुन्दर होने के कारण राजा ने उसका नाम राम रखा।

अप्रैल, 2008

14. शलाका पुरुषों के शरीर के वर्ण

जिज्ञासा- 63 शलाका पुरुषों के शरीर का वर्ण बतायें?

समाधान- 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण, 9 बलदेव, ये सब मिलाकर 63 शलाका पुरुष अर्थात् प्रसिद्ध पुरुष कहलाते हैं। इस अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में जो 63 शलाकापुरुष हुये हैं, उनके शरीर का वर्ण इस प्रकार आगम में पाया जाता है-

24 तीर्थंकर- सामान्य से भगवान् चन्द्रप्रभ एवं भगवान् पुष्पदंत का श्वेत, भ. पार्श्वनाथ एवं सुपार्श्वनाथ का हरा, भ. नेमिनाथ एवं भ. मुनिसुव्रतनाथ का नीला, भ. पद्मप्रभ एवं भ. वासुपूज्य का लाल वर्ण था। शेष 16 तीर्थंकरों का शरीर तपाये हुए स्वर्णवत् था। इन वर्णों में सफेद एवं लाल वर्णवाले तीर्थंकरों के संबंध में सभी आचार्य एकमत हैं। परन्तु भ. सुपार्श्वनाथ एवं भ. पार्श्वनाथ का वर्ण, हरिवंशपुराण एवं कल्याणमंदिर-स्तोत्र में कृष्ण तथा त्रिलोकसार एवं पार्श्वपुराण में नीलवर्ण कहा है। भ. नेमिनाथ एवं भ. मुनिसुव्रत का वर्ण, वरांगचरित्र, अनगार-धर्मामृत, गौतमचरित्र, चर्चाशतक, त्रिलोकसार तथा पार्श्वपुराण में काला कहा गया है। तपे हुये स्वर्ण वर्णवाले तीर्थंकरों के संबंध में स ाी आचार्य एकमत हैं।

12 चक्रवर्ती- सभी चक्रवर्तियों का वर्ण स्वर्णवत् कहा गया है।

9 बलदेव- बलदेवों के शरीर का वर्ण जंबूदीवपण्णट्ठि, हरिवंशपुराण एवं उट्ठारपुराण में श्वेत कहा है, जब कि तिलोयपण्णट्ठि में स्वर्णवत् कहा गया है।

9 नारायण- इनके शरीर का वर्ण जंबूदीवपण्णट्ठि में नीला, हरिवंशपुराण में काला, उट्ठारपुराण में नीला और काला तथा तिलोयपण्णट्ठि में स्वर्णवत् कहा है। इसमें कई मत हैं।

9 प्रतिनारायण- इनके शरीर का वर्ण जंबूदीवपण्णट्ठि के अनुसार नीला तथा तिलोयपण्णट्ठि के अनुसार स्वर्णवत् कहा गया है।

मई, 2008

15. रुद्र हुण्डावसर्पिणी काल में या उत्सर्पिणी में ी

जिज्ञासा- €या रुद्र हुण्डावसर्पिणी काल में ही होते हैं, उत्सर्पिणी काल में नहीं होते ?

समाधान- इस संबंध में आचार्यों के दो मत पाये जाते हैं -

1. प्रथम मत तिलोयपण्णट्ठिाकार का है, जिनके अनुसार रुद्रों की उत्पट्ठि होना हुण्डावसर्पिणी काल का दोष है। कहा भी है -

ए€करस होंति रुद्दा, कलहपिया णारदाय णवसंखा।
सट्ठाम तेवीसंतिम तित्थयराणं च उवसग्गो॥ 1642॥

अर्थ- हुण्डावसर्पिणी काल में ही ग्यारह रुद्र और कलहप्रिय नारद होते हैं तथा सातवें, तेईसवें और अन्तिम तीर्थंकरों पर उपसर्ग भी होता है अर्थात् हुण्डावसर्पिणी के अलावा अन्य कालों में रुद्र नहीं पाये जाते हैं।

2. अन्य मत के अनुसार हुण्डावसर्पिणी के अलावा अन्य उत्सर्पिणी आदि कालों में भी रुद्र की उत्पट्ठि होती है।

(अ) श्री हरिवंशपुराणकार आचार्य जिनसेन ने तो अगली उत्सर्पिणी में होने वाले ग्यारह रुद्रों के नाम तक ी दे दिये हैं। कहा भी है -

प्रमदः संमदो हर्षः प्रकामः कामदो भवः।
हरो मनोभवो मारः कामो रुद्रस्तथाङ्गजः॥ 571॥
भव्याः कतिपयैरेव तेऽपि सेत्स्यन्ति जन्मभिः।
रत्नत्रयपवित्राङ्गाः सन्तः सन्तो नरोट्ठामाः॥ 572॥

अर्थ- प्रमद, स मद, हर्ष, प्रकाम, कामद, भव, हर, मनोभव, मार, काम और अंगज ये ग्यारह रुद्र होंगे। ये सब भव्य होंगे तथा कुछ ही भवों में मोक्ष प्राप्त करेंगे। इनके शरीर भी रत्नत्रय से पवित्र होंगे तथा उट्ठाम महापुरुष होंगे।

(आ) ज बूदीवपण्णट्ठिसंगहो ग्रन्थ के अनुसार सभी चतुर्थकालों में रुद्रों की उत्पट्ठि होती है। जैसा कहा है-

रुद्दा य कामदेवा गणहरदेवा य चरमदेहधरा।
दुस्समसुसमे काले उप्पट्ठी ताण बोद्धव्वा॥ 185॥

अर्थ- रुद्र, कामदेव, गणधरदेव, और जो चरमशरीरी मनुष्य हैं, उनकी उत्पfिा दुषमा-सुषमा काल में जाननी चाहिए।

(इ) जैन तfवविद्या में पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागर जी ने पृ. 54 पर ग्यारह रुद्रों का वर्णन करते हुए लिखा है कि ''प्रत्येक काल चक्र में ग्यारह रुद्र उत्पन्न होते हैं। ये सभी अधर्मपूर्ण व्यापार में संलग्न होकर रौद्र कर्म किया करते हैं, इसलिए रुद्र कहलाते हैं। ..... संयम और स य€त्व से पतित हो जाने के कारण स ाी रुद्र नरकगामी होते हैं।''

(ई) पंडित बिहारी लाल जी ने 'बृहत् जैन शfदार्णव' भाग-1 पृ. 117 पर लिखा है-''आगामी उत्सर्पिणी काल के तृतीय भाग दुखमा सुखमा नामक काल में होने वाले ग्यारह रुद्रों में से अन्तिम रुद्र का नाम अंगज है।''

इस प्रकार इस प्रश्न के समाधान में दोनों मत ज्ञातव्य हैं।

सित बर, 2006

16. श्रीदfा मुनिराज का चरित्र

जिज्ञासा- कृपया श्रीदfा मुनि का जीवनचरित्र बताएँ।

समाधान- राजा जितशत्रु के श्रीदfा नामक पुत्र का विवाह राजकुमारी अंशमति से हुआ था। अंशमति ने एक तोता पाल रखा था। चौपड़ आदि खेलते हुए जब राजा विजयी होता था, तब तो वह तोता एक रेखा खींचता था और जब रानी विजयी होती थी, तब वह तोता चालाकी से दो रेखायें खींच देता था। उसकी यह शरारत राजपुत्र ने दो-चार बार तो सहन कर ली, परन्तु एक दिन उसे गुस्सा आ गया और उसने तोते की गर्दन मरोड़ दी। तोता मरकर व्यंतर देव हुआ। एक बार राजपुत्र श्रीदfा, आकाश में बादलों को छिन्न-भिन्न होते हुए देखकर विरक्त हो गये और जिनदीक्षा धारण कर ली। अनेक प्रकार के कठोर तपश्चरण एवं विहार करते हुए एक बार वे ध्यान में स्थित थे। अत्यंत ठंड का मौसम था। उसी समय पूर्वभव के तोते से व्यंतर बने हुए देव ने उनको देखा। पूर्व वैर के कारण उसने उनके ऊपर पानी बरसाया, ओले गिराये और खूब ठंडी हवा चलाई। उन श्रीदfा मुनिराज ने उस महान् उपसर्ग को समता परिणाम से सहन किया और समाधिमरण पूर्वक ध्यान में निश्चल होते हुए केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पधारे।

अ टूबर, 2006

17. मं खलि गोशालक का जीवन वृ ाान्त

जिज्ञासा- मं खलि गोशालक का जीवन वृ ाान्त बताइयेगा?

समाधान- भगवान् वर्धमान के समय में 6 अन्य प्रभावशाली धर्मनायक और भी थे जिन्होंने अपने-अपने नवीन पंथों की स्थापना की थी अथवा जो प्राचीन मतों के नेता बन गये थे। उनके नाम इस प्रकार थे, पूरनकश्यप, मं€खलिगोशालक, अजितकेशक बल, प्रबुद्धकल्यायन, संजयवेलट्ठिपुfा, तथा गौतमबुद्ध। ये सभी अपने को तीर्थङ्कर कहते थे। इनका विशेष विवरण तो नहीं मिलता परंतु यहाँ मं€खलिगोशालक का जीवनवृ ाान्त 'भावसंग्रह' के आधार से लिखा जाता है।

मं€खलिगोशालक भगवान् पार्श्वनाथ पर परा के मुनि थे। जब भगवान् वर्धमान का प्रथम समवसरण लगा तब गोशालक उसमें उपस्थित थे। वे अष्टाङ्गनिमिŽों तथा 11 अङ्गों के धारी थे। उनकी इच्छा गणधर बनने की थी, परंतु जब भगवान् की दिव्यध्वनि उनकी उपस्थिति होने पर भी नहीं हुई तब वे रुष्ट होकर वहाँ से चले गये। वे पृथक् होकर श्रावस्ती पहुँचे और वहाँ आजीवक संप्रदाय के नेता बन गये। वे अपने आपको तीर्थङ्कर कहने लगे और विपरीत उपदेश देने लगे। उनका मत था कि ज्ञान से मुक्ति नहीं होती, अज्ञान से मुक्ति होती है। देव या भगवान् कोई नहीं है अत: शून्य का ध्यान करना चाहिये।

श्वेता बरशास्त्रों में इनका चरित्र अन्यप्रकार से मिलता है। उनके अनुसार ये वही गोशालक हैं, जिन्होंने भगवान् महावीर पर तेजो लेश्या छोड़ी थी, जो वापस लौटकर उन्हीं के शरीर में प्रविष्ट हो गयी, जिसके कारण कुछ ही दिनों में उनकी मृत्यु हो गयी थी।

अ टूबर, 2007

18. बाहुबली स्वामी की मोक्षस्थली

जिज्ञासा- बाहुबली भगवान् पोदनपुर से मोक्ष पधारे थे या कैलास पर्वत से ? कृपया आगम प्रमाण दें।

समाधान- आपके प्रश्न के समाधान में, प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में स्पष्ट कथन प्राप्त नहीं होता है। जो वर्णन मिलता है, वह इस प्रकार है- 1. आदिपुराण पर्व 36, श्लोक नं. 203 में इस प्रकार कहा है- 'इस प्रकार समस्त पदार्थों को जानने वाले बाहुबली, अपने वचन रूपी अमृत के द्वारा समस्त संसार को संतुष्ट करते हुए, भगवान् वृषभदेव के सामीप्य से पवित्र हुए कैलास पर्वत पर जा पहुँचे।'

समीक्षा-विहार के उपरान्त कैलास पर्वत पर पहुँचने से यह ध्वनित होता है कि वे योगनिरोध के लिए कैलास पर्वत पर पहुँचे थे और वहीं से उनका निर्वाण हुआ था।

2. श्री पद्मपुराण पर्व 4, श्लोक नं. 77 में उनके मोक्ष प्राप्त करने का तो वर्णन है परन्तु स्थान नहीं दिया गया है।

3. श्री महापुराण (महाकवि पुष्पदन्त रचित) भाग-1, पृष्ठ 411 पर इस प्रकार कथन है- ''भगवान् बाहुबली, केवलज्ञान होने के उपरान्त भव्य रूपी कमलों को संबोधित करते हुए तथा चरणकमलों में इन्द्र को झुकाते हुए, भूमि पर विहार करते हुए कैलास पर्वत पर गए।''

समीक्षा- यहाँ भी यही प्रतीत हो रहा है कि भगवान् बाहुबली, योगनिरोध के लिए सबसे अन्त में कैलास पर्वत पर पहुँचे। परन्तु इस ग्रन्थ में भी निर्वाण स्थली का स्पष्ट वर्णन नहीं किया गया है।

इस प्रकार यद्यपि भगवान् बाहुबली की निर्वाण स्थली का स्पष्ट वर्णन मुझे प्राप्त नहीं हुआ है, फिर भी उपर्युक्त प्रसंगों से कैलास पर्वत को ही निर्वाण स्थली मानना उपयुक्त सा लगता है। मेरे पास कई बाहुबली विशेषांक भी हैं, उनमें भी डॉ. राजाराम आदि ने कैलास पर्वत को ही निर्वाण स्थली माना है। 'जैन पुराण कोश' संपादक प्रो. प्रवीणचन्द्र जैन तथा डॉ. दरबारी लाल कोठिया ने भी कैलास पर्वत को ही भगवान् बाहुबली का निर्वाण क्षेत्र माना है। पोदनपुर से संबंधित मुझे कोई प्रसंग नहीं मिला। पाठकों से नम्र निवेदन है कि यदि उनकी जानकारी में उपर्युक्त प्रकरणों के अलावा कोई अन्य प्रकरण हो तो अवश्य ही सूचित करने का कष्ट करें।

अप्रैल-मई, 2010

19. छप्पन कुमारियों के निवास स्थान

जिज्ञासा- छप्पन कुमारी देवियाँ कौन होती हैं और वे कहाँ निवास करती हैं ?

समाधान- छप्पन कुमारियों के संबंध में प्रतिष्ठा रत्नाकर की प्रस्तावना पृष्ठ 29 में इस प्रकार कहा है-

भवनवासी देवियाँ-20, व्यंतर-16, ज्योतिष्क-2, कल्पवासी-12, तथा कुलाचल की देवियाँ-6 = 56 देवियाँ होती हैं। 'पं0 गुलाबचन्द्र जी पुष्प अभिनन्दन ग्रन्थ' पृष्ठ 2 / 207 पर यह उल्लेख मिलता है।

पं0 भूधरदास जी के 'चर्चासमाधान' नं0 68 के समाधान में 56 दि€कुमारियों की नामावली नि न प्रकार बताई है-

कल्पवासी की इन्द्राणी-12, भवनवासिनी की इंद्राणी-20, व्यन्तरों की इन्द्राणी-16, चन्द्रमा की-1, सूर्य की-1, तथा कुलाचल-वासिनी श्री आदि-6 = 56 दि कुमारियाँ होती हैं।

उपर्युक्त दोनों समाधानों में कोई तथ्य प्रतीत नहीं होता और कोई आगमप्रमाण भी नहीं दिया गया है, अत: इनको कैसे माना जाये ?

दि€कुमारियाँ, जो तीर्थंकर की माता की सेवा करने के लिए आती हैं, उनके स बन्ध में त्रिलोकसार गाथा-948 से 959 तक जो वर्णन किया गया है उसके अनुसार रुचिक पर्वत की पूर्व दिशा में विजया आदि 8 देवकुमारियाँ निवास करती हैं, जो शृंगार धारण कर माता की सेवा करती हैं। इसी पर्वत की दक्षिण दिशा में इच्छा आदि 8 दि€कुमारियाँ निवास करती हैं, जो दर्पण लेकर, पश्चिम दिशा में ईला देवी आदि 8 दि€कुमारियाँ निवास करती हैं, जो तीन छत्र धारण करती हैं। तथा उžर दिशा में अल भूषा आदि 8 दि€कुमारियाँ निवास करती हैं, जो चमर धारण कर महाप्रमोद से युक्त होती हुई तीर्थंकर की माता की सेवा करती हैं। इस प्रकार 32 दि कुमारियों का कथन हुआ।

उपर्युक्त के अलावा रुचकगिरि के अ यन्तर कूटों में से चारों दिशा में कनका आदि चार देवियाँ रहती हैं, जो तीर्थंकर के जन्म काल में सर्व दिशाओं को निर्मल करती हैं तथा इन कूटों के आ यंतर की ओर चारों दिशाओं में रुचिका आदि चार देवियाँ रहती हैं, जो तीर्थंकर के जन्मसमय में जातकर्म करने में कुशल होती हैं।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग 2 / 428 के अनुसार नन्दनवन में सुमेधा आदि 8 दि कुमारी देवियाँ निवास करती हैं, जो गर्भ के समय भगवान् की माता की सेवा करती हैं। यहाँ तक 32+8+8=48 दि कुमारियों का वर्णन हुआ। इनमें श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी तथा तुष्टि और पुष्टि ये 8 दि€कुमारियों के नाम और मिलाने से समस्त दि€कुमारियाँ 56 होती हैं। शायद इस प्रकार 56 दि€कुमारियों की धारणा बनाई गई हो। किसी भी शास्त्र में 56 दि€कुमारियों की सं या का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता। प्रतिष्ठाचार्यों से नम्र निवेदन है कि वे इस संबंध में और प्रकाश डालने का आगमप्रमाणसहित प्रयास करें।

उपर्युक्त देवियों को दि कुमारी यों कहा जाता है, इस संबंध में भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। कुछ महानुभावों की धारणा ऐसी है कि इनका कोई भी देव स्वामी नहीं होता है, इसलिए ये दि€कुमारी कहलाती हैं। तथा कुछ महानुभाव ऐसा भी कहते हैं कि स्वर्गों में कोई भी देवी अपने स्वामी देव के बिना नहीं होती। स ी देवियों का कोई न कोई देव स्वामी अवश्य होता है। इस संबंध में ज बूदीवपण्णžिसंगहो की नि न गाथाएँ ध्यान देने योग्य हैं-

णिच्चं कुमारियाओ अहिणवलावण्णरूवजुǍाओ।
आहरणभूसियाओ मिदुकोमलमहुरवयणाओ॥ 136॥
तेसु भवणेसु णेया देवीओ होंति चारुरूवाओ।
ध मेणुप्पण्णाओ विसुद्धसीलस्स भावाओ॥ 137॥

अर्थ- उन भवनों में सदा कुमारी रहनेवाली ये देवियाँ अभिनव लावण्यरूप से संयुक्त, आभरणों से भूषित, मृदु, कोमल एवं मधुर वचनों को बोलनेवाली, सुन्दर रूप से सहित और विशुद्ध शील व स्वभाव से स पन्न होती हैं।

उपर्युक्त कथन यद्यपि रुचकगिरि आदि पर निवास करनेवाली और गर्भ एवं जन्म के समय तीर्थंकर की माता की सेवा करनेवाली दि कुमारियों के संबंध में नहीं कहा गया है, तथापि इस कथन से यह तो स्पष्ट होता ही है कि कुछ देवियाँ आजीवन कुमारी अर्थात् पति- रहित रहनेवाली भी होती हैं। अतः कदाचित् यह भी स भव है कि माता की सेवा करनेवाली दि€कुमारियाँ भी स्वामीरहित होती हों और इसीकारण दि€कुमारी या दि€कन्यायें कहलाती हों। विद्वद्गण कृपया अवश्य विचार करें।

अगस्त, 2009

20. श्री, ह्री, आदि देवियाँ किस निकाय की हैं

जिज्ञासा- श्री, ह्री आदि देवियाँ व्यंतर जाति की हैं या अन्य जाति की?

समाधान- श्री, ह्री आदि देवियाँ व्यंतर जाति की देवियाँ हैं। आगम प्रमाण इस प्रकार हैं-

1. तिलोयपण्णǍि अधिकार-4 में कहा है-

तद्दह-पउमस्सोवरि, पासादे चेट्ठदे य धिदिदेवी।
बहु-परिवारेहि ` जुदा, णिरुवम-लावण्ण-संपुण्णा॥ 1785॥
इगि-पल्ल-पमाणाऊ, णाणाविह-रयण-भूसिय-सरीरा।
अइर मा वेंतरिया, सोहर्ि मंदस्स सा देवी॥ 1786॥

अर्थ- उस द्रह संबंधी कमल के ऊपर स्थित भवन में बहुत परिवार से संयुक्त और अनुपम लावण्ययुक्त धृतिदेवी निवास करती है॥

एक पल्य आयु की धारक और नाना प्रकार के रत्नों से विभूषित शरीरवाली अति रमणीय यह व्यन्तरिणी सौधर्मेन्द्र की देवकुमारी (आज्ञाकारिणी) है॥

2. श्री उǍारपुराण पृष्ठ 188 पर इस प्रकार कहा है-

तेषामाद्येषु षट्सु स्युस्ताः श्री-ह्री-धृति-कीर्तयः।
बुद्धिर्लक्ष्मीश्च शक्रस्य व्यन्तर्यो वल्लभाङ्गनाः॥ 200॥

अर्थ- इनमें से आदि के छह तालाबों में क्रम से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये इन्द्र की वल्लभा व्यंतरदेवियाँ रहती हैं।

3. पं0 माणिकचन्द्र जी कौन्देय ने तǍवार्थ श्लोकवार्तिक के पंचमखण्ड के अध्याय-3 के सूत्र 20 '**तन्निवासिन्यो—**' की हिन्दी टीका में श्री आदि देवियों को, व्यंतरजाति की तथा ब्रह्मचारिणी लिखा है।

4. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग-3, पृष्ठ-614 पर श्री आदि देवियों को तथा अन्य दि कन्याओं को व्यंतरदेवियों के अन्तर्गत लिया है।

सित बर, 2009

21. देवों के शरीर की विशेषताएँ

जिज्ञासा— देवों का शरीर कैसा होता होगा? कुछ समझाइये।

समाधान— मूलाचार गाथा क्भ्फ से क्भ्भ तक देवों के शरीर के स बन्ध में बहुत अच्छा वर्णन किया है। जिसका सार इस प्रकार है-

वे देव स्वर्ण के समान, उपलेपरहित (मल-मूत्र, पसीना आदि से रहित) घ्राणेन्द्रिय को आह्लादित करनेवाले श्वासोच्छ्वाससहित, बाल और वृद्ध पर्याय से रहित, आयु पर्यन्त नित्य ही यौवन पर्याय से युक्त, न्यून और अधिक प्रदेशों से रहित, प्रमाणवत् अवयवों की पूर्णतावाले समचतुरस्र संस्थान से युक्त, धातु एवं उपधातुओं से रहित परम सुगन्धीवाले दिव्य शरीर के धारक होते हैं॥ क्भ्फ॥

देवों के सिर, भौंह, नेत्र, नाक, कान, काँख, और गुह्य प्रदेश आदि स्थानों में बाल नहीं होते हैं। हाथ और पैर की अँगुलियों के अग्रभाग में नख नहीं होते हैं। मूँछ, दाढ़ी के बाल नहीं होते हैं एवं सारे शरीर पर सूक्ष्म बाल अर्थात् रोम भी नहीं होते हैं। उनके दिव्य शरीर में चर्म-मांस आदि को प्रच्छादित करने वाला तथा मांस और हड्डियों में होने वाला चिकना रस 'वसा' नहीं होता। उनके शरीर में वीर्य, पसीना, हड्डी और शिरासमूह (नसों का जाल) भी वैक्रियिक शरीर होने के कारण नहीं होता है॥ क्भ्ब॥

सर्वगुणों से विशिष्ट वैक्रियिक शरीर के योग्य उǯाम वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श से युक्त अनन्त दिव्य परमाणुओं से उनके शरीर के सभी अवयव बनते हैं। वे देव मनुष्य के आकार के समान होते हैं, विविध प्रकार के शरीर आदि को बना लेने की शक्तिवाला वैक्रियिक शरीर होता है। उनके शुभनाम, प्रशस्त गमन, सुस्वर वचन, और मनमोहक रूप होता है। उनके शरीर में मनुष्यों के समान केश, नख आदि के आकार सभी विद्यमान रहते हैं। जैसे स्वर्ण व पाषाण की प्रतिमा में सर्व आकार बनाये जाने से वह अतिशय सुन्दर दिखती है, उसी प्रकार से इनके शरीर में भी अतिशय सुन्दरता पायी जाती है। देवों का शरीर नाना शरीरों के बनाने में समर्थ विभिन्न प्रकार के गुणों एवं ऋद्धियों से युक्त होता है॥ क्भ्भ से भ्म॥

फरवरी, 2008

22. या देव मनुष्य को अपने निवासस्थान में ले जा सकता है

जिज्ञासा- या कोई देव कर्मभूमि के मनुष्य को अपने निवास स्थान में ले जाकर कुछ दिन रोक सकता है? आगम प्रमाण स्पष्ट करें।

समाधान- श्री उǯारपुराण पृ. 507 पर इस प्रकार कहा है-

ज्ञातजीवन्धराकूतस्तत्सर्वं शान्तिमानयत्।
ततो विजयगिर्या यं समारोप्य गजाधिपम्॥ 382॥
कुमारं तदनुज्ञानात्स्वावासमनयत्सुहृत्।
स्वगेहदर्शनं नाम सद्भावः सुहृदां स हि॥ 383॥

अर्थ- उस यक्ष ने जीवन्धरकुमार का अभिप्राय जानकर सर्व उपद्रव शान्त कर दिया। तदनन्तर वह यक्ष देव जीवन्धरकुमार की स मति से उन्हें विजयगिरि नामक हाथी पर बैठाकर अपने घर ले गया। सो ठीक ही है, €योंकि मित्र के लिए अपना घर दिखलाना मित्रों का सद्भाव रहता ही है।

जीवन्धरोऽपि यक्षस्य वसतौ सुचिरं सुखम्।
स्थित्वा जिगमिषां स्वस्याज्ञापयद्यक्षमिङ्गितैः॥ फत्त्र॥

अर्थ- जीवन्धर कुमार भी उस यक्ष देव के घर में बहुत दिन तक सुख से रहे। तदनन्तर चेष्टाओं से उन्होंने यक्ष से अपने जाने की इच्छा प्रगट की। उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट है कि जीवन्धरकुमार को उनका मित्र यक्षदेव अपने घर निवास स्थान ले गया था। और वहाँ जीवन्धर कुमार बहुत दिनों तक रहे थे।

जनवरी, 2007

23. दुर्योधन का आगामी भव

जिज्ञासा- कौरव राजा दुर्योधन को कौनसी गति प्राप्त हुई ? वह नरक गया है या स्वर्ग ?

समाधान- उपर्यु€त विषय पर हमें आचार्यों के दो मत प्राप्त होते हैं, जो नि न प्रकार हैं-

1. श्री हरिवंशपुराण में इस प्रकार कहा है-

नृपो दुर्योधनो द्रोणस्तथा दुश्शासनादयः।
निर्विण्णा विदुरस्यान्ते जैनीं दीक्षां प्रपेदिरे॥ 52/88॥

अर्थ- राजा दुर्योधन, द्रोण तथा दुश्शासन आदि ने संसार से विरक्त हो, मुनिराज विदुर के समीप जिनदीक्षा धारण कर ली।

2. श्री पाण्डवपुराण (रचयिता- श्री शुभचन्द्राचार्य) के बीसवें पर्व में इस प्रकार कहा है-

गान्धारेयोऽधमो धर्महीनोऽथ निश्वसन्क्षणात्।
दुर्लेश्यो दुर्गतिं मृत्वा प्रपेदे पापपाकतः॥ 348॥

अर्थ- अधम, नीच, धर्मरहित दुर्योधन निःश्वास लेता हुआ मर गया। दुर्लेश्या से मरण होने से, पापोदय से वह दुर्गति को प्राप्त हुआ।

उपर्युक्त दोनों मतों के अनुसार श्री हरिवंशपुराणकार ने तो दुर्योधन के द्वारा अन्त समय में जिनदीक्षा लेने का वर्णन किया है, जबकि पाण्डवपुराण के अनुसार उसका मरण युद्धक्षेत्र में लड़ते हुए हुआ और उसे दुर्गति प्राप्त हुई।

जुलाई, 2010

24. पाँच श्रुतकेवलियों को मोक्ष उसी भव से या नहीं

जिज्ञासा- □ या भ. महावीर के मोक्ष जाने के बाद हुए पाँच श्रुतकेवली उसी भव से मोक्ष गये थे, या अन्य भव से ?

समाधान- श्रुतकेवली उनको कहते हैं, जो स पूर्ण श्रुत के अर्थात् अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट के स पूर्ण ज्ञाता होते हैं। जबकि केवली वे कहलाते हैं, जिनको केवलज्ञान प्राप्त हो गया होता है। जो केवली होते हैं, वे तो चार अघातिया कर्मों को नष्ट करके उसी भव से नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं, परन्तु श्रुतकेवलियों के उसी

भव से मोक्ष प्राप्त करने का नियम नहीं है। श्रुतकेवलियों को उसी भव से भी मोक्ष हो सकता है अथवा वे कुछ ही भव में मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। श्रुतकेवलियों के लिये श्री धवला पु.-9, पृष्ठ 69-71 के अनुसार लिखा है कि उनको मिथ्यात्व में गमन होने का अभाव है, अर्थात् उनका स य€त्व शेष संसारकाल में कभी भी नहीं छूटता है।

यहाँ विशेष यह भी है कि पंचमकाल में उत्पन्न जीवों को, उसी भव में मोक्ष प्राप्त होने का निषेध है। अत: इस कारण से भी भ. महावीर के बाद होने वाले पाँचों श्रुतकेवलियों को, पंचमकाल में उत्पन्न होने के कारण उसी भव से मोक्ष होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

अप्रैल, मई, जून, 2006

25. श्रेणिक का आयुबन्ध €यों और कब

जिज्ञासा- राजा श्रेणिक को नरकायु का बन्ध कब और €यों हुआ? कृपया बतायें।

समाधान- राजा श्रेणिक के नरकायुबन्ध के कारणों के विषय में आचार्यों के दो मत उपलŽध होते हैं। पहला मत तो यह है कि उन्होंने जब यशोधर महाराज के गले में सर्प डाला, तब उनको सप्तम नरक की आयु का बन्ध हुआ था। तथा दूसरे मत के अनुसार अत्यधिक आर भ और परिग्रह के कारण उनको नरकायु का बन्ध हुआ था। प्रथम मत के कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं-

1. संस्कृत श्रेणिकपुराण (रचियता आ0 शुभचन्द्र) के नवम सर्ग, श्लोक नं0 159-60 में इस प्रकार कहा है-

''मुनि को मारने के लिए राजा श्रेणिक जा ही रहे थे कि अचानक उन्हें एक सर्प, जो कि अनेक जीवों का भक्षक एवं ऊँचा फण किए हुए था, दीख पड़ा। उसे अनिष्ट का करनेवाला समझ महाराज ने शीघ्र मार डाला और अतिक्रूर परिणामी होकर पवित्र मुनि यशोधर के गले में डाल दिया। राजा श्रेणिक के उस समय अति रौद्र परिणाम थे। उन्हें तत्काल ही तेतीस सागर की आयु, पाँच सौ धनुष का शरीर तथा विद्वानों के भी वचन के अगोचर महादु:खवाले, महातमप्रभा नाम के सप्तम नरक का आयुबन्ध हो गया।''

हिन्दी के श्रेणिकचरित्र संपादक- नन्दलाल जैन विशारद, प्रकाशक जैन साहित्य सदन देहली पृष्ठ-124 पर भी इसी प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है।

आचार्यों के दूसरे मत के नि न प्रमाण हैं-

1. उŽारपुराण (पर्व-74, पृष्ठ-472, श्लोक-434-436) में इस प्रकार कहा है- ''राजा श्रेणिक का प्रश्न समाप्त होने पर गणधर स्वामी ने कहा कि तुमने इसी जन्म में पहले भोगों की आसक्ति, तीव्र मिथ्यात्व का उदय, दुश्चरित्र और महान् आर भ के कारण, जो बिना फल दिए नहीं छूट सकती, ऐसी पापरूप नरकायु का बन्ध कर लिया है।'

2. कवि पुष्पदत विरचित महापुराण सर्ग 98/5/15 में इस प्रकार कहा है - ''भारी आर भ और परिग्रह से युक्त घने मिथ्यात्व और तीव्र कषाय के कारण, हे सुभट! तुमने नरकायु का बंध कर लिया है।''

3. श्री सकलकीर्ति विरचित 'वीरवर्धमानचरितम्', ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृष्ठ-211 पर इस प्रकार कहा है- ''तीव्र मिथ्यात्वभाव के द्वारा आज से पूर्व ही तूने इसी जीवन में हिंसादि पाँचों पापों के आचरण से, बहुत

आर भ और परिग्रह से, अत्यन्त विषयासक्ति से और सत्य धर्म के बिना बौद्धों की भक्ति से नरकायु को बाँध लिया है।''

4. श्री हरिवंशपुराण पृष्ठ-22 (ज्ञानपीठ प्रकाशन) पर इस प्रकार कहा है- ''राजा श्रेणिक ने पहिले, बहुत आर भ और परिग्रह के कारण सातवें नरक की जो उत्कृष्ट स्थिति बाँध रखी थी, उसे क्षायिक स यग्दर्शन के प्रभाव से प्रथम पृथ्वी संबंधी 84 हजार वर्ष की मध्यम स्थिति रूप कर दिया।''

स्वाध्यायी जनों के द्वारा उपर्युक्त दोनों मत ही संग्रह करने के योग्य हैं।

सित बर, 2009

26. पुराण के भेद

जिज्ञासा- पुराण कितने प्रकार के होते हैं ?

समाधान- उपर्युक्त प्रश्न के समाधान में श्री धवला 1/113 में इस प्रकार कहा गया है-

''जिनेन्द्र भगवान् ने जगत् में 12 प्रकार के पुराणों का उपदेश दिया है। वे समस्त पुराण जिनवंश और राजवंशों का वर्णन करते हैं। पहला अरिहन्तों (तीर्थंकरों) का, दूसरा चक्रवर्तियों का, तीसरा विद्याधरों का, चौथा नारायण-प्रतिनारायणों का, पाँचवाँ चारणों का (चारण ऋद्धिधारी मुनिराजों का) छठा श्रमणों का वंश है। सातवाँ कुरुवंश, आठवाँ हरिवंश, नवाँ इक्ष्वाकु वंश, दसवाँ काश्यप वंश, ग्यारहवाँ वादियों का वंश और बारहवाँ नाथवंश।''

नव बर, 2008

27. उपसर्ग के भेद

जिज्ञासा : उपसर्ग कितने प्रकार के होते हैं ?

समाधान : हरिवंश पुराण 10/42 में इस प्रकार कहा है-

स्त्रीपुंनपुंसकैस्तिर्यग्नृसुरैरष्ट ते कृताः।
शरीराचेतनात्वा यामुपसर्गा दशोदिताः॥

अर्थ- स्त्री,पुरुष और नपुंसक के भेद से तीन प्रकार के तिर्यंच, तीन प्रकार के मनुष्य एवं स्त्री और पुरुष के भेद से दो प्रकार के देव इन आठ चेतनों के द्वारा कियेहुए आठ प्रकार के चेतनकृत, एक शारीरिक कुष्ठादिक की वेदनाकृत और एक अचेतनकृत दीवाल आदि के गिरने से उत्पन्न सब मिलाकर दश प्रकार के उपसर्ग कहे गये हैं।

जनवरी-फरवरी, 2006

*****

करणानुयोग

28. बहिरात्मा जीवों के गुणस्थान

जिज्ञासा- यदि प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव बहिरात्मा हैं और चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव जघन्य अन्तरात्मा है, तो दूसरे और तीसरे गुणस्थानवर्ती जीवों को €या माना जाये ?

समाधान- उपर्युक्त जिज्ञासा के समाधान में वृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा-14 की टीका में इस प्रकार कहा है-

''अथ त्रिधात्मानं गुणस्थानेषु योजयति। मिथ्यासासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारत यन्यूनाधिकभेदेन बहिरात्मा ज्ञातव्यः।''

अर्थ- मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में तारत य न्यूनाधिक भाव से बहिरात्मा जानना चाहिये।

भावार्थ- प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव उत्कृष्ट बहिरात्मा है। द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मध्यम बहिरात्मा है तथा तृतीय मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव जघन्य बहिरात्मा है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 193 की टीका में भी इसी प्रकार कहा है -

''उत्कृष्टा बहिरात्मानो गुणस्थानादिमे स्थिताः, द्वितीये मध्यमाः, मिश्रे गुणस्थाने जघन्यका इति।''

अर्थ- प्रथम गुणस्थान में स्थित जीव उत्कृष्ट बहिरात्मा,द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मध्यम बहिरात्मा और तृतीय गुणस्थानवर्ती जघन्य बहिरात्मा कहे जाते हैं।

29. तृतीय गुणस्थान में क्षायोपशमिक ाव कैसे ?

जिज्ञासा- तृतीय गुणस्थान में क्षायोपशमिक ाव कैसे बनता है ? स यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने के कारण इसे औदयिक ाव €यों न माना जाये ?

समाधान- इस प्रश्न के उǯार में सर्वप्रथम हमको इस पर विचार करना चाहिये कि इस गुणस्थान की प्राप्ति किस कारण होती है। श्री धवला पु. 1, पृ. 169 के अनुसार मिथ्यात्व कर्म के सर्वघातिस्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होने से, सǯा में रहनेवाले उसी मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों का उदया ाव लक्षण उपशम होने से और स यग्मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों के उदय होने से स यग्मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है। स यग्मिथ्यात्व प्रकृति के स्पर्धकों में सर्वघातिपना नहीं होता, €योंकि इस गुणस्थान की उत्पǯि में स य€त्व का निर्मूल विनाश नहीं होता है। इस गुणस्थानवाले जीव के पूर्वस्वीकृत अन्य देवता के अपरित्याग के साथ-साथ 'अरहंत भी देव हैं' ऐसा अभिप्राय पाया जाता है, अर्थात् स य€त्व का अंश विद्यमान रहने के कारण, स यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में उसके स्पर्धकों का सर्वघातिपना नहीं होने के कारण इस प्रकृति को जात्यन्तर सर्वघाति कहा है।

इस तृतीय गुणस्थान में स यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय होने पर भी वहाँ औदयिक भाव नहीं कहा जाता है, €योंकि मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जिस प्रकार स य€त्व का स पूर्णतया नाश होता है, उस प्रकार स यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से स य€त्व का स पूर्णतया नाश न होने से इस तृतीय गुणस्थान में औदयिक भाव नहीं कहा जा सकता। यहाँ स य€त्व गुण का अंश विद्यमान रहने के कारण स यग्मिथ्यात्व गुणस्थान को क्षायोपशमिक भाव कहा जाता है।

30. पंचम गुणस्थान की प्राप्ति में अन्तरंग कारण €या है

जिज्ञासा- जीवकाण्ड गाथा 30 में प्रत्या यानावरण कषाय के उदय से पंचम गुणस्थान कहा है। हमारे प्रत्या यानावरण कषाय का उदय है या नहीं? यदि है तो हमारा पंचमगुणस्थान होना चाहिए।

समाधान- गो मटसार जीवकाण्ड की गाथा 30 इसप्रकार है-

पच्च€खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरिं तु।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पंचमओ॥ 30॥

अर्थ- प्रत्या यानावरण कषाय के उदय से सकल-संयम नहीं होता, किन्तु स्तोकव्रत (अणुव्रत) होते हैं। इसलिए देशव्रत अर्थात् अणुव्रत या देशसंयम रूप पंचम गुणस्थान होता है।

यहाँ प्रत्या यानावरण कषाय के उदय का वर्णन यह बताने के लिए किया है कि उसके उदय से सकल संयम नहीं होता। उसके उदय से पंचम गुणस्थान होता है, यदि यह मान लिया जाये तो प्रथम गुणस्थान से पाँचवे गुणस्थान तक के समस्त जीवों के प्रत्या यानवरण कषाय का उदय होने से देशसंयम हो जायेगा। परन्तु यह संभव नहीं है। शास्त्रों में जहाँ प्रत्या यानावरण कषाय के उदय से देशसंयम लिखा हो वहाँ अनन्तानुबन्धी और अप्रत्या यानावरण का अनुदय मानना चाहिए। अर्थात् अनन्तानुबन्धी और अप्रत्या यानावरण कषाय का अनुदय होने से तथा प्रत्या यानावरण कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों का एवं संज्वलन कषाय के देशघाती स्पर्धकों का उदय होने से संयमासंयम नामक क्षायोपशमिक भाव बनता है। ऐसे जीव के पंचमगुणस्थान होता है।

जनवरी, 2010

31. अप्रमŽाविरत गुणस्थान में भी आहार-विहार संभव

जिज्ञासा- सप्तम गुणस्थान में आहार-विहार होता है या नहीं?

समाधान- इस संबंध में पू. आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने अपने प्रवचनों में बहुत बार कहा है कि आहार करते समय, जब मुनिराज अंजुलि फैलाते हैं, तब उनका छठा गुणस्थान होता है और जब अंजुलि में प्राप्त आहार का शोधन करते हैं, तब सप्तम गुणस्थान होता है। इसी तरह जब आहार को मुख में लेते हैं, तब छठा गुणस्थान होता है और जब स्वाद न लेते हुये चर्वण करते हैं, तब सप्तम गुणस्थान होता है। ऐसा €यों? €योंकि उस समय न तो एषणासमिति के लिये कोई कार्य हो रहा है और न आहारसंज्ञा ही है, €योंकि इनका कार्य तो पहले समाप्त हो चुका है। मुख में रखे हुये ग्रास को चबाते समय आहार ग्रहण की क्रिया न होने से आहारसंज्ञा की आवश्यकता भी नहीं है। इसी प्रकार विहार करते समय चार हाथ प्रमाण पृथ्वी देखकर गमन करते हुये साधु के, पृथ्वी देखते समय तो छठा गुणस्थान है, परन्तु अपना पैर आगे रखते समय सप्तम गुणस्थान होने में कोई बाधा नहीं है, □ योंकि उस समय ईर्यासमिति के लिये कोई कार्य नहीं है।

धवला पु.1 पृष्ठ 375 सूत्र 126 में इस प्रकार कहा है- ''परिहारशुद्धिसंयत प्रमŽा और अप्रमŽा इन दो गुणस्थानों में होता है।'' इसकी टीका में श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है- ''गमनागमन आदि क्रियाओं में प्रवृŕा करनेवाला ही परिहार कर सकता है, प्रवृŕा नहीं करनेवाला नहीं। इसलिये ऊपर के आठवें आदि गुणस्थानों में परिहारशुद्धिसंयम नहीं बन सकता। यद्यपि आठवें आदि गुणस्थानों में परिहार ऋद्धि पाई जाती है, परन्तु वहाँ पर परिहार करने रूप उसका कार्य नहीं पाया जाता है, अत: आठवें आदि गुणस्थानों में परिहारशुद्धिसंयम का

अभाव कहा गया है'' इस प्रसंग से स्पष्ट है कि सप्तम गुणस्थान में विहार होने से ही परिहारशुद्धिसंयम कहा गया है।

छठे तथा सातवें गुणस्थान का काल निकालते हुये पं. रतनचन्द्र जी मु तार ने सप्तम गुणस्थान का काल (धवला पु.6, पृष्ठ 335 से 342 तक के आधार से) एक सैंकड के हजारवें भाग से ाी कम कहा है। तथा छठे गुणस्थान का काल इससे दुगना कहा है। अब यदि कोई मुनिराज आहार या विहार कर रहे हों, और उनको उसमें मुहूर्त से अधिक समय लगे, तो छठे गुणस्थान के काल के बाद सप्तम गुणस्थान मानना पड़ेगा, अन्यथा उनके नीचे का कोई गुणस्थान हो जायेगा, जो आगम तथा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकेगा।

छठे तथा सातवें गुणस्थान की परिभाषा पर दृष्टि देने से ज्ञात होता है कि इन दोनों गुणस्थानों में मु य अंतर मात्र इतना ही है कि छठे गुणस्थान में संज्वलन का तीव्र उदय रहता है और सातवें गुणस्थान में मंद उदय है। इसी कारण विश्राम करते हुये मुनिराज के घड़ी के पैण्डुलम की तरह छठा व सातवाँ गुणस्थान, संज्वलन के तीव्र व मंद उदय के अनुसार क्रमशः होते रहते हैं। कुछ महानुभाव ऐसा मानते हैं कि सप्तम गुणस्थान में मात्र ध्यानावस्था ही होती है, उनका मानना, उपर्युक्त आगम संदर्भों के अनुसार उचित नहीं है। **अतः आहार, विहार या निद्रा के समय भी मुनिराज के छठा तथा सातवाँ गुणस्थान मानना उचित है।**

अगस्त, 2008

32. सातिशय अप्रम ाविरत में आयु बंध नहीं

जिज्ञासा- सातिशय अप्रमǎागुणस्थान में देवायु का बंध होता है या नहीं?

समाधान- उपर्युक्त जिज्ञासा के समाधान से पूर्व इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि सप्तम गुणस्थान में देवायु का बंध होता है या नहीं? इस प्रकरण पर कर्म-काण्ड गाथा 98 में इस प्रकार कहा है-

छट्ठे अथिरं असुहं असादमनसं च अरदिसोगं च।
अपमǎो देवाऊ णिट्ठवणं चेव अत्थिǐा॥ 98॥

अर्थ- छठे गुणस्थान में अस्थिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयशस्कीर्ति, अरति और शोक इन छह प्रकृतियों की बंधव्युच्छिǐि होती है। तथा अप्रमǎाविरत गुणस्थान में एक देवायु के बंधनिष्ठापन की व्युच्छिǐि होती है।

तात्पर्य है कि यदि कोई मुनिराज छठे गुणस्थान में देवायु का बंध प्रारंभ कर चुके हों, तो वे सप्तम गुणस्थान में भी देवायु का बंध कर सकते हैं, परंतु सप्तम गुणस्थान में देवायु के बंध का प्रारंभ नहीं कर सकते। इसी दृष्टि से सप्तम गुणस्थान में देवायु के निष्ठापन की व्युच्छिǐि कही गई है। सप्तम से आगे के गुणस्थानों में आयुबंध कोई भी नहीं होता।

अब प्रश्न है कि सातिशय अप्रमǎा में देवायु का बंध होता है या नहीं ? इस संबंध में कोई आगमप्रमाण मेरी दृष्टि में नहीं आया। इतना अवश्य है कि इसी गाथा का भावार्थ लिखते हुये पं. मनोहर लाल जी सिद्धांत-शास्त्री ने लिखा है कि **सातिशय अप्रम ा में देवायु का बंध नहीं होता है।** यदि किन्हीं पाठक महानुभाव को कोई आगम प्रमाण ज्ञात हो, तो कृपया अवश्य मुझे लिखने का कष्ट करें।

अगस्त, 2008

33. गुणस्थानों की अपेक्षा सुख का बँटवारा

जिज्ञासा- किस गुणस्थान में कितना सुख होता है और €यों ? कृपया बताएँ।

समाधान- आपकी जिज्ञासा का उǯार हरिवंशपुराण के तृतीय सर्ग, श्लोक नं0 86 से 94 तक बहुत अच्छी तरह दिया हुआ है, जो इसप्रकार है-

1. चौदहों गुणस्थानों में से सबसे अधिक सुख तो क्षायिक लǴधयों को प्राप्त करनेवाले सयोगकेवली और अयोगकेवली को होता है। इनका सुख अन्तरहित होता है, तथा इन्द्रियसंबंधी विषयों से उत्पन्न नहीं होता॥ 86॥

2. उनके बाद उपशमश्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी चढ़नेवाले, आठवें गुणस्थान को आदि लेकर 12 वें गुणस्थान तक के मुनिराजों के कषायों के उपशम अथवा क्षय से उत्पन्न होने वाला परम सुख होता है॥ 87॥

3. तदनन्तर उनसे कम निद्रा, पाँच इंद्रियाँ, चार कषाय, चार विकथा और एक स्नेह इन पन्द्रह प्रमादों से रहित अप्रम ासंयत जीवों के प्रशमरसरूप सुख होता है॥ 88॥

4. उनके बाद हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों से विर त प्रम ासंयत जीवों के (छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराजों के) शांतिरूप सुख होता है॥ 89॥

5. तदनन्तर हिंसा आदि पाँच पापों से यथाशक्ति एकदेशनिवृǯा होनेवाले संयतासंयत जीवों के महातृष्णा पर विजय प्राप्त होने के कारण सुख होता है॥ 90॥

6. उनके बाद अविरतस यग्दृष्टि जीव, यद्यपि हिंसादि पापों से एकदेश भी विरत नहीं हैं, तथापि तǴवश्रद्धान से उत्पन्न सुख का उपभोग करते ही हैं॥91॥

7. उनके पश्चात् परस्पर विरुद्ध, स य€त्व और मिथ्यात्व रूप परिणामों को धारण करनेवाले स यग्मिथ्यादृष्टि जीवों के अन्त:करण सुख और दु:ख दोनों से मिश्रित रहते हैं॥ 92॥

8. स यग्दर्शन को उगलनेवाले सासादन स यग्दृष्टि जीवों का अन्तरभाव उसप्रकार का होता है, जिसप्रकार का दूध और घी से मिश्रित श€कर खाकर उसकी डकार लेनेवालों का होता है। अर्थात् स य€त्व के छूट जाने से सासादनस यग्दृष्टि जीवों को सुख तो नहीं होता, किन्तु सुख का कुछ आभास होता है, जिसप्रकार कि दूध, घी, श कर आदि खानेवालों को पीछे से उसकी डकार द्वारा मधुर रस का आभास मिलता है। उसी प्रकार इनके सुख का आभास जानना चाहिए॥ 93॥

9. तद्नन्तर जो स्वप्न के राज्य के समान बुद्धि को भ्रष्ट करनेवाले सप्तप्रकृतिक मोह से अत्यंत मूढ़ हो रहा है, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को सुख कहाँ प्राप्त हो सकता है॥ 94॥

जुलाई, 2009

34. बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में शरीर परमौदारिक हो जाता है

जिज्ञासा- बारहवें गुणस्थान में मुनिराज का शरीर परमौदारिक किस प्रकार होता है ? €या बारहवें गुणस्थान में मुनिराज के शरीर में नवीन निगोदिया जीवों की उत्पǴिा नहीं होती है ?

समाधान- उपर्युक्त जिज्ञासा के समाधान में श्री धवला पु. 14 में विशेष प्रकरण प्राप्त होता है। जो इस प्रकार है-

1. श्री धवला पु. 14 पृष्ठ 482- क्षीणकषाय हुये जीव के प्रथम समय में अनंत बादर निगोद जीव मरते हैं। दूसरे समय में विशेष अधिक जीव मरते हैं। इसी प्रकार तीसरे आदि समयों में विशेष अधिक विशेष अधिक जीव मरते हैं। यह क्रम क्षीणकषाय के प्रथम समय से लेकर आवलि पृथ€त्व काल तक चालू रहता है। इसके आगे सं यात भाग अधिक, सं यात भाग अधिक जीव मरते हैं। और यह क्रम क्षीणकषाय के काल में आवलि का सं यातवां भाग काल शेष रहने तक चालू रहता है। इसके आगे के लगे हुये समय में असं यातगुणे जीव मरते हैं। इस प्रकार क्षीण कषाय के अंतिम समय तक असं यात गुणे जीव मरते हैं।

2. श्री धवला पु. 14 पृ. 91- क्षीणकषाय के प्रथम समय से लेकर बादर निगोद जीव तब तक उत्पन्न होते हैं, जब तक क्षीण कषाय के काल में उनका जघन्य आयु का काल शेष रहता है। इसके बाद नहीं उत्पन्न होते, €योंकि उत्पन्न होने पर उनके जीवित रहने का काल नहीं रहता। इसलिये बादर निगोद जीव यहाँ से लेकर क्षीणकषाय के अंतिम समय तक केवल मरते ही हैं। 2. श्री धवला पु. 14, पृ. 138 के अनुसार क्षीणकषाय के योग्य बादर निगोद वर्गणाओं का सर्वदा अवस्थान नहीं पाया जाता। यदि उनका अवस्थान होता है तो किसी भी जीव को मोक्ष नहीं हो सकता। €योंकि क्षीण कषाय में बादर निगोद वर्गणा के रहते हुये केवलज्ञान की उत्पfिZ होने में विरोध है।

3. श्री धवला पु. 14 पृष्ठ 89- प्रश्न- ये निगोद जीव यहाँ यों मरते हैं ? उ ार- योंकि ध्यान से निगोद जीवों की उत्पfिZ और उनकी स्थिति के कारण का निरोध हो जाता है। प्रश्न- ध्यान के द्वारा अनंतानंत जीवराशि का हनन करने वाले जीवों को निवृf ा (मोक्ष) कैसे मिल सकती है ? उ ार- अप्रमाद होने से। प्रश्न- हिंसा करने वाले जीवों के अहिंसालक्षण पांच महाव्रत (आदि रूप अप्रमाद) कैसे हो सकता है ? उ्ार- नहीं, योंकि बहिरंग हिंसा से आस्रव नहीं होता।

क्षीण कषाय में प्रवेश करते समय प्रत्येक मुनिराज का औदारिक शरीर ही होता है। अर्थात् उनके शरीर में निगोदिया आदि जीव होते हैं। परन्तु उपर्युक्त प्रकार से उन समस्त जीवों का मरण हो जाने पर, बारहवें क्षीणकषाय के अंतिम समय में उनका शरीर परमौदारिक शरीर बन जाता है।

मार्च, 2010

35. तेरहवें गुणस्थान में असातावेदनीय का स्वमुख उदय

जिज्ञासा- तेरहवें गुणस्थान में असातावेदनीय का स्वमुख उदय होता है या वह सातावेदनीय रूप से संक्रमित होकर उदय में आता है ?

समाधान- तेरहवें गुणस्थान में असातावेदनीय का स्वमुख उदय पाया जाता है, परन्तु उसकी अनुभाग शक्ति अनन्तगुणी हीन होने तथा मोहनीय कर्म का अभाव होने के कारण उसका अप्रकट सूक्ष्म उदय रहता है। इसके साथ ही केवली भगवान् के विशेष विशुद्धता होने के कारण, उनके प्रतिसमय बँधकर उदय में आनेवाला सातावेदनीय अनन्तगुणा अनुभागवाला होता है, जिस कारण से असातावेदनीय का उदय प्रतिहत हो जाता है। इस प्रकार दु:खरूप फल के अभाव में भी असातावेदनीय का स्वमुख उदय मानना आगमस मत है। कुछ आगम प्रमाण इस प्रकार हैं-

1. श्री धवला पुस्तक 12/24 में कहा है- 'प्रश्न है कि असातावेदनीय का वेदन करनेवाले तथा क्षुधा तृषा आदि 11 परीषहों द्वारा बाधा को प्राप्त हुए केवली भगवान्.....।'

2. प्रमेयकमलमार्तण्ड पृष्ठ 303 पर कहा है- 'असातावेदनीय के विद्यमान होते हुये भी मोहनीय के अभाव में असमर्थ होने से, वे केवली भगवान् को क्षुधा स बन्धी दुःख को करने में असमर्थ हैं।

3. प्रवचनसार गाथा 20 की तात्पर्यवृ्ि टीका में इस प्रकार कहा है- 'केवली भगवान् के असातावेदनीय के उदय की अपेक्षा सातावेदनीय का उदय अनन्तगुणा है। इस प्रकार श€कर की बड़ी राशि के बीच में नीम की एक कणिका की भांति असातावेदनीय का उदय होने पर भी नहीं जाना जाता है।

4. राजवार्तिक अध्याय 9/11 की टीका में कहा है- अन्तरायकर्म का अभाव हो जाने से प्रतिक्षण शुभ कर्मपुद्गलों का संचय होते रहने से, प्रक्षीणसहाय वेदनीय कर्म (असातावेदनीय) विद्यमान रहकर भी अपना कार्य नहीं कर सकता।

5. सर्वार्थसिद्धि पृ. 339 पर कहा है- 'केवली जिन के साता का आस्रव सदाकाल होने से उसकी निर्जरा भी सदाकाल होती रहती है। इसलिए जिस काल में असाता का उदय होता है उस काल में केवल उसका ही उदय नहीं होता, किन्तु उससे अनन्तगुणी शक्तिवाले साता के साथ वह उदय में आता है। माना कि उसका उस समय स्वमुख से उदय है, पर वह प्रतिसमय बँधने वाले साता कर्म परमाणुओं की निर्जरा के साथ ही होता है, इसलिए असाता का उदय वहाँ क्षुधादि रूप वेदना का कारण नहीं हो सकता।

अप्रैल, 2009

36. केवली भगवान् के कितने प्राण होते हैं

जिज्ञासा— केवली के कितने प्राण होते हैं ? दस €यों नहीं होते ?

समाधान— धवला पु. ख्गो मटसार जीवकाण्ड गाथा स्त्रक के आधार से केवली के नि नप्रकार प्राण होते हैं।

क. सामान्य केवली - ब (वचनबल, कायबल, आयु, श्वासोच्छ्वास)

ख समुद्घातगत केवली

अ. दण्ड समुद्घात - फ (कायबल, आयु, श्वासोच्छ्वास)

ब. कपाट समुद्घात - ख (कायबल, आयु)

स. प्रतर समुद्घात - ख (कायबल, आयु)

द. लोकपूरण - ख (कायबल, आयु)

फ. अयोग केवली- एकप्राण, (आयु)

दस प्राणों से कम प्राणों के होने का कारण

क. पाँच इन्द्रिय प्राण और मनोबल प्राण सामान्य केवली के €यों नहीं होते ? €योंकि पाँच इन्द्रियप्राण तो इन्द्रियावरण तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से होते हैं तथा मनोबलप्राण नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम से होता है। केवली भगवान् के ज्ञानावरण एवं अन्तराय के क्षयोपशम का अभाव हो जाने के कारण ये म्प्राण नहीं होते। उनके इन्द्रियाँ एवं द्रव्यमन तो होता है, परन्तु इनके माध्यम से ज्ञान अब नहीं किया जाता। उनके केवली अवस्था में परोक्ष ज्ञान न होकर मात्र प्रत्यक्ष केवलज्ञान होता है।

ख कपाट समुद्घात में श्वासोच्छ्वास प्राण नहीं होता है। €योंकि मिश्रकाययोग में श्वासोच्छ्वास प्राण का सद्भाव नहीं पाया जाता है।

फ. अयोगकेवली के शरीरनामकर्म का अनुदय तथा उपर्युक्त प्रकार से नौ प्राणों का अभाव होने के कारण एकमात्र आयुप्राण ही पाया जाता है।

फरवरी, 2008

37. केवली के चारों प्रकार का बंध

जिज्ञासा- केवली भगवान् के योग होने के कारण प्रकृतिबंध तथा प्रदेशबंध होना ठीक है, परन्तु कषाय न होने से स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध नहीं होने चाहिए?

समाधान- आपका कथन उचित ही है योंकि द्रव्यसंग्रह में कहा गया है,**'जोगापयडिपदेसा, ठिदिअणुभागा कसायदो होंति' अर्थ**- योग से प्रकृति और प्रदेशबंध होते हैं तथा स्थितिबंध और अनुभागबंध कषाय से होते हैं। परन्तु श्री धवला पुस्तक-13, पृष्ठ-49 पर इस संबंध में इसप्रकार कहा गया है- 'जघन्य अनुभाग स्थान के जघन्य स्पर्धक से अनन्तगुणे हीन अनुभाग से युक्त कर्म स्कन्ध बन्ध को प्राप्त होते हैं ऐसा समझकर अनुभागबन्ध नहीं है, ऐसा कहा है। इसलिए एक समय की स्थितिवाला ईर्यापथ कर्मबन्ध अनुभाग सहित है ही, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।'

भावार्थ- तेरहवें गुणस्थान में जो ईर्यापथ आस्रवपूर्वक कर्मबंध होता है वह एक समय की स्थितिवाला होता है। इसीलिए जिस समय में बंध है उसी समय में उदय स्वरूप होता हुआ, वह अगले समय में निर्जरित होता है। इस एक समयवाले बंध का अनुभाग भी उपर्युक्त प्रमाण के अनुसार अति अल्प होता है। अत: सूक्ष्मता की अपेक्षा 13वें गुणस्थान में भी स्थितिबंध एवं अनुभाग बंध मानने योग्य हैं। यह भी ध्रुवसत्य है कि जहाँ चारों में से एक भी बंध होता है, वहाँ चारों ही बंध होते हैं।

अ टूबर, 2009

38. केवली भगवान् न संज्ञी हैं न असंज्ञी

जिज्ञासा- केवली भगवान् को संज्ञी माना जाय या असंज्ञी और यों?

समाधान- गो मटसार जीवकाण्ड गाथा 660 में इस प्रकार कहा है-

णोइंदिय-आवरण-खओवसमं तज्जबोहणं सण्णा।
सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिंदिअवबोहो॥ 660॥

अर्थ- नोइंद्रियावरण कर्म का क्षयोपशम और उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान संज्ञा है। यह संज्ञा जिसके होती है वह संज्ञी है, तथा जिसके मात्र इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है, वह असंज्ञी होता है।

केवली भगवान् के मन संबंधी ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम नहीं होता और न उस क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ ज्ञान होता है। €योंकि उन्होंने ज्ञानावरणी कर्म का क्षय कर दिया है अत: वे उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार संज्ञी नहीं कहे जा सकते। केवली के इन्द्रियजन्य ज्ञान भी नहीं होता, अत: वे उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार असंज्ञी भी नहीं कहे जा सकते। अर्थात् वे न संज्ञी हैं न असंज्ञी।

श्री धवला पुस्तक-1, पृष्ठ 408 पर इस प्रकार प्रश्नो ार लिखा है-

प्रश्न- मन सहित होने के कारण सयोगकेवली भी संज्ञी होते हैं।

उ ार-नहीं, €योंकि आवरणकर्म से रहित उनके मन के अवलंबन से, बाह्य अर्थ का ग्रहण नहीं पाया जाता है। इसलिए उन्हें संज्ञी नहीं कह सकते। **प्रश्न**- तो, केवली असंज्ञी रहे आवें? **उ ार**-नहीं, योंकि

जिन्होंने समस्त पदार्थों को साक्षात् कर लिया है, इसलिए उन्हें असंज्ञी मानने में विरोध आता है। **प्रश्न**- केवली असंज्ञी होते हैं, €योंकि वे मन की अपेक्षा के बिना ही विकलेन्द्रिय जीवों की तरह बाह्य पदार्थों का ग्रहण करते हैं ? उ ार-यदि मन की अपेक्षा न करके ज्ञान की उत्पfिा मात्र का आश्रय करके ज्ञानोत्पfिा असंज्ञीपने का कारण होती, तो ऐसा होता। परन्तु ऐसा तो है नहीं, €योंकि कदाचित् मन के अभाव से विकलेन्द्रिय जीवों की तरह केवली के बुद्धि के अतिशय का अभाव भी कहा जावेगा। इसलिए केवली पर पूर्वोक्त दोष लागू नहीं होता।

इस प्रकार केवली भगवान् न संज्ञी होते हैं, न असंज्ञी।

फरवरी, 2010

39. केवली भगवान् के योग और उनका कारण

जिज्ञासा- केवली के सात प्रकार का योग बताया है। जबकि उनकी आत्मा को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता । फिर इन योगों में कारण €या ?

समाधान- सयोग केवली के औदारिक काय योग, औदारिक मिश्र काययोग, कार्मणकाययोग, सत्यमनोयोग, अनुभयमनोयोग, सत्यवचनयोग, अनुभयवचनयोग ये सात योग कहे गये हैं। इनके होने में निम्नलिखित कारण हैं -

1. सत्य तथा अनुभयमनोयोग- श्री गो मटसार जीवकाण्ड में इस प्रकार कहा है-

मणसहियाणं वयणं दिट्ठंतप्पुव्वमिदि सजोगि म।
उfजो मणोवयारेणिंदियणाणेण हीणि ह॥ 228॥

अर्थ- मन सहित जीवों का वचनप्रयोग मनोज्ञानपूर्वक ही होता है।अत: इन्द्रियज्ञानरहित सयोग केवली में उपचार से मनोयोग कहा गया है।

अंगोवंगुदयादो दव्वमणट्ठं जिणिंदचंदि ह।
मणवग्गणखंधाणं आगमणादो दु मणजोगो॥ 229॥

अर्थ- अंगोपांग नामकर्म के उदय से केवली के द्रव्यमन होता है। उस द्रव्यमन के लिये मनोवर्गणाओं का आगमन होने से मनोयोग कहा गया है।

उपर्युक्त प्रमाणों से केवली के मनोयोग होता है। केवली के सत्य तथा अनुभय, इन दो प्रकार के वचन होने से उनके मनोयोग भी दो प्रकार का कहा है।

2. सत्य तथा अनुभय वचन योग- श्रीधवला पु. 1 पृ. 284-85 तथा धवला पु. 14 पृ. 550-552 के अनुसार केवली भगवान् की दिव्यध्वनि सत्यभाषारूप तथा अनुभय भाषारूप होती है। अत: केवली भगवान् वचनवर्गणा का ग्रहण करते हैं। केवली के वचन सत्यरूप तो होते ही हैं, परन्तु केवली के ज्ञान के विषयभूत पदार्थ अनन्त होने से और श्रोता का क्षयोपशम सामान्य होने से, केवली के वचनों के निमि । से संशय और अनध्यवसाय की उत्पfिा हो सकती है, अत: वे वचन अनुभय रूप भी हैं। साथ ही केवली के वचनों में 'स्यात्' इत्यादि रूप से अनुभय वचन का सद्भाव पाया जाता है। इसलिये केवली की ध्वनि अक्षरात्मक भी कही गयी है। इस प्रकार दो प्रकार के वचन योग केवली के होते हैं।

3. औदारिक काययोग- केवली भगवान् का शरीर औदारिक शरीर है। अतः औदारिक शरीर द्वारा उत्पन्न हुई शक्ति से जीव प्रदेशों में परिस्पंद का कारणभूत जो योग होता है वह औदारिक काययोग है। (धवला पु. 1, पृ. 291-292)

4. औदारिकमिश्रकाययोग- केवली भगवान् जब कपाट समुद्घात करते हैं, तब औदारिकमिश्र काययोग होता है।

5. कार्मण काययोग - केवली भगवान् जब प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करते हैं, तब कार्मण काय योग होता है। (श्री धवला पु. 1/पृ. 300)

इस प्रकार केवली के विभिन्न अवस्थाओं में सात प्रकार के योग पाये जाते हैं।

नव बर, 2006

40. बिना आहार भी अरिहन्तों का जीवन कैसे संभव?

जिज्ञासा- अरिहन्त भगवान् आहार नहीं करते हैं, तो उनका शरीर कैसे हजारों वर्ष तक टिकता होगा?

समाधान- उपर्युक्त विषय पर कषाय पाहुड़ 1/1, प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रवचनसार, बृहत् जिनोपदेश, प्रश्नो□ ार श्रावकाचार, जैनेन्द्र सिद्धान्तकोष आदि ग्रन्थों में विस्तृत चर्चा उपल□ ध है। उसी के आधार से आपको उ□ ार दिया जा रहा है-

1. श्री धवला पुस्तक-2, पृष्ठ-437 पर कहा है कि जब अप्रमŽासंयत, सप्तमगुणस्थानवर्ती मुनिराज के भी असातावेदनीय की उदीरणा न होने के कारण आहारसंज्ञा नहीं है, तब केवली के आहारसंज्ञा कैसे हो सकती है?

2. जिस काल में असाता का उदय होता है, उस काल में अनन्तगुणी शक्तिवाले साता का भी उदय रहता है। अतएव वहाँ असातावेदनीय का उदय क्षुधादि वेदना का कारण नहीं हो पाता। केवली के शरीर में प्रतिसमय अनन्तानन्त, परम प्रशस्त, सूक्ष्म तथा दूसरे मनुष्यों को कभी नहीं प्राप्त होने वाली नोकर्मवर्गणाएँ आती रहती हैं, जो शरीर को बल प्रदान करने में कारण बनी रहती हैं और आहार के बिना भी उनका परमौदारिक शरीर, कुछ कम एक करोड़ पूर्व तक बना रह सकता है, जैसे देवों का शरीर भी कवलाहार के बिना सागरों तक रहता है।

3. भूख की वेदना होना असातावेदनीय का कार्य है। परन्तु मोहनीय कर्म का उदय न होने से असातावेदनीय कर्म अपना फल देने में समर्थ नहीं होता है।

4. आहार तो इच्छापूर्वक ही होता है। केवली के लोभकषायजन्य इच्छा नहीं होती। अतः इच्छा के अभाव में आहार भी नहीं बन सकता।

5. यदि केवली के क्षुधादोष माना जायेगा, तो प्यास भी लगेगी, भोजन से राग भी होगा, भोजन न मिलने पर मरण भी होगा तथा द्वेष भी होगा, विषाद भी होगा और निद्रा भी आएगी। तब फिर 18 दोषों से रहित वीतरागी कैसे कहलायेंगे? फिर तो वे हमारे समान ही हो गए।

6. सामान्य मुनि भी मद्य-मांस आदि पदार्थ देख लेने पर भोजन नहीं करते हैं, अन्तराय कर देते हैं। तब फिर संसार भर के समस्त निषिद्ध पदार्थों को एक साथ देखनेवाले केवली प्रभु आहार कैसे ग्रहण कर सकेंगे?

7. केवली भगवान् के रत्नत्रय तथा ध्यान की पूर्णता है, केवलज्ञान भी प्राप्त हो चुका है। अत: अब वे किसलिए भोजन करेंगे?

8. केवली के क्षुधादि 11 परीषह कहे गये हैं, परन्तु असातावेदनीय की उदीरणा न होने से वे उपचार मात्र हैं। मोहनीय कर्म का अभाव होने से वे अपना फल देने में असमर्थ हैं। असाता का मात्र अप्रकट सूक्ष्म उदय है, उदीरणा नहीं।

9. वैज्ञानिक दृष्टि से यह भी जानने योग्य है कि छद्मस्थ जीवों के शरीर में अनन्त जीवराशि पाई जाती है, जो त्रस व स्थावर दोनों रूप है। वह जीवराशि प्रतिसमय शरीर का कुछ भी तǎव भक्षण करती रहती है, जिसके कारण शरीर में गिरावट आना अवश्यंभावी है। उस क्षति की पूर्ति करने के लिए औदारिकशरीरी छद्मस्थ जीव कवलाहार ग्रहण करता है। अन्यथा उसके शरीर में गिरावट और मरण निश्चित है। केवली प्रभु के शरीर में कोई भी अन्य जीव नहीं होता, अत: उनके औदारिक शरीर में किसी प्रकार की क्षति नहीं होती, अत: कवलाहार भी आवश्यक नहीं है।

उपर्युक्त बिन्दुओं के अनुसार केवली प्रभु का शरीर बिना कवलाहार के भी सं यात वर्षों तक बना रहता है, इस सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आती है।

जुलाई, 2009

41. स मूर्च्छन एवं उपपाद जन्म में अन्तर

जिज्ञासा- संमूर्छन जीव भी गर्भ के बिना ही शरीर योग्य वर्गणाओं को ग्रहण कर शरीर बनाते हैं और औपपादिक जीव भी। फिर इनके जन्म में अन्तर या?

समाधान- संमूर्छन तथा उपपाद जन्म की परिभाषाएँ नि न प्रकार हैं-

1. संमूर्छन जन्म- **तीनों लोकों में** ऊपर, नीचे तथा तिरछे, सभी दिशाओं से पुद्गल परमाणुओं को इकट्ठा कर शरीर अवयवों की रचना होना।

2. उपपाद जन्म- देव तथा नारकियों के **नियत उत्पǐि स्थानों** पर उपल ध वैक्रियिक शरीर योग्य नोकर्म वर्गणाओं को ग्रहण कर शरीर अवयवों की रचना होना।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के जन्मों में यद्यपि गर्भ के बिना ही जन्म होता है और वहीं पर उपल ध नोकर्म वर्गणाओं को ग्रहण कर शरीर की रचना होती है, परन्तु फिर भी नि न अन्तर हैं-

1. संमूर्छन जन्म मनुष्य एवं तिर्यञ्चों का होता है, जबकि उपपाद जन्म देव एवं नारकियों का होता है।

2. संमूर्छन जन्म तीनों लोकों में कहीं पर भी होता है, जबकि उपपाद जन्म के स्थान नियत होते हैं।

3. संमूर्छन जन्मवाले पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी, जबकि उपपाद जन्मवाले पर्याप्तक ही होते हैं।

सित बर, 2010

42. कुभोगभूमिज तिर्यञ्चों का आहार

जिज्ञासा- कुभोगभूमिज तिर्यञ्चों का भोजन €या है ? €या कुभोगभूमि में कल्पवृक्ष होते हैं ?

समाधान- कुभोगभूमि में कल्पवृक्षों का वर्णन शास्त्रों में नहीं मिलता है, अर्थात् कुभोगभूमि में कल्पवृक्ष नहीं होते हैं। वहाँ के जीवों के भोजन के संबंध में तिलोयपण्णत्ति 4/2529 में इस प्रकार कहा है:-

ए कोरुगा गुहासुं, वसंति भुंजंति मट्टियं मिट्टं।
सेसा तरुतलवासा, पुप्फेहि फलेहिं जीवंति॥ 2529॥

अर्थ- इन सब में से एकोरुक (एक जांघ वाले) कुमानुष गुफाओं में रहते हैं और मीठी मिट्टी खाते हैं। शेष सब कुमानुष (मनुष्य एवं तिर्यंच युगल) वृक्षों के नीचे रहकर फल फूलों से जीवन व्यतीत करते हैं। श्री राजवार्तिक में भी इसी प्रकार कहा है।

मार्च, 2007

43. कुभोगभूमि में संस्थान

जिज्ञासा- कुभोगभूमि में कौन सा संस्थान होता है ?

समाधान- श्री आचारसार अध्याय-11 में इस स बन्ध में इस प्रकार कहा है-

हुंडं पुं नारकैकाक्षाद्यसंज्ञ्यन्तेषु सामरे।
भोगभूजे भवेदाद्यं सर्वाण्यन्येषु देहिषु॥ 93॥

भावार्थ - कुभोगभूमियों के मनुष्य, नारक, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, अंसज्ञी पंचेन्द्रियों में एक हुंडक संस्थान होता है। देव और भोगभूमिज जीवों के समचतुरस्र संस्थान है। शेष जीवों में छहों संस्थान होते हैं। (हिन्दी टीका - पू. आर्यिका सुपार्श्वमति माता जी)

उपर्युक्त प्रमाण के अनुसार कुभोगभूमियाँ मनुष्यों के हुंडक संस्थान मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त कोई और प्रमाण पाठकों को प्राप्त हो, तो अवश्य सूचित करें।

अ टूबर, 2006

44. तिर्यञ्च गति अशुभ, पर तिर्यञ्च आयु शुभ €यों

जिज्ञासा- तिर्यंच गति को अशुभ कहा है परन्तु तिर्यंच आयु को शुभ यों कहा है ?

समाधान- उपर्युक्त जिज्ञासा के समाधान में राजवार्तिककार ने अध्याय-त्त, सूत्र-ख्भ की टीका में इस प्रकार कहा है- ''यद्यपि तिर्यंचगति अशुभ है, परन्तु तिर्यंच आयु शुभ है योंकि तिर्यंचगति में जाना कोई नहीं चाहता है, परन्तु तिर्यंचगति में पहुँच जाने पर वहाँ से निकलना नहीं चाहता है। अत: तिर्यंच आयु पुण्य-प्रकृति है और तिर्यंच गति पापप्रकृति है।''

दिस बर, 2008

45. लॅध्यपर्याप्त तिर्यञ्च के नरकायु व देवायु का बन्ध नहीं

जिज्ञासा- ल ध्यपर्याप्त तिर्यञ्च देवायु तथा नरकायु का बन्ध कर सकता है या नहीं ?

समाधान- गो मटसार कर्मकाण्ड गाथा 109 में उपर्युक्त प्रश्न के सन्दर्भ में इस प्रकार कहा है-

सामण्णतिरियपंचिंदियपुण्णगजोणिणीसु एमेव।
सुरणिरयाउ अपुण्णे वेगुव्वियछक्कमवि णत्थि।।

अर्थ- सामान्य, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्त, योनिमति और ल॰ ध्यपर्याप्त के भेद से तिर्यञ्च पाँच प्रकार के हैं। प्रथम चार प्रकार के तिर्यञ्चों में तो पूर्व गाथा में कहे अनुसार बन्धव्युच्छि॰ ा आदि जानना किन्तु ल॰ ध्यपर्याप्त तिर्यञ्च में देवायु, नरकायु और वैक्रियिकषट्क (देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर तथा वैक्रियिक अङ्गोपाङ्ग) इन आठ का बन्ध नहीं होता है।

उपर्युक्त गाथा के अनुसार **ल॰ ध्यपर्याप्त तिर्यञ्च जीवों के नरकायु एवं देवायु का बन्ध नहीं होता है** अर्थात् वे मरकर नारकी या देव नहीं बनते हैं।

46. नारकी जीवों का शरीर सप्तधातुरहित नहीं होता है

जिज्ञासा- ॰ या नारकी जीवों का मूल शरीर सप्तधातुमय होता है या यह उनकी विक्रिया है?

समाधान- आपने अपनी जिज्ञासा के साथ 'जैन तǎव विद्या' पृष्ठ 68 का प्रमाण भेजा है, जिसके अनुसार वैक्रियिक शरीर होने के बाद भी उनका शरीर सप्तधातुमय होता है।

आपने दूसरा प्रमाण तǎवार्थवार्तिक पृष्ठ 445 (3/3) का ोजा है, जिसके अनुसार 'यद्यपि उन नारकियों का शरीर वैक्रियिक है तथापि उसमें इस औदारिक शरीरगत मलमूत्रादि से अधिक अशुभ खँकार, मूत्र, मल (टट्टी), रुधिर, मज्जा, पीव, वमन, मांस, केश, हड्डी, चर्म आदि वीभत्स सामग्री रहती है, इसलिए उनकी देह अति अशुभतर है।'

उपर्युक्त आगम प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि नारकियों के शरीर में धातुएँ होती हैं और वे धातुएँ, महान् अशुभनामकर्म के उदय के कारण अत्यंत दुर्गन्धयुक्त एवं सड़ी हुई अशुभ होती हैं।

हम सभी स्वाध्यायी जनों की यह धारणा बनी हुई है कि वैक्रियिक शरीर धातुमय नहीं होता। जबकि आगम में वैक्रियिक शरीर की परिभाषाओं में यह कहीं भी लिखा हुआ नहीं मिलता कि वैक्रियिक शरीर सप्तधातुमय नहीं होता है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार (2/36) ''अणिमा महिमा आदि आठ गुणों के ऐश्वर्य के संबंध से एक, अनेक, छोटा, बड़ा आदि नाना प्रकार का शरीर करना विक्रिया है। वह विक्रिया जिस शरीर का प्रयोजन है, वह वैक्रियिक शरीर है।'' मैंने पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज से जब इस संबंध में चर्चा की थी, तब उन्होंने कहा था कि किस शास्त्र में ऐसा लिखा है कि वैक्रियिक शरीर सप्तधातुरहित होता है? अर्थात् वैक्रियिक शरीर के सप्तधातुरहित होने का प्रकरण आगम में नहीं मिलता। अतः हम सबको अपनी धारणा उपर्युक्त प्रमाणानुसार ऐसी बना लेनी चाहिए कि नारकियों के शरीर में अत्यंत अशुभ रुधिर, हड्डी आदि धातुएँ स्वभाव से पाई जाती हैं।

मई, 2009

47. नरक में उत्पǐा का कारण : नरकगति या नरकायु

जिज्ञासा- नरकगति के उदय से नारक पर्याय मिलती है या नरकायु के उदय से मिलती है?

समाधान- श्री धवला पु. 10, पृष्ठ 239 में इस प्रकार कहा हैं- **''जिस्से गईए आउअं बद्धं तत्थेव णिच्छएण उपज्जति ि।''** **अर्थ**- जिस गति की आयु बाँधी गई है, निश्चय से वहाँ ही उत्पन्न होता है।

यदि यहाँ कोई यह शंका करे कि नरकगति के उदय एवं सžव के कारण नरक पर्याय मिलती है, तो उनका यह कहना ठीक नहीं है। योंकि हम मनुष्यों के उदयावली में चारों गति का उदय रहता है, परन्तु मनुष्य गति के अलावा अन्य तीन गति नामकर्म की प्रकृतियाँ संक्रमित होकर मनुष्यगति रूप उदय में आती हैं। जहाँ तक नरकगति के स व का प्रश्न है, श्री धवला पु.1, पृष्ठ-326 पर इसप्रकार कहा गया है— ''नरक गति का सžव भी (स यग्दृष्टि के) नरक में उत्पि का कारण कहना ठीक नहीं है, €योंकि नरकगति के सžव के प्रति कोई विशेषता न होने से सभी पन्चेन्द्रियों की नरकगति का प्रसंग आ जायेगा। जैसे नित्यनिगोदिया जीवों के भी त्रसकर्म की सžा विद्यमान रहती है, इसलिए उनकी भी त्रसों में उत्पि होने लगेगी।''

अत: जिस आयु का उदय होता है, उसी के अनुसार पर्याय मिलती है, ऐसा मानना ही आगमस मत है।

नव बर, 2008

48. नरक की मिट्टी की दुर्गन्ध से जीवों के मरणस बन्धी दो मत

जिज्ञासा- नरक की मिट्टी की दुर्गन्ध के स बन्ध में कोई मुनिराज एवं विद्वान् एक कोस से चार कोस तक के जीवों के मरण की बात कहते हैं, और कोई आधे कोस से साढ़े चौबीस कोस की बताते हैं। इन दोनों में से कौनसी मानने योग्य है ?

समाधान- नरक की मिट्टी की मारकशक्ति के स बन्ध में वि ान्न शास्त्रों में उपर्यु€त दोनों प्रकार के मत मिलते हैं। अत: हम छद्मस्थों के द्वारा दोनों ही मतों को स्वीकार करना उचित है। प्रमाण इस प्रकार हैं-

1. एक कोस से चार कोस तक की मारकशक्ति का प्रमाण-

अ. श्रीतिलोयपण्णि में इस प्रकार कहा है-

घ माए आहारो कोसस्सŽभंतरि म ठिद-जीवे।
इह मारइ गंधेणं सेसे कोसद्ध-वड्ढिया सžी॥ 2/349॥

अर्थ- घर्मा पृथ्वी में जो आहार (मिट्टी) है, उसकी गंध से यहाँ मध्यलोक में एक कोस के भीतर स्थित जीव मर सकते हैं, इसके आगे शेष दूसरी आदि पृथ्वियों में इसकी घातक शक्ति आधा-आधा कोस और भी बढ़ती गई है (जो सप्तम नरक में चार कोस है।)

श्री तिलोयपण्णि के अलावा अन्य किसी ग्रन्थ में इस प्रकार का वर्णन पढ़ने में नहीं आता है।

2. आधा कोस से साढ़े चौबीस कोस तक की मारकशक्ति के प्रमाण-

अ. हरिवंश पुराण सर्ग 4 में कहा है-

क्रोशार्द्धं मृ ाकागन्धः प्रथमे पटले व्रजेत्।
तदधोऽधः क्रोशस्यार्द्धं वर्द्धते पटलं प्रति॥ 342॥

अर्थ- प्रथम पृथ्वी स बन्धी पहले पटल की मिट्टी की दुर्गन्ध आधा कोस तक जाती है और उसके नीचे प्रत्येक पटल के प्रति आधा-आधा कोस अधिक बढ़ती जाती है।

भावार्थ- सातों पृथ्वियों में पटलों की कुल सं या 49 है। तदनुसार प्रथम पटल की आधा कोस तक दुर्गन्ध जाती है और उसके बाद प्रति पटल में आधा-आधा कोस वृद्धि होने से सातवें नरक के पटल की साढ़े चौबीस कोस तक दुर्गन्ध जाती है। अर्थात् वहाँ की मिट्टी की इतनी मारकशक्ति है।

ब. रत्नकरण्डक श्रावकाचार की टीका में पं0 सदासुखदास जी ने पृष्ठ 283 पर लिखा है कि 'जो सातवें नरक की मिट्टी का एक कण भी यहाँ आ जाए तो साढ़े चौबीस कोस के चारों तरफ पंचेन्द्रिय जीव दुर्गन्ध के कारण मरण को प्राप्त हो जाय। €योंकि एक-एक नरक पटल की मिट्टी की दुर्गन्ध में आधा-आधा कोस के अधिक-अधिक जीव मारने की शक्ति है, इसलिये सातवें नरक के 49वें पटल की मिट्टी की दुर्गन्ध में साढ़े चौबीस कोस पर्यन्त की मारक शक्ति कही गयी है।

श्री त्रिलोकसार पृष्ठ 190, सिद्धान्तसार दीपक गाथा 53 तथा लोकविभाग पृष्ठ 158 पर भी उपर्युक्त प्रकार से प्रथम पटल की मारक शक्ति आधे कोस तथा बाद में प्रत्येक पटल पर आधा-आधा कोस बढ़ती हुई होकर सातवें नरक के एक मात्र पटल में साढ़े चौबीस कोस मारकशक्ति का कथन किया गया है। सिद्धान्तसार संग्रह, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, तǍवार्थवृǐा आदि शास्त्रों में इस स बन्ध में कोई वर्णन नहीं मिलता है।

इस प्रकार मात्र तिलोयपण्णǐा में एक कोस से लेकर चार कोस तक की मारकशक्ति का उल्लेख है तथा अन्य सभी शास्त्रों में आधा कोस से साढ़े चौबीस कोस तक का वर्णन प्राप्त होता है।

दिस बर, 2010

49. नरकों में अन्धकार होने पर भी आपसी मारपीट कैसे सं व?

जिज्ञासा- नरकों में तो घना अंधकार होता है। फिर नारकी एक दूसरे को पहचान कर मार-पीट कैसे करते होंगे?

समाधान- नरकों में घोर अंधकार स्वभाव से ही होता है। जैसा नि नप्रमाणों से ज्ञात होता है:-

1. तिलोयपण्णǐा 2/102 में कहा है-

उǍापद्ण्णय मज्झे हों तिहु वहवो असंख वित्थाटा।
संखेज्जावास जु॥ ॥ थोवा होर-तिमिर-संजु॥ ॥॥ 102॥

अर्थ- पूर्वो€त प्रकीर्णक बिलों में, असं यात योजन विस्तार वाले बिल बहुत हैं। और सं यात योजन विस्तार वाले थोड़े हैं। ये सब बिल घोर अंधकार में व्याप्त रहते हैं।

1. श्री त्रिलोकसार में भी इसी प्रकार कहा है-

कुहिदादइदुग्गंधा णिरया णिच्चंधयारचिदा॥ 178॥

अर्थ- उन बिलों में अत्यंत दुर्गंध है तथा वहाँ सदैव अंधकार व्याप्त रहता है।

इसी प्रकार उन नरकों में सदैव घोर अंधकार व्याप्त रहता है। इस पर आपका यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि फिर नारकी एक दूसरे को कैसे देख पाते होंगे? मैंने इस प्रश्न को विभिन्न शास्त्रों में अच्छी तरह ढूंढा, पर कहीं भी उ ार न मिलने पर, यह प्रश्न मैंने पू.आचार्य विद्यासागरजी महाराज को निवेदित किया था। पू. आचार्यश्री ने बताया कि जैसे उल्लू को रात्रि में ही दिखता है दिन में नहीं, उसी प्रकार इन नारकियों को भी ऐसे

ही कर्म का उदय मानना चाहिये जिससे उनको अंधकार में भी सब कुछ दिखायी देता हो। हमें भी अपनी मान्यता तदनुसार बनानी चाहिये।

मार्च, 2007

50. नरकों में पाये जानेवाले सिंह आदि नारकियों की ही विक्रिया है

जिज्ञासा- नरकों की गुफाओं में शेर आदि पशु पाये जाते हैं। ? या वह नारकियों की विक्रिया होती हैं ?

समाधान- नरकों की गुफाओं में जो सिंह, व्याघ्र आदि पाये जाते हैं, वह नारकियों की ही अपृथक् विक्रिया कही गयी है। नरक में तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय जीव तो होते ही नहीं है। इस स बन्ध में श्री सिद्धान्तसार दीपक ग्रन्थ में इस प्रकार कहा गया है-

भीमा गिरिगुहा बह्व्यः सिंहव्याघ्रादिभिर्भृताः।
क्रूरैर्मांसाशिभिर्नागैर्भवन्ति नरकेषु च॥ 3/11॥
वज्रचञ्चुपुटाः क्रूराः पक्षिणोऽति ायङ्कराः।
उत्पतन्ति वनेष्वत्र नारकाङ्गादिभक्षकाः॥ 3/12॥

अर्थ- नरकों में पर्वतों की भयङ्कर गुफाएँ हैं, जो सदा नागों, सिंहों और व्याघ्र आदि मांसभक्षी एवं क्रूरपरिणामी पशुओं से व्याप्त रहती हैं तथा वहाँ के वनों में वज्र के सदृश कठोर चोंचवाले दुष्ट और भयङ्कर पक्षी उड़ते रहते हैं, जो नारकियों के शरीर का भक्षण करके उन्हें दु:ख पहुंचाते हैं।

विशेषार्थ- नारकी जीवों के वैक्रियिक शरीर होता है और अपृथक् विक्रिया के प्रभाव से नारकी जीव स्वयं पशु-पक्षियों का रूप धारण कर लेते हैं। अत: वहाँ मांसभक्षण आदि की मात्र क्रिया ही होती है अर्थात् उस प्रकार की क्रियाओं के द्वारा वे एक-दूसरे को दु:ख देते हैं। यथार्थ में मांसभक्षण आदि नहीं करते।

जुलाई, 2010

51. सभी देवों का जन्म के बाद अभिषेक नहीं होता

जिज्ञासा- ? या भवनवासी देवों का भी जन्म के बाद अभिषेक होता है ?

समाधान- वैमानिक देवों का तो जन्म के बाद अभिषेक होता ही है, यह तो सबको ज्ञात है। आपका तात्पर्य यहाँ भवनत्रिक देवों से है। इस संबंध में तिलोयपण्णÞी अ. 3/226 में इस प्रकार कहा है:-

पठमं दहण्हदाणं तÞो अभिसेय-मंडव-गदाणं।
सिंहासण ट्ठिदाणं, एदाण सुरा कुणंति अ ासेयं॥ 225॥

अर्थ- सर्वप्रथम स्नान करके, फिर अभिषेक-मंडप के लिये जाते हुये (तुरंत उत्पन्न) देव को सिंहासन पर बैठाकर ये (अन्य) देव अभिषेक करते हैं।

उपरो€त गाथा से स्पष्ट होता है कि भवनवासी देवों का, उत्पन्न होने के बाद अभिषेक किया जाता है। परंतु ऐसा कथन व्यंतर एवं ज्योतिषी देवों के वर्णन में, किसी भी शास्त्र में उपलÞध नहीं होता है। इससे यह मानना चाहिये कि भवनवासी देवों का तो जन्म के बाद अभिषेक होता है, अन्य व्यंतर एवं ज्योतिषी का नहीं होता।

मार्च, 2007

52. पंचमकाल के जीवों की स्वर्गों में कहाँ तक उत्पत्ति?

जिज्ञासा- क्या वर्तमान के मुनिराज समाधिमरण पूर्वक देहत्याग कर सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होकर एक भवावतारी बन सकते हैं ?

समाधान- स्वर्ग में किन जीवों की कहां तक उत्पत्ति होती है, इस संबंध में सिद्धांतसार-दीपक में इस प्रकार कहा है-

सौधर्माद्यष्टनाकेषु षट्संहननसंयुताः।
यान्ति शुक्रादिकल्पेषु चतुर्षु चान्तिमं विना॥ 15/294॥
पञ्चसंहनना आनताद्येष्वन्य चतुर्षु च।
चतुःसंहनना जीवा, गच्छन्ति पुण्यपाकतः॥ 15/295॥
नवग्रैवेयकेषु त्र्युत्तमसंहननान्विताः।
जायन्ते मुनयो दक्षा नवानुदिशनामनि॥ 15/296॥
अन्त्य द्विसंहननाद्या यान्ति रत्नत्रयार्जिताः।
पंचानुत्तरसंज्ञे चादिसंहननभूषिताः॥ 15/297॥

अर्थ- सौधर्मादि आठ स्वर्गों में छहों संहनन वाले जीव उत्पन्न होते हैं। शुक्रादि चार स्वर्गों में (9,10,11,12वें) अंतिम संहनन छोड़कर पांच संहनन वाले जीव तथा आनतादि (13,14,15,16वें)चार स्वर्गों में अंत के दो संहनन छोड़कर शेष चार संहनन वाले जीव पुण्योदय से उत्पन्न होते हैं। नवग्रैवेयकों में तीन उत्तम संहननधारी मुनिराज, नव अनुदिशों में आदि के दो संहननों से युक्त मुनिराज तथा पंच अनुत्तरों में प्रथम संहननवाले मुनिराज उत्पन्न होते हैं।

उपरोक्त प्रमाण से ज्ञात होता है कि सर्वार्थसिद्धि नामक अनुत्तर विमान में केवल वज्रवृषभनाराच नामक प्रथम संहननवाले मुनिराज ही उत्पन्न होते हैं। इस पंचम काल में केवल तीन हीन संहनन (अर्द्धनाराच, कीलक, असंप्राप्तासृपाटिका) वाले मनुष्य ही होते हैं। अतः वर्तमान के कोई भी मुनिराज सोलहवें स्वर्ग से ऊपर उत्पन्न नहीं हो सकते। अर्थात् सर्वार्थसिद्धि में वर्तमान के कोई भी मुनिराज उत्पन्न नहीं हो सकते।

जहाँ तक एक भवावतारी बनने का प्रश्न है, वर्तमान के मुनिराज सौधर्मेन्द्र व दक्षिणेन्द्र (यदि उनके क्षायिक सम्यक्त्व नियामक न हो तो), सौधर्म इन्द्र की शची, सौधर्म इन्द्र के लोकपाल तथा लौकांतिक देव बनकर, वहां से च्युत हो मनुष्य पर्याय प्राप्तकर मोक्ष जा सकते हैं।

सित बर, 2007

53. निर्ग्रन्थ मुनि का उपपाद किन स्वर्गों में

जिज्ञासा- मुनियों के पाँच भेदों में जो निर्ग्रन्थ भेद है, उनका उपपाद पहले-दूसरे स्वर्ग तक कहा गया है। निर्ग्रन्थों का गुणस्थान 11वाँ भी है। तो क्या 11वें गुणस्थान वाले मुनि मरण करके सौधर्म-ऐशान स्वर्ग में उत्पन्न हो सकते हैं ?

समाधान- आपका प्रश्न बहुत उचित है। निर्ग्रन्थ मुनिराजों का गुणस्थान 11वाँ एवं 12वाँ होता है। 12वें गुणस्थानवर्ती मुनिराज तो उसी भव से मोक्ष पधारते ही हैं, जबकि 11वें गुणस्थान वाले निर्ग्रन्थों का

भवक्षय हो जाने पर मरण भी संभव है। सर्वार्थसिद्धि 9/47 की टीका में उपपाद का वर्णन करते हुए आ. पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि-

''सर्वेषामपि जघन्यः सौधर्मकल्पे द्विसागरोपमस्थितिषु।''

अर्थ- इन स ाी का (पुलाक से लेकर निर्ग्रन्थ तक मुनियों का) जघन्य उपपाद सौधर्म कल्प में दो सागरोपम की स्थिति वाले देवों में होता है। राजवार्तिक में भी इसी प्रकार कथन है।

यहाँ विचारणीय विषय है कि €या 11 वें गुण-स्थान में उत्कृष्ट शु€ललेश्या में मरण कर मुनिराज सौधर्म कल्प में पीत लेश्या में उत्पन्न हो सकते हैं ?

इस संबंध में नि न प्रमाणों पर विचार करना उचित है-1. राजवार्तिक 4/22/10 में इस प्रकार कहा है-

अर्थ- उत्कृष्ट शु€ल लेश्यावाला आत्मा मरण करके सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त होता है। मध्यम शु€ल लेश्या परिणामों से आनत स्वर्ग से लेकर सर्वार्थसिद्धि से पूर्व तक उत्पन्न होता है तथा जघन्य शु€ल लेश्या से शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार को जाता है। उत्कृष्ट पद्म लेश्या परिणामों से सहस्रार, मध्यम पद्म लेश्या से ब्रह्म स्वर्ग से शतार तक तथा जघन्य पद्म लेश्या से सानत्कुमार तथा माहेन्द्र में उत्पन्न होता है। उत्कृष्ट पीत लेश्या से सानत्कुमार-माहेन्द्रकल्प के चक्रेन्द्रक श्रेणी विमान तक, मध्यम पीत लेश्या से चन्द्रादि तक तथा जघन्य पीत लेश्या से सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के प्रथम इन्द्रक श्रेणी विमान तक उत्पन्न होता है।

भावार्थ- 11वें गुणस्थान मेंं निर्ग्रन्थ मुनिराजों की उत्कृष्ट शु€ल लेश्या होती है, अतः यदि वे 11वें गुणस्थान में मरण करते हैं, तो उनका जन्म सर्वार्थसिद्धि विमान में होना चाहिये, ऐसा उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट होता है।

2. श्री धवला पु. 2 पृ. 559 पर इस प्रकार कहा है-

प्रश्न- असंयत स यग्दृष्टि देवों के अपर्याप्त काल में औपशमिक स य€त्व कैसे पाया जाता है ?

उ ार-बेदक स य€त्व को उपशमाकर के और उपशम श्रेणी में चढ़कर फिर वहाँ से उतरकर प्रमžासंयत, अप्रमžासंयत, असंयत और संयतासंयत उपशम स यग्दृष्टि गुणस्थानों से मध्यम तेजोलेश्या में परिणत होकर और मरण करके सौधर्म-ऐशान कल्पवासी देवों में उत्पन्न होनेवाले जीवों में अपर्याप्त काल में औपशमिक स य€त्व पाया जाता है। तथा उपर्युक्त गुणस्थानवर्ती ही जीव (यथायोग्य उžारोžार विशुद्ध लेश्या से मरण करे तो) सानत्कुमार और माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोžार, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार कल्पवासी देवों में उत्पन्न होते हैं। तथा उपशम श्रेणी पर चढ़कर के और पुनः उतरकर के मध्यम शु€ल लेश्या से परिणत होते हुए यदि मरण करते हैं तो उपशम स य€त्व के साथ आनत-प्राणत, आरण-अच्युत और नव ग्रैवेयक विमानवासी देवों में उत्पन्न होते हैं। तथा पूर्वोक्त स यग्दृष्टि जीव ही उत्कृष्ट शु€ल लेश्या को परिणत होकर यदि मरण करते हैं तो उपशम स य€त्व के साथ 9 अनुदिश और पाँच अनुžारवासी देवों में उत्पन्न होते हैं। इस कारण सौधर्मस्वर्ग से लेकर ऊपर के सभी असंयत स यग्दृष्टि देवों के अपर्याप्त काल में औपशमिक स य€त्व पाया जाता है।

भावार्थ- श्री धवला जी के उपुर्यक्त प्रमाण से यह स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थ मुनिराजों का सौधर्म कल्प में उपपाद तब ही संभव है **जब वे 11वें गुणस्थान की उत्कृष्ट शु€ल लेश्या से गिरकर चौथे से सातवें**

गुणस्थान तक मध्यम तेजोलेश्या में आकर मरण करें। अर्थात् 11वें गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ मुनिराज मरण करके सौधर्म ऐशान कल्प में उत्पन्न नहीं हो सकते, जब तक कि वे मध्यम तेजोलेश्या में तथा चौथे से सातवें गुणस्थान तक में आकर मरण न करें। यदि वे 'निर्ग्रन्थ' अवस्था में ही मरण करते हैं अर्थात् 11 वें गुणस्थान में मरण करते हैं, तो उनका जन्म अनुदिश और अनुŽार विमानों में ही होगा, उससे नीचे नहीं।

अप्रैल, 2009

54. मुनिराज ही अगले भव में इन्द्र बन सकते हैं

जिज्ञासा- □ या मुनि ही अगले भव में इन्द्र बनते हैं या अन्य भी ?

समाधान- इस प्रकरण में श्री आदिपुराण भाग 2 पृष्ठ 257 पर कहा है-

तथायोगं समाधाय कृतप्राणविसर्जनः।
इन्द्रोपपादमाप्नोति गते पुण्ये पुरोगताम्॥ 190॥
इन्द्राः स्युस्त्रिदशाधीशास्तेषूत्पादस्तयोबलात्।
यः स इन्द्रोपपादः स्यात्क्रियाऽर्हन्मार्गसेविनाम्॥ 191॥

अर्थ- ऊपर लिखे अनुसार योगों का समाधान कर, अर्थात् मन, वचन, काय को स्थिर कर जिसने प्राणों का परित्याग किया है, ऐसा साधु पुण्य के आगे-आगे चलने पर इन्द्रोपपाद क्रिया को प्राप्त होता है॥ 190॥ देवों के स्वामी इन्द्र कहलाते हैं, तपश्चरण के बल से उन इन्द्रों में जन्म लेना इन्द्रोपपाद कहलाता है। वह इन्द्रोपपाद क्रिया अर्हत्प्रणीत मोक्षमार्ग का सेवन करनेवाले जीवों के ही होती है॥ 191॥

उपर्युक्त प्रमाण के अनुसार महान् तपस्वी, मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधु ही इन्द्रपद प्राप्त करते हैं, अन्य नहीं।

अप्रैल, 2009

55. नित्यनिगोदिया के पञ्चपरावर्तन कैसे

जिज्ञासा : नित्य निगोदिया जीव अभी निगोद से ही नहीं निकले हैं तो उनके पंचपरावर्तन कैसे गिनें ?

समाधानः नित्यनिगोद के जीव अभी तक निगोद से नहीं निकले हैं। उन जीवों ने त्रस पर्याय या नरक-मनुष्य-देव गति को प्राप्त ही नहीं किया है, अतः इनके स बन्ध में पंचपरावर्तन का कथन नहीं सिद्ध होता है। बृहद् द्रव्य संग्रह गाथा-35 की टीका में इस प्रकार कहा है-

'अयं तु विशेषः-नित्यनिगोदजीवान् विहाय, पञ्चप्रकारसंसारव्या यानं ज्ञातव्यम्। कस्मादिति चेत् नित्यनिगोदजीवानां कालत्रयेऽपि नास्तीति।'

अर्थ- यहाँ विशेष यह है कि नित्यनिगोद के जीवों को छोड़कर पाँच प्रकार के संसार का व्या यान जानना। यहाँ प्रश्न ऐसा €यों ? उŽार-€योंकि नित्यनिगोद के जीवों को तीनों कालों में भी त्रसपना नहीं है।

जनवरी-फरवरी, 2006

56. चतुर्गति निगोद का स्वरूप

जिज्ञासा- चतुर्गति निगोद किसे कहते हैं ?

समाधान- इस श□ द की परिभाषा श्री धवला पु. 14, पृष्ठ 236 पर इस प्रकार कही है -

'' जे देव-णेरइय-तिरि€ख-मणुस्सेसुप्पज्जियूण पुणो णिगोदेसु पविसिय अच्छंति ते चदुगइणिगोदा भण्णंति।''

अर्थ- जो निगोदजीव देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्यों में उत्पन्न होकर पुन: निगोद जीवों में प्रविष्ट होते हैं, वे चतुर्गति निगोद कहलाते हैं।

अगस्त, 2006

57. पृथ्वीकायिक आदि के शरीर में निगोदिया जीव हैं या नहीं

जिज्ञासा- ? या पृथ्वीकायिक आदि में निगोदिया जीव नहीं होते ?

समाधान- श्री षट्खण्डागम पु. 14 सूत्र 120 में इस प्रकार कहा है-

''तत्थ जे ते साहारणसरीरा ते णियमा वणप्फदिकाइया। अवसेसा पÄोयसरीरा।

अर्थ- उनमें अर्थात् प्रत्येक व साधारण शरीरवालों में, जो साधारणशरीर अर्थात् निगोदिया जीव हैं वे नियम से वनस्पतिकायिक होते हैं। अवशेष अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक तथा वायुकायिक स्थावर जीव प्रत्येक शरीर हैं।''

श्री जीवकाण्ड गाथा 200 में इस प्रकार कहा है

पुढिवीआदिचउण्हं केवलियाहारदेवणिरयंगा।
अपदिट्ठिदा णिगोदेहिं पदिट्ठिदंगा हवे सेसा।।

अर्थ- पृथिवी आदि चार स्थावरकायिकों का शरीर, केवलियों का शरीर, आहारकशरीर, देवनारकियों का शरीर अप्रतिष्ठित है, अर्थात् इनमें निगोदिया जीव नहीं पाये जाते। शेष जीवों के शरीर निगोद से प्रतिष्ठित होते हैं।

जुलाई, 2006

58. बादर एवं सूक्ष्म निगोद का सर्वलोक में निवास

जिज्ञासा- ? या बादर एवं सूक्ष्म निगोदिया जीव सारे लोक में भरे हैं ?

समाधान- श्री धवला पु.4 पृ.100 सूत्र 25 में इस प्रकार कहा है-

'वणप्फदि-काइय-णिगोद-जीवा बादरा सुहुमापज्जÄापज्जता केवडि खेÄो ? सव्वलोगे॥ 25॥

अर्थ- बादर, सूक्ष्म, पर्याप्तक और अपर्याप्तक वनस्पतिकायिक निगोदजीव कितने क्षेत्र में रहते हैं? सर्वलोक में रहते हैं।

भावार्थ- सूक्ष्म निगोदिया वनस्पतिकायिक जीव तो पूरे लोक में भरे हुये हैं। ये जीव तो सिद्धालय में भी भरे हुये हैं, परंतु बादर निगोदियाजीव क्षेत्र की अपेक्षा त्रसजीवों के औदारिक शरीरों में, सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति में तथा आठों पृथ्वियों के आश्रय से रहते हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक इन चारों स्थावरों के शरीर में, आहारक शरीर में, केवलियों के शरीर में तथा देव और नारकियों के वैक्रियिक शरीर में नहीं पाये जाते हैं।

फरवरी, 2009

59. वातवलयों में ाी जीवों का सद्भाव

जिज्ञासा— ा या वातवलयों में जो वायु है, उसमें वायुकायिक जीव होते हैं या नहीं ? या वह वायुकाय है।

समाधान— इस जिज्ञासा के समाधान में श्री मूलाचार गाथा ख्क्ख में इस प्रकार कहा है—

वादुŸभामो उक्कलि मंडलि गुंजा महा घण तणू य।
ते जाण वाउजीवा जाणिŸा परिहरेदव्वा॥

अर्थ— घूमती हुई वायु, उत्कलिरूप वायु, मंडलाकार वायु, गुंजावायु, महावायु, घनवातवलय की वायु, और तनुवातवलय की वायु को वायुकायिक जीव जानो। जानकर उनका परिहार करो।

आचारवृ+ (आचार्य वसुनंदि) वात श द से सामान्य वायु को कहा है। जो वायु घूमती हुई ऊपर को उठती है, वह उद्भ्रमवायु है। जो लहरों के समान होती है वह उत्कलिरूप वायु है। पृथ्वी में लगकर घूमती हुई वायु मंडलिवायु है। गूँजती हुई वायु गुंजावायु है। वृक्षादि को गिरा देनेवाली वायु महावायु है। घनवातवलय, तनुवातवलय की वायु घनाकार है और पंखे आदि से की गई वायु अथवा लोक को वेष्टित करनेवाली वायु तनुवात है। उदर में स्थित पाँच प्रकार की वायु होती है। अर्थात् हृदय में स्थित वायु प्राणवायु है। गुदा में स्थित अपानवायु है। नाभिमंडल में समान वायु है। कंठप्रदेश में उदानवायु है और संपूर्ण शरीर में रहनेवाली वायु व्यानवायु है। ये शरीर संबंधी पांच वायु हैं। इसी प्रकार से ज्योतिष्क आदि स्वर्गों के विमान के लिये आधारभूत वायु, भवनवासियों के स्थान के लिये आधारभूत वायु इत्यादि वायु के भेद, इन्हीं उपर्युक्त भेदों के अंतर्गत आते हैं। इन्हें वायुकायिक जीव जानो और जानकर उनका परिहार करो, ऐसा तात्पर्य है।

दिस बर, 2007

60. दो इन्द्रियों का उपयोग युगपत् नहीं होता है

जिज्ञासा- पू. आचार्यश्री ने दूसरे अध्याय की वाचना में कहा था कि एक समय में एक इन्द्रिय संबंधी उपयोग ही होता है। परन्तु टी.वी. देखते समय हम देखते भी हैं और सुनते भी हैं ऐसा ा यों ?

समाधान- आपके प्रश्न का समाधान कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 259 में अच्छी तरह समझाया है। जो इस प्रकार है-

पंचिदिय णाणाणं मज्झे एगं च होदि उवजुŸां।
मण-णाणे उवजुŸो इंदियणाणं ण जाणेदि॥

अर्थ- पाँचों इन्द्रिय में से एक समय में एक ही ज्ञान का उपयोग होता है तथा मनोज्ञान का उपयोग होने पर इन्द्रियज्ञान नहीं होता।

भावार्थ- सैनी पंचेन्द्रिय जीव को पाँच इन्द्रिय तथा मन, इन छह के निमि ा से मतिज्ञान होता है। परन्तु एक समय में इन छह में से किसी एक के ही निमिŸा से ज्ञान होता है, जब मन से आत्मा जान रहा होता है तब पांचों इन्द्रियों से नहीं जानता है।

यदि ऐसा है तो प्रश्न उठता है कि हाथ की कचौड़ी खाने पर घ्राण इन्द्रिय उसकी गंध को सूंघती है, श्रोत्रेन्द्रिय कचौड़ी के चबाने के शŸद को ग्रहण करती है, चक्षु कचौड़ी को देखती है, हाथ को उसके गर्म होने

का ज्ञान रहता है और जिव्हा उसका स्वाद लेती है, इस तरह पांचों इन्द्रिय ज्ञान एक साथ होते स्पष्ट यों दिखाई देते हैं ? इसके समाधान में कार्तिकेय स्वामी कहते हैं-

ए€केकाले ए€कं णाणं जीवस्स होदि उवजुॅं।
णाणा णाणाणि पुणो, लद्धि सहावेण वुच्चंति॥ 260॥

अर्थ- जीव के एक समय में एक ही ज्ञान का उपयोग होता है। किन्तु ला धरूप से एक समय में अनेक ज्ञान कहे हैं।

भावार्थ- प्रत्येक क्षायोपशमिक ज्ञान की दो अवस्थायें होती हैं- एक लॅधरूप और एक उपयोगरूप। अर्थ को ग्रहण करने की शक्ति का नाम लॅध है और अर्थ को ग्रहण करने का नाम उपयोग है। लॅधरूप में एक साथ अनेक ज्ञान रह सकते हैं किन्तु उपयोगरूप में एक समय में एक ही ज्ञान होता है। जैसे- पांचों इन्द्रियजन्य ज्ञान तथा मनोजन्य ज्ञान, ला धरूप में हमारे में सदा रहते हैं, किन्तु हमारा उपयोग जिस समय जिस वस्तु की ओर होता है, उस समय केवल उसी का ज्ञान हमें होता है। कचौड़ी खाते समय भी जिस समय हमें उसकी गंध का ज्ञान हो रहा होता है, उस समय रस का ज्ञान नहीं होता। जिस समय रस का ज्ञान हो रहा होता है उस समय स्पर्श का ज्ञान नहीं होता। किन्तु उपयोग की चंचलता के कारण कचौड़ी के गंध, रस, स्पर्श वगैरह का ज्ञान इतनी शीघ्रता से होता है कि हमें समय भेद का ज्ञान नहीं होता। तब ही हम यह समझ लेते हैं कि पाँचों ज्ञान एक साथ हो रहे हैं। किन्तु यथार्थ में पाँचों ज्ञान क्रम से ही होते हैं अत: उपयोगरूप ज्ञान एक समय में एक ही होता है।

टी.वी. देखते समय भी ऐसा ही समझना चाहिये। हम को ऐसा लगता है कि हम देख ी रहे हैं और सुन भी रहे हैं। वास्तव में ऐसा उपयोग की चंचलता से प्रतीत होता हैं। सच तो यह ही है कि छहों में से एक ज्ञान उपयोग में रहता है, शेष पांच ला ध में रहते हैं। जैसे- कौएँ के आँख की दो गोलक होती हैं परन्तु उनमें पुतली एक ही होती है। हम कौएँ को बडी गौर से देखें, तो भी लगेगा कि दोनों गोलकों में पुतली है। जबकि वास्तविकता यह है कि उसके पुतली एक ही होती है। वह उसे इतनी तेजी से घुमाता है कि ऐसा लगता है कि दोनों गोलकों में पुतली हैं। एक पुतली होने से ही कौआ काना कहा जाता है।

यह भी समझना चाहिये कि जब आत्मा को दर्शन हो रहा होता है तब ज्ञान नहीं होता, जब मतिज्ञान हो रहा है तब श्रुत ज्ञान नहीं होता, जब अवग्रह हो रहा होता है तब ईहा नहीं होता, जब व्यंजनावग्रह हो रहा होता है तब अर्थावग्रह नहीं होता आदि।

अप्रैल, 2008

61. विकलत्रय जीव लेच्छखण्ड में होते हैं पर भोगभूमि में नहीं

जिज्ञासा- विकलत्रय जीव लेच्छ खण्डों में तथा भोगभूमियों में पाये जाते हैं अथवा नहीं ?

समाधान- सभी भोगभूमियों में विकलत्रय जीव नहीं पाये जाते हैं, जैसा श्री धवला पु0 4, पृष्ठ-3 पर इस प्रकार कहा है-

मानुषो ारपर्यन्तसन्ति परस्ता ो यथा परे॥ 633॥

इस ओर विकलेन्द्रिय जीव मानुषोǯार पर्वत तक ही रहते हैं। उस ओर स्वय भूरमण द्वीप के अर्ध भाग से लेकर अन्त तक पाये जाते हैं। अर्थात् बीच के असं यात द्वीप समुद्रों में विकलत्रय जीव नहीं पाये जाते।

2. सिद्धान्तसारदीपक, (भट्टारक सकलकीर्ति विरचित) के अधिकार-10 श्लोक नं0 404 में इस प्रकार कहा है-

शेषासं यसमुद्रेषु मत्स्याद्या जातु सन्ति न।
भोगक्ष्मामध्यभागे स्थितेषु द्वयक्षादयो न वा॥

अर्थ- शेष असं यात समुद्रों में मत्स्य आदि जीव कभी भी नहीं पाये जाते। भोगभूमि क्षेत्रों में द्वीन्द्रिय आदि जीव पैदा नहीं होते हैं।

3. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 142 में इसप्रकार कहा है-

वि-ति-चउर€खा जीवा हवंति णियमेण क म-भूमीसु।
चरिमे दीवे अद्धे चरमसमुद्दे वि सव्वेसु॥ 142॥

अर्थ- दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय और चौ इन्द्रिय जीव नियम से कर्मभूमि में ही होते हैं। तथा अन्त के आधे द्वीप में और अन्त के सारे समुद्र में होते हैं।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों के अनुसार विकलेन्द्रिय जीव ढाई द्वीप की समस्त कर्मभूमियों में तथा अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप के अर्ध भाग से लेकर स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त तक पाये जाते हैं। लेच्छखण्ड कर्मभूमि के अन्तर्गत ही आते हैं। अत: समस्त आर्यखण्डों में, लेच्छ खण्डों में, विजयार्ध पर्वत की नगरियों में तथा विदेहक्षेत्र आदि में विकलत्रय जीव पाये जाते हैं।

मानुषोǯार पर्वत के पर भाग से लेकर स्वयंभूरमण द्वीप के अर्ध भाग तक जघन्य भोगभूमि है, उसमें यद्यपि विकलत्रय जीव नहीं पाये जाते हैं, परन्तु श्री धवला पु0 7, पृष्ठ 397 के अनुसार पूर्व बैरी के प्रयोग से भोगभूमि प्रतिभाग रूप द्वीपसमुद्रों में पड़े हुए तिर्यंच शरीरों में त्रस अपर्याप्तकों की उत्पǯि होती है। अर्थात् कोई बैरी देव किसी पंचेन्द्रिय तिर्यंच को भोगभूमि में ले जाकर पटक दे, तो उसके शरीर में विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पǯि होती हुई देखी जाती है।

जून, 2009

62. तीनों योगों की प्रवृ ा युगपत् संभव है या नहीं

जिज्ञासा : तीनों योगों की प्रवृ ा युगपत् होती है या अलग-अलग ?

समाधान : उपर्युक्त विषय पर श्रीधवला पु. 1/279 तथा श्री धवला पु. 7/77 में अच्छा प्रकाश डाला गया है, जिसका भावार्थ यह है कि तीनों योगों की प्रवृ ा एक साथ नहीं होती है, अन्यथा एक साथ मानने पर आत्मा में योग नहीं बन सकेगा। यदि कोई कहे कि लोक में सिनेमा आदि देखते समय या क्रिकेट का मैच आदि देखते समय तीनों योगों की प्रवृ ा दिखाई देती है ? इसका उ ार यह है कि योग और प्रवृ ा में अन्तर होता है। मन-वचन-काय के व्यापार को प्रवृǯि कहते हैं, जब कि आत्मा के प्रयत्न को योग कहा जाता है। प्रवृǯि तो तीनों योगों की एक साथ हो सकती है, परन्तु आत्मा का प्रयत्नरूप योग एक समय में एक ही होता

है। जैसे - किसी यात्री की अटैची कोई चोर लेकर भाग जाता है। वह यात्री उस चोर के पीछे दौड़ भी रहा है, चीख भी रहा है और सोच भी रहा है कि अटैची कैसे मिले। यहाँ तीनों योगों की प्रवृ। । एक साथ हो रही है, परन्तु आत्मा का प्रयत्न रूप योग केवल एक ही हो सकता है, तीनों नहीं। अर्थात् जब उसका प्रयत्न चीखने रूप रहता है तब वचन रूप प्रयत्न रहता है, मन एवं काय रूप नहीं। जब तेज दौड़ने रूप प्रयत्न रहता है, तब कायरूप प्रयत्न है, मन एवं वचन रूप नहीं, आदि। इससे स्पष्ट है कि योगों की प्रवृ।ा एक साथ होते हुए भी, आत्मा का प्रयत्नरूप योग तो एक समय में एक योग का ही होता है।

अप्रैल, मई, जून, 2006

63. मिश्र काययोग का स्वरूप

जिज्ञासा- मिश्र काययोग का स्वरूप समझाइये ?

समाधान- जब कोई जीव मरकर तिर्यंच या मनुष्य के औदारिक शरीर में उत्पन्न होता है, तब जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, तब तक कार्मण एवं औदारिक वर्गणाओं के द्वारा, जीव के प्रदेशों में जो परिस्पंदन होता है वह औदारिक मिश्र काययोग कहलाता है। गो मटसार जीवकांड में इस संबंध में इस प्रकार कहा है-

ओरालिय उ।त्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं।
जो तेण संपजोगो, ओरालियमिस्सजोगो सो॥ 231॥

अर्थ- औदारिक शरीर जब तक पूर्ण नहीं होता है अर्थात् शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है, तब तक मिश्र है और उसके द्वारा होने वाले योग को औदारिक मिश्रकाययोग कहते हैं।

मिश्र काययोग तीन होते हैं। उपर्यु€त प्रकार से ही, जब तक वैक्रियिक शरीर की, शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, तब तक वैक्रियिकमिश्र काययोग तथा आहारक शरीर की शरीर पर्याप्ति पूर्ण न होने तक आहारकमिश्र काययोग कहलाता है।

निष्कर्ष यह है कि शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने से पूर्व, जब तक कार्मण एवं अन्य शरीर संबंधी वर्गणाओं (दोनों के द्वारा मिलकर) द्वारा आत्म प्रदेशों में परिस्पंदन होता है, उसे मिश्र काययोग कहते हैं।

सित बर, 2007

64. एकान्तानुवृद्धि योग या है

जिज्ञासा- एकान्तानुवृद्धि योग या होता है ?

समाधान- जो मन-वचन-काय का व्यापार होता है, उसे योग कहते हैं। वह योग गो मटसार कर्मकाण्ड गाथा 218 के अनुसार तीन प्रकार का कहा गया है-

उपपाद योग- उत्पन्न होने के प्रथम समय में उपपाद योग स्थान होता है, इसका जघन्य व उत्कृष्ट काल एक समय है। जो वक्रगति से नवीन पर्याय को प्राप्त हो उसके जघन्य उपपाद योग स्थान होता है, और जो ऋजुगति से नवीन पर्याय को धारण करे उसके उत्कृष्ट उपपाद योग स्थान होता है।

एकान्तानुवृद्धि योग- उत्पन्न होने के द्वितीय समय से लेकर शरीरपर्याप्ति से अपर्याप्त रहने के अन्तिम समय तक एकान्तानुवृद्धि योग होता है। विशेष यह है कि ल ध्यपर्याप्तक जीवों के अपनी आयु के 2/3 भाग

तक एकान्तानुवृद्धि योग होता है तदुपरान्त परिणाम योगस्थान होता है।

परिणामयोग स्थान- पर्याप्त होने के प्रथम समय से लेकर आगे सब जगह परिणामयोग ही होता है। यह निर्वृŽयपर्याप्तकों के नहीं होता। अपनी-अपनी आयु के अन्तसमय तक ये योगस्थान उत्कृष्ट भी होते हैं और जघन्य भी होते हैं।

जनवरी, 2010

65. औदारिकमिश्र काययोग में मिश्र वर्गणाएँ आती हैं : दो मत

जिज्ञासा- औदारिकमिश्र काययोग में औदारिकमिश्र वर्गणाओं का ग्रहण होता है या औदारिक+कार्मण वर्गणाओं का?

समाधान- इस संबंध में आचार्यों के दो मत हैं-

1. श्री धवला एवं गो मटसार जीवकाण्ड (गाथा ख्क्क) के अनुसार औदारिक वर्गणा और कार्मण वर्गणा इन दोनों के निमिŽा से, शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के पूर्व अन्तर्मुहूर्त काल तक औदारिकमिश्र काययोग होता है।

2. उपर्युक्त जिज्ञासा के उ ार में श्री सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपाद स्वामी का मत इस प्रकार है-

'वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे सति औदारिकादि- सप्त-विधकायवर्गणान्यतमाल बनापेक्ष आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः काययोगः।' (6 / 1)

अर्थ- वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम होने पर औदारिकादि सात प्रकार की कायवर्गणाओं में से किसी एक प्रकार की वर्गणाओं के आल बन से होने वाला आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन काययोग कहलाता है।

भावार्थ- कायवर्गणा सात प्रकार की होती है- औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र एवं कार्मण। इससे यह स्पष्ट होता है कि शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने से पूर्व तक औदारिकमिश्र काययोग अवस्था में वह मनुष्य या तिर्यंच जीव, औदारिकमिश्र वर्गणाओं का ग्रहण करता है।

इस प्रकार आचार्यों के दोनों मत स्वीकार करने योग्य हैं।

अप्रैल-मई, 2010

66. €या अकेला मतिज्ञान होना स भव है

जिज्ञासा- एक जीव के €या केवल मतिज्ञान ही होना संभव है, जब कि प्रत्येक जीव में कम से कम मति और श्रुत, ये दो ज्ञान तो पाये ही जाते हैं।

समाधान- तŽवार्थसूत्र अध्याय 1/30 में कहा है-

'एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतु र्यः'।

अर्थ- एक आत्मा में एक को आदि लेकर एक साथ चार ज्ञान तक भजनीय हैं।

भावार्थ- यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान, दो हों तो मति एवं श्रुत, तीन हों तो मति, श्रुत, अवधि या मति, श्रुत एवं मनःपर्यय तथा चार हों तो मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्यय।

उपर्युक्त सामान्य अर्थ के अनुसार प्रत्येक संसारी जीव के मति एवं श्रुत ये दोनों ज्ञान अवश्य पाये जाते हैं। परन्तु राजवार्तिक में इस सूत्र की टीका करते हुए अकलंकदेव ने एक विशेष व्या या इस प्रकार भी दी है-

'सं यावचनोऽयमेकशŠदः।' एकमादिर्येषां तानीमान्येकादीनि। कथम्? मतिज्ञानमेकस्मिन्नात्मनि एकम्, यदक्षरश्रुतं द्वयनेकद्वादशभेदमुपदेशपूर्वकं तद्भजनीयम् स्याद्वा न वेति।'

अर्थ- एक शŠद सं यावाची है। इसलिए एक है आदि में जिसके वह एकादीनि है। इससे आत्मा में एक अकेला मतिज्ञान भी हो सकता है, योंकि उपदेशपूर्वक होने वाला जो दो-अनेक-बारह भेद रूप अक्षर श्रुत है वह भजनीय है, अर्थात् किसी के होता है और किसी के नहीं। भावार्थ- तात्पर्य यह है कि किसी आत्मा में मतिज्ञान तो हो, परन्तु श्रुतज्ञान के अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट, इन दोनों भेदों में से कोई भी ज्ञान न हो, तो इस जीव के केवल एक मतिज्ञान भी संभव है।

यहाँ यह भी जानने योग्य है कि उपर्युक्त कथन आत्मा में लŠध की अपेक्षा होने वाले ज्ञानों की अपेक्षा है। उपयोग में तो प्रत्येक जीव के एक समय में एक ही ज्ञान हो सकता है, इससे अधिक नहीं। जैसे जब अवधिज्ञानरूप उपयोग रहता है, तब अन्य कोई भी ज्ञान उपयोग में नहीं रहता।

अप्रैल, मई, जून, 2006

67. अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट का स्वरूप

जिज्ञासा- अङ्गबाह्य तथा अङ्गप्रविष्ठ का या स्वरूप है और इसके कितने भेद हैं?

समाधान- अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट के संबंध में आचार्यों का कथन दो प्रकार से पाया जाता है। श्री धवलाकार तथा जीवकाण्डकार का मत अलग है जबकि तŠवार्थसूत्र और उसकी टीकाओं में भिन्न मत पाया जाता है। सर्वप्रथम तŠवार्थसूत्र और उसकी टीकाओं के आधार से लिखते हैं।

1. तŠवार्थसूत्र 1/20 में इस प्रकार कहा है-

'श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदं'

अर्थ- श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है उसके दो भेद हैं, अङ्गबाह्य अनेक प्रकार का है और अङ्गप्रविष्ठ 12 प्रकार का है। इस सूत्र को स्पष्ट करते हुए श्री राजवार्तिक में कहा गया है कि श्रुत अर्थ के ज्ञाता गणधर देव के शिष्य- प्रशिष्यों के द्वारा कालदोष से अल्पआयु और अल्प बुद्धिवाले प्राणियों के अनुग्रह के लिये अङ्गों के आधार से रचे गये संक्षिप्त ग्रंथ अङ्गबाह्य हैं तथा भगवान् अरहंत सर्वज्ञदेवरूपी हिमाचल से निकली हुई वचनरूपी गङ्गा के अर्थरूपी निर्मल जल से प्रक्षालित है अंतरकरण जिनका, ऐसे बुद्धि आदि ऋद्धि के धनी गणधरों के द्वारा ग्रंथरूप से रचित आचारादि 12 अङ्गों को अङ्गप्रविष्ठ कहते हैं जैसे- आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग आदि।

भावार्थ- तŠवार्थसूत्र की पर परा में अङ्गप्रविष्ठ गणधरदेव के द्वारा कथित तथा उसके आचाराङ्गादि 12 भेद हैं जबकि अङ्गबाह्य की रचना आरातीय आचार्यों के द्वारा की जाती है और वह अनेक प्रकार का है। जैसे- समयसार, द्रव्यसंग्रह आदि।

अब श्री धवला/ जीवकाण्ड के कथन का उल्लेख किया जाता है-

जीवकाण्ड गाथा 349 के अनुसार ग्रंथरूप श्रुतज्ञान के (अङ्गप्रविष्ठ के) आचाराङ्गादि 12 तथा अङ्गबाह्य के सामायिकादि 14 भेद हैं। सामायिक, चतुर्विंशस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उŠराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प्य, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्रीक, निषिद्धिका।

उपर्युक्त के अनुसार अङ्गप्रविष्ठ के आचाराङ्गदि 12 भेद हैं और अङ्गबाह्य के सामायिकादि 14 भेद हैं तथा दोनों के कर्ता गणधरदेव ही हैं।

उपर्युक्त दोनों मतों को दृष्टि में रखने से यह स्पष्ट होता है कि अङ्गप्रविष्ठ के भेद और क ार्ा के संबंध में सभी आचार्य एक मत है अर्थात् अङ्गप्रविष्ट के आचाराङ्गादि 12 भेद हैं और इनके कर्ाा स्वयं गणधरदेव ही हैं जबकि अङ्गबाह्य के संबंध में तर्वार्थसूत्र की पर परा के अनुसार इसके अनेक भेद होते हैं और इसकी कर्ता आरातीय आचार्य पर परा है और जीवकाण्ड के अनुसार अङ्गबाह्य के 14 भेद होते हैं और इनकी रचना स्वयं गणधर देव द्वारा की जाती है।

अ टूबर, 2007

68. स्वर्गों में अवधिज्ञान के क्षेत्र का प्रमाण

जिज्ञासा- स्वर्गों में अवधिज्ञान का क्षेत्र कितना है ?

समाधान- सिद्धांतसार दीपक 15/201-212 के आधार से स्वर्गों में अवधिज्ञान का क्षेत्र इस प्रकार है-

सौधर्म-ऐशान स्वर्ग-	पहली पृथ्वी तक
सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग-	दूसरी पृथ्वी तक
पांचवें से आठवें स्वर्ग तक-	तीसरी पृथ्वी तक
नौवें से बारहवें स्वर्ग तक-	चौथी पृथ्वी तक
तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग तक-	पांचवी पृथ्वी तक
नवग्रैवेयक के अहमिन्द्र-	छठी पृथ्वी तक
9 अनुदिश के अहमिन्द्र-	सातवीं पृथ्वी तक
5 अनु ारवासी अहमिन्द्र-	संपूर्ण लोकनाड़ी

जून-जुलाई, 2007

69. भवप्रत्यय अवधिज्ञान अपर्याप्त अवस्था में €यों नहीं

जिज्ञासा- देव तथा नारकियों में उत्पन्न होने वाला भवप्रत्यय अवधिज्ञान, भव के कारण होता है। तो फिर जन्म से यों नहीं होता ?

समाधान- देव तथा नारकियों के पर्याप्तक हो जाने पर ही अवधिज्ञान की उत्पर्ाि होती है। इसलिये जब तक वह जीव पर्याप्तक नहीं हो जाता तब तक भवप्रत्यय अवधिज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। इस स बन्ध में श्री धवला पुस्तक क्प/ख- में इस प्रकार कहा है-

जदि भवमेर्ामोहिणाणस्स कारणं होज्ज तो देवेसु णेरइएसु वा उप्पणपढमसमए ओहिणाणं किण्ण उप्पज्जदे। ण एस दोसो ओहिणाणुप्पर्ाीए छहि पज्जर्ाीहि पज्जर्ायद-मवग्गहणादो।

प्रश्न- यदि भव मात्र ही अवधिज्ञान का कारण है, तो देवों और नारकियों में उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही अवधिज्ञान €यों नहीं उत्पन्न होता।

उ ार-यह कोई दोष नहीं है, €योंकि छह पर्याप्तियों से पर्याप्त भव को ही यहाँ अवधिज्ञान की उत्पर्ाि का कारण माना गया है।

अप्रैल, 2007

70. विभंगज्ञान गुणप्रत्यय भी, भवप्रत्यय भी

जिज्ञासा- विभंगावधिज्ञान गुणप्रत्यय है या भवप्रत्यय ? समझाइयेगा।

समाधान- मिथ्यादृष्टि जीवों को जो अवधिज्ञान होता है, वह विभंगावधि कहलाता है। देव तथा नारकी जीवों में अवधिज्ञान नियम से पाया जाता है। अत: जो देव या नारकी मिथ्यादृष्टि होते हैं, उनको होनेवाला अवधिज्ञान विभंगावधि है और वह भवप्रत्यय (जिसमें वह भव ही कारण हो) होता है।

मनुष्य तथा तिर्यंच मिथ्यादृष्टि जीवों के विभंग ज्ञान दो प्रकार से पाया जाता है।

(1) जिन स यग्दृष्टि जीवों को अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, यदि वे मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं, तो उनका अवधिज्ञान विभंगावधि हो जाता है।

(2) मिथ्यादृष्टि मनुष्य एवं तिर्यंचों में विभंगावधि ज्ञान की उत्पǐा भी देखी जाती है। जैसा गो मटसार जीवकांड गाथा 305 की टीका में कहा है-

''मिथ्यादर्शन- कलङ्कितस्य जीवस्य अवधिज्ञानावरणीयवीर्यान्तराय क्षयोपशमजनितं—विपरीतग्राहकं तिर्यग्मनुष्यगत्योः तीव्रकाय€लेशद्रव्यसंयमरूपगुणप्रत्ययं—अवधिज्ञानं विभंगमिति।''

अर्थ-मिथ्यादृष्टि जीवों के अवधिज्ञानावरण एवं वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न, विपरीत ग्रहण करने वाला, तिर्यंच तथा मनुष्यगति में, तीव्र काय€लेशरूप द्रव्यसंयम से उत्पन्न गुणप्रत्यय विभंगावधि है।

उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार तिर्यंच तथा मनुष्यों में होनेवाला विभंगावधि, गुणप्रत्यय होता है। विशेष यह भी जानना चाहिये कि इसका उत्कृष्ट एवं जघन्यकाल अंतर्मुहूर्त ही होता है।

जून-जुलाई, 2008

71. सर्वावधिज्ञान का विषय परमाणु : दो मत

जिज्ञासा- €या सर्वावधि अवधिज्ञान परमाणु को जानता है या नहीं ?

समाधान- सर्वावधिज्ञान परमाणु को जानता है या नहीं, इस संबंध में आचार्यों के दो मत प्राप्त होते हैं। तǔवार्थसूत्र के टीकाकारों के अनुसार, सर्वावधि अवधिज्ञान परमाणु को नहीं जानता है, जबकि धवला और गो मटसार-जीवकाण्ड के अनुसार सर्वावधि अवधिज्ञान परमाणु को जानता है। इस संबंध में नि न आगम प्रमाण जानने योग्य हैं-

1. सर्वार्थसिद्धि 1/24 की टीका में इस प्रकार कहा है- ''कार्मण द्रव्य का अनन्तवाँ अन्तिम भाग सर्वावधिज्ञान का विषय है। उसके भी अनन्त भाग करने पर जो अंतिम भाग प्राप्त होता है, वह ऋजुमति मन: पर्ययज्ञान का विषय है। ऋजुमति के विषय के अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है, वह विपुलमति का विषय है। अनन्त के अनन्त भेद हैं अत: ये उ ारो ार सूक्ष्म विषय बन जाते हैं।''

भावार्थ- सर्वावधिज्ञान तथा दोनों मन:पर्ययज्ञान उǔारोǔार सूक्ष्म स्कन्ध को विषय करते हैं परमाणु को नहीं। राजवार्तिक 1/24/2 में तथा श्रुतसागरीय तǔवार्थवृǐा में भी इसीप्रकार कहा है। श्लोकवार्तिक खण्ड 4, पृष्ठ 66-68 पर भी यही कथन प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि तǔवार्थसूत्र के टीकाकारों की पर परा परमाणु को सर्वावधि अवधिज्ञान तथा किसी भी मन:पर्यय ज्ञान द्वारा जानने योग्य नहीं मानती है।

श्री धवला पु. 9/48 में सर्वावधि का विषय परमाणु कहा गया है। गो मटसार जीवकाण्ड में तो एक

गाथा ही इस संबंध में इसप्रकार कही गई है-

सव्वावहिस्स ए€को परमाणु होदि णिव्वियप्पो सो।
गंगामहाणइस्स पवाहोव्व धुवो हवे हारो॥ 415॥

अर्थ- सर्वावधि का विषय एक परमाणु मात्र है, वह निर्विकल्प रूप है। भागहार गंगा महानदी के प्रवाह के समान ध्रुव है।

भावार्थ- यहाँ सर्वावधि का विषय परमाणु कहा गया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि तŽवार्थसूत्र के **'तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य'** 1/28 के अनुसार जो रूपी द्रव्य सर्वावधिज्ञान का विषय है, उसके अनन्त भाग करने पर उसके एक भाग में मनःपर्ययज्ञान प्रवृ ा होता है, ऐसा कहा गया है। परन्तु धवला पु. 9 में कहीं पर भी यह नहीं कहा गया, €योंकि वे सर्वावधिज्ञान का विषय परमाणु स्वीकार करते हैं और धवला 9/63 तथा 68 के अनुसार मनःपर्ययज्ञान का विषय स्कन्ध बताया है।

अ टूबर, 2009

72. 'णमो अणंतोहिजिणाणं' का अर्थ

जिज्ञासा - 'णमो अणंतोहिजिणाणं' श द का या अर्थ है ?

समाधान - इस श द का अर्थ होता है 'अनंतावधि जिनों को नमस्कार हो' अर्थात् जिनके ज्ञान की अवधि अर्थात् सीमा अनन्त है, ऐसे अर्हत्परमेष्ठी को नमस्कार है। जैसा कि धवला पुस्तक -9,पृ. 51-52 पर कहा है-

''अणंते ĭि उŽो उक्कस्साणंतस्स गहणं ..... उक्कस्साणंतो ओही जस्स सो अणंतोही अधवावयविणासाणं वाचओ अंतसद्दो घेŽाव्वो। ओही मज्जायां, उक्कसाणंतादो पुधभूदा। अंतश्च अवधिश्च अन्तावधी, न विद्यते तौ यस्य स अनन्तावधिः। अभेदाज्जी-वस्यापीयं संज्ञा। अनन्तावधि-जिनाः।''

अर्थ - अनंत ऐसा कहने पर उत्कृष्ट अनंत का ग्रहण करना चाहिए। ..... उत्कृष्ट अनंत सीमा जिसकी हो वह अनंतावधि है। अथवा जघन्य के विनाश के लिये कहने योग्य अंत शŽद का ग्रहण करना योग्य है। अवधि शŽद मर्यादा वाचक है। जो अनन्त शŽद से पृथग् ाूत है, जिसका अन्त भी है, सीमा भी है वह अंतावधि है और जिसका न अंत है और न सीमा है वह अनंतावधि है। अभेददृष्टि से जीव की भी यही संज्ञा है अर्थात् अनंतावधि जिन।

भावार्थ - जिसका अंत ाी नहीं है और सीमा भी नहीं है ऐसे केवलज्ञान के धारी अर्हन्तों को नमस्कार हो।

सित बर, 2006

73. मनःपर्यय ज्ञान द्वारा चिन्तित विषय

जिज्ञासा- मनःपर्ययज्ञान के द्वारा अर्द्धचिन्तित, अचिन्तित एवं चिन्तित अर्थ जाना जाता है। इससे या जानना चाहिये ?

समाधान- उपर्युक्त प्रश्न के समाधान में श्री धवला पु.13, पृ.73 पर इस प्रकार कहा है-

चिन्ता में अर्द्धपरिणत, चिन्तित वस्तु के स्मरण से रहित और चिन्ता में अव्यापृत मन अव्यक्त कहलाता

है, इससे भिन्न मन व्यक्त कहलाता है। व्यक्त मनवाले और अव्यक्त मनवाले जीवों के चिन्ता के विषय को मन:पर्ययज्ञानी जानता है। जिसका विचार किया जा रहा है या अर्द्धविचार किया जा रहा है तथा भविष्य में जिसका विचार किया जाएगा उस सब अर्थ को जानता है।

भावार्थ- अचिन्तित से तात्पर्य है कि जिसका भविष्यकाल में चिन्तन किया जाएगा। अर्द्धचिन्तित का अर्थ है- जिसका अधूरा विचार किया गया है। चिन्तित का अर्थ स्पष्ट है।

जून, 2010

74. अनंतानुबंधी की विसंयोजना के बिना भी उपशम श्रेणी स भव

जिज्ञासा - €या अनंतानुबंधी की विसंयोजना बिना भी, उपशमश्रेणी आरोहण हो सकता है ?

समाधान - इस संबंध में निम्न आगम प्रमाण विचारणीय हैं -

1. पंचसंग्रह (प्रा.) 910 के अनुसार 11 वें गुणस्थान में 146 प्रकृतियों का सžव बताया गया है, अर्थात् 148 प्रकृतियों में से नरक आयु और तिर्यञ्च आयु को छोड़कर, 146 प्रकृतियाँ स[] ा में रह सकती हैं। इसके अनुसार अनंतानुबंधी की विसंयोजना के बिना उपशम श्रेणी संभव है।

2. श्री राजवार्तिक अ. 2/3 की टीका में इस प्रकार कहा है - अनंतानुबंधी, अप्रत्या यान, प्रत्या यान और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ ये 16 कषाय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये 9 नोकषाय, मिथ्यात्व, स यग्मिथ्यात्व और स यक्प्रकृति ये तीन दर्शनमोह, इस प्रकार 28 मोहनीय कर्म के भेदों के उपशमन से आत्म परिणामों की जो निर्मलता होती है, उसको औपशमिक चारित्र कहते हैं।

इस आगम प्रमाण के अनुसार भी 11 वें गुणस्थान में अनंतानुबंधी की सžा सिद्ध होती है। उपर्युक्त दोनों प्रमाणों के अनुसार, यह स्पष्ट है कि अनंतानुबंधी की विसंयोजना बिना भी उपशम श्रेणी आरोहण हो सकता है।

नव बर, 2006

75. स य€त्व के साथ चारित्र होने का नियम नहीं

जिज्ञासा- स यग्दर्शन के साथ स यक्चारित्र होने का नियम है या नहीं ?

समाधान- स यग्दर्शन के साथ स यक्चारित्र का अविनाभावी संबंध नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान में स यग्दर्शन तो होता है परंतु स यक्चारित्र नहीं होता। आगम में स यक्चारित्र के तीन भेद कहे हैं और उनके गुणस्थान इस प्रकार बताये गये हैं।

1. औपशमिक चारित्र- गुणस्थान 8 से 11 तक।
2. क्षायिक चारित्र- गुणस्थान 8 से 14 तक।
3. क्षायोपशमिक चारित्र- गुणस्थान 6 एवं 7।

इसके अलावा संयमासंयम रूप देश चारित्र, मात्र पांचवें गुणस्थान में होता है।

उपरो€त के अलावा जो सामायिक आदि 5 प्रकार का चारित्र कहा है, वह भी मात्र मुनिराजों के ही होता है। इसप्रकार चतुर्थ गुणस्थान में कोई भी संयम रूप स यक्चारित्र नहीं होता है। अर्थात् स यग्दर्शन के साथ

स यक्चारित्र का अविनाभावी संबंध नहीं है। इस संबंध में आचार्यों के प्रमाण भी उपलŽध हैं जो इस प्रकार हैं-

1. श्री राजवर्तिक में इस प्रकार कहा है-

''स यग्दर्शनस्य स यग्ज्ञानस्य वा अन्यतरस्यात्मलाभे चारित्रमुŽारं भजनीयम्''

अर्थ- स यग्दर्शन व स यग्ज्ञान की प्राप्ति होने पर चारित्र भजनीय है अर्थात् चारित्र प्राप्त हो भी, और न भी हो।

2. श्री उŽार पुराण में इस प्रकार कहा है-

समेतमेव स य€त्व ज्ञाना यां चरितं मतम्।
स्यातां विनापि ते तेन, गुणस्थाने चतुर्थके॥ 74/543॥

अर्थ- स यक्चारित्र तो स यग्दर्शन एवं स यग्ज्ञान सहित ही होता है। परंतु चतुर्थ गुणस्थान में स यग्दर्शन एवं स यग्ज्ञान, स यक्चारित्र के बिना ही होते हैं।

3. श्री प्रवचनसार / 237 की टीका में, आ. अमृतचन्द्र ने कहा है-

संयम शून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः।

अर्थ- संयम शून्य, श्रद्धा व ज्ञान से सिद्धि नहीं होती।

जून-जुलाई, 2007

76. मनुष्य या तिर्यञ्च आयु बाँधनेवाले के अणुव्रत धारण करने के ाव नहीं होते

जिज्ञासा- €या मनुष्य या तिर्यंच आयु का बंध करनेवाला अणुव्रत तथा महाव्रत धारण कर सकता है?

समाधान- उपर्युक्त विषय पर गो मटसार-जीव-काण्ड गाथा 653 में इस प्रकार कहा है-

चŽारि विखेŽाइं आउगबंधेण होदि स मŽं।
अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोŽुं॥

अर्थ- चारों गति संबंधी आयुकर्म बंध हो जाने पर भी स यग्दर्शन हो सकता है। किन्तु अणुव्रत और महाव्रत देवायु के अतिरिक्त अन्य आयु के बंध होने पर प्राप्त नहीं हो सकते।

भावार्थ- देव और नारकियों के न अणुव्रत होते हैं और न महाव्रत होते हैं। तिर्यंचों के अणुव्रत होते हैं। यदि किसी तिर्यंच को नारक, तिर्यंच या मनुष्यायु का बंध हो गया है, तो उसके अणुव्रत नहीं हो सकते, किन्तु स य€त्व हो सकता है। मनुष्यों के अणुव्रत तथा महाव्रत दोनों हो सकते हैं। यदि किसी मनुष्य को नरक, तिर्यंच या मनुष्यायु में से किसी एक का बंध हो गया है, तो वह अणुव्रत तथा महाव्रत धारण नहीं कर सकता। (किन्तु स य€त्व की उत्पŽि हो सकती है)। देव तथा नारकी के तिर्यंचायु तथा मनुष्यायु का बंध हो जाने पर भी स य€त्व उत्पन्न हो सकता है।

77. परिहारविशुद्धि चारित्र के गुणस्थान

जिज्ञासा- परिहारविशुद्धि चारित्र छठें तथा सातवें गुणस्थान में ही €यों पाया जाता है? €या आठवें आदि गुणस्थानों में इसकी सŽा नहीं रहती?

समाधान- आपकी जिज्ञासा के समाधान में श्री धवला पुस्तक एक पृष्ठ 375-376 में इस प्रकार कहा है-

प्रश्न- ऊपर के आठवें आदि गुणस्थानों में यह परिहारविशुद्धि संयम €यों नहीं होता?

उ॰ ार-नहीं, €योंकि जिनकी आत्मायें ध्यानरूपी सागर में निमग्न हैं, जो वचन यम (मौन) का पालन करते हैं और जिन्होंने आने जाने रूप संपूर्ण शरीर संबंधी व्यापार संकुचित कर लिया है, ऐसे जीवों के शुभाशुभ क्रियाओं का परिहार बन ही नहीं सकता है। ॰ योंकि, गमनागमनरूप क्रियाओं में प्रवृ॰ ा करनेवाला ही परिहार कर सकता है, प्रवृ‡ि नहीं करनेवाला नहीं। इसलिए ऊपर के 8वें आदि गुणस्थानों में परिहारविशुद्धि संयम नहीं बन सकता है।

प्रश्न- परिहारऋद्धि की 8वें आदि गुणस्थानों में भी स‡ा पाई जाती है, अतएव वहाँ पर इस संयम का सद्भाव मान लेना चाहिए।

उ॰ ार-नहीं, €योंकि 8वें आदि गुणस्थानों में परिहार ऋद्धि पायी जाती है, परंतु वहाँ पर परिहार करनेरूप कार्य नहीं पाया जाता, इसलिये 8 वें आदि गुणस्थानों में इस संयम का अभाव है।

उपर्युक्त प्रमाण के अनुसार सप्तम गुणस्थान से ऊपर गमनागमनरूप क्रिया न होने से परिहारविशुद्धि चारित्र तो नहीं पाया जाता, परिहारऋद्धि की स‡ा तो पायी जाती है।

अ॰ टूबर, 2007

78. संयमासंयम एवं संयम की उत्प‡ि में जघन्य आयु का प्रमाण

जिज्ञासा— संयमासंयम और संयम की प्राप्ति कम से कम कितनी आयु में हो सकती है ?

समाधान— उपर्युक्त प्रश्न पर सर्वप्रथम तिर्यंचों द्वारा संयमासंयम की प्राप्ति के संबंध में सबसे कम आयु का विचार करते हैं।

क. श्री धवला ४/ फ्ख में इस संबंध में ख उपदेश प्राप्त होते हैं—

(अ) दक्षिण प्रतिप‡ि के अनुसार गर्भज तिर्यंचों में उत्पन्न हुआ जीव ख मास और मुहूर्त-पृथ€त्व (तीन से नौ के बीच) से ऊपर स य€त्व और संयमासंयम को प्राप्त करता है।

(आ) उ‡ार प्रतिप‡ि के अनुसार वह तीन पक्ष तीन दिवस और अन्तर्मुहूर्त के ऊपर स य€त्व और संयमा संयम को प्राप्त होता है।

ख. सर्वार्थसिद्धि पैरा-- में संयतासंयत का एक जीव की अपेक्षा उत्कृष्ट काल कुछ कम एक करोड़ पूर्व कहा है अर्थात् पूर्वकोटि की आयुवाला जो स मूर्छन तिर्यंच उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त के बाद वेदक स य€त्व के साथ संयमासंयम को प्राप्त करता है, उसके संयमासंयम का उत्कृष्ट काल होता है। यह काल अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि है।

अब मनुष्यों में संयमासंयम तथा संयम प्राप्ति की सबसे कम आयु पर विचार करते हैं।

श्री धवला पुस्तक-क, पृष्ठ-ख्त्र्त्त में कहा है— गर्भ से निकलने के प्रथम समय से लेकर आठ वर्ष बीत जाने पर संयम ग्रहण के योग्य होता है, इसके पहले संयम ग्रहण करने के योग्य नहीं होता, यह इसका भावार्थ है। गर्भ में आने के प्रथम समय से लेकर आठ वर्षों के बीतने पर संयम ग्रहण के योग्य होता है, ऐसा कितने आचार्य कहते हैं, किन्तु वह घटित नहीं होता, €योंकि ऐसा मानने पर 'योनि निष्क्रमण रूप जन्म से' यह सूत्र वचन नहीं बन सकता। यदि गर्भ में आने के प्रथम समय से लेकर आठ वर्ष ग्रहण किये जाते हैं, तो 'गर्भ पतन

रूप जन्म से आठ वर्ष का हुआ' ऐसा सूत्रकार कहते, किंतु उन्होंने ऐसा नहीं कहा है। इसलिए त्र मास अधिक त्त वर्ष का होने पर संयम को प्राप्त करता है, यही अर्थ ग्रहण करना चाहिए, €योंकि अन्यथा सूत्र में 'सर्व लघु' पद का निर्देश घटित नहीं होता।

दिस बर, 2008

79. कषायरहित अवस्था में लेश्या कैसे

जिज्ञासा : कषायों के उदय की अपेक्षा लेश्यायें होती हैं, तो क्षीणकषाय अवस्था में किसी भी प्रकार की लेश्या का अभाव होना चाहिए, जबकि वहाँ शु ललेश्या कही गई है, वह कैसे ?

समाधान : उपर्युक्त के संबंध में सर्वार्थसिद्धि 2/6 में इस प्रकार कहा गया है - **'ननु च उपशान्त कषाये क्षीणकषाये सयोगकेवलिनि च शु€ललेश्यास्तीत्यागमः। तत्र कषायानुरञ्जनाभावादौदयिकत्वं नोपपद्यते। नैष दोषः पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया यासौ योगप्रवृ ाः कषायानुरञ्जिता सैवेत्युपचारादौदयिकीत्युच्यते। तदभावादयोगकेवल्यलेश्य इति निश्चीयते।'**

अनुवाद- प्रश्न- उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली गुणस्थान में शु€ललेश्या है ऐसा आगम है, परन्तु वहाँ पर कषाय का उदय नहीं है, इसलिए औदयिकपना नहीं बन सकता। **उ ार-**यह कोई दोष नहीं है, योंकि जो योगप्रवृ ा कषाय के उदय से अनुरंजित है वही यह है। इस प्रकार पूर्वभाव प्रज्ञापननय की अपेक्षा उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानों में ी लेश्यारूप औदयिक भाव कहा गया है। किन्तु अयोगकेवली के योग प्रवृ ा नहीं है इसलिए वे लेश्या रहित हैं, ऐसा निश्चय है।

1. श्री धवला पु. 1, पृष्ठ 150 में इस प्रकार कहा है ''अकषाय वीतरागियों के केवल योग को लेश्या नहीं कह सकते, ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिए, योंकि लेश्या में योग की प्रधानता है, कषाय प्रधान नहीं है, €योंकि वह योग प्रवृ ा का विशेषण है।''

2. श्री धवला पु. 5, पृष्ठ 105 पर कहा है, ''सचमुच क्षीणकषाय जीवों में लेश्या के अभाव का प्रसंग आता, यदि केवल कषायोदय से ही लेश्या की उत्प ा मानी जाती। किन्तु शरीरनामकर्म के उदय से उत्पन्न योग ी तो लेश्या माना गया है, €योंकि यह भी कर्मबन्ध में निमि ा होता है। इस कारण कषायों के नष्ट हो जाने पर भी योग रहता है, इसलिए क्षीणकषाय जीवों के लेश्या मानने में कोई विरोध नहीं आता।''

3. श्री धवला पु. 1, पृष्ठ 191 पर इस प्रकार शंका की गई है कि जिन जीवों की कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गई है, उनके शु ललेश्या का होना कैसे संभव है ? इसका समाधान - नहीं, योंकि जिन जीवों की कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गई है, उनमें कर्मलेप का कारण योग पाया जाता है, इसलिए इस अपेक्षा से उनके शु ललेश्या मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है, उसे लेश्या कहते हैं। कषाय रहित 11वें, 12वें और 13वें गुणस्थान में योग होने के कारण आस्रव निरन्तर पाया जाता है, इसलिए इन गुणस्थानों में लेश्या का सद्भाव मानना उचित है।

अप्रैल, मई, जून, 2006

80. एकेन्द्रिय जीवों के अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं

जिज्ञासा- □ या एकेन्द्रिय जीव के छहों लेश्या हो सकती हैं ? यदि नहीं, तो कौन-कौन सी हो सकती हैं ?

समाधान- आपके प्रश्न के समाधान में जीवकाण्ड की गाथा क्र0 530 द्रष्टव्य है, जो इस प्रकार है-

णरतिरियाणं ओघो इगिविगले तिण्णिचउ असण्णिस्स।
सण्णि अपुण्णगमिच्छे सासण स मे वि असुहतियं।।

अर्थ- मनुष्य व तिर्यञ्चों में ओघ अर्थात् छहों लेश्याएँ हैं। **एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय** (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय तथा चार इन्द्रिय) **के तीन अशुभ अर्थात् कृष्ण, नील तथा कापोत लेश्या होती हैं,** असैनी पञ्चेन्द्रिय के कृष्ण, नील, कापोत तथा पीत ये चार लेश्या हैं। संज्ञी अपर्याप्तक मिथ्यादृष्टि तथा सासादन स यग्दृष्टि के तीन अशुभ लेश्या होती हैं।

सित बर, 2010

81. अभव्य को किस प्रकार का बंध होता है

जिज्ञासा: □ या अभव्य एवं दूरानुदूर भव्यों को अनादिअनंत बंध होता है तथा मोक्ष प्राप्त करने वाले जीवों को अनादिसान्त बंध होता है, ऐसा मानना उचित है।

समाधान: अभव्य एवं दूरानुदूर भव्य के स बन्ध में, इस प्रकार समझ सकते हैं -

1. भव्य-अनादिसांतबंध-कनकपाषाणवत् (जिसको कभी अनंतानंत काल में मोक्ष प्राप्त होगा)।

2. अभव्य-अनादिअनंत बंध-अन्धपाषाणवत् (जिसमें सोना है ही नहीं। निमिŽा तो मिलेंगे पर सुधरेगा नहीं)

3. अभव्य सम भव्य (दूरानुदूर भव्य) - अनादि सान्त बंध -(□ योंकि उनके संसार नाश की शक्ति है। जयधवला 2/90)- कनकपाषाणवत् (जिसे कभी निमिŽा नहीं मिलेंगे, अत: सुधरेगा नहीं)

तात्पर्य-

1. भव्य में स य€त्व प्राप्त करने की शक्ति है (कभी प्रकट होगी)

2. अभव्य में स य€त्व प्राप्त करने की शक्ति है (प्रकट करने की योग्यता ही नहीं)

3. अभव्य सम भव्य में स य€त्व प्राप्त करने की शक्ति है (प्रकट करने की योग्यता तो है परन्तु निमिŽा नहीं मिलेगा, €योंकि सारे दूरानुदूर भव्य अनादिकाल से नित्यनिगोद में हैं और अनंतानंत काल तक नित्यनिगोद में रहेंगे। निकलने का अवसर ही नहीं मिलेगा।)

उदाहरण-

1. भव्य (पतिसहित पुत्र-प्रसव की योग्यतासहित स्त्री) - कभी पुत्र होगा।

2. अभव्य (बांझ स्त्री के समान) - कभी पुत्र नहीं होगा।

3. अभव्य सम भव्य (विधवा स्त्री के समान जिसके पुत्र प्रसव की योग्यता है)' - पति न होने से कभी पुत्र उत्पन्न होने का प्रसंग ही नहीं आयेगा।

जनवरी-फरवरी, 2006

82. अभव्य और भव्य जीव को कितना श्रुतज्ञान स भव

जिज्ञासा- अभव्य तथा भव्य को कितना अंगपूर्वरूप श्रुतज्ञान स भव है ?

समाधान- नारकी एवं तिर्यञ्चों के किसी भी अंग या पूर्व का ज्ञान स भव नहीं होता है। देवों में सौधर्म इन्द्र, लौकान्तिक देव एवं सर्वार्थसिद्धि के देवों के द्वादशांग का ज्ञान पाया जाता है।

मनुष्यों में अव्रती गृहस्थों के, व्रती गृहस्थों के, क्षुल्लक व ऐलकों के तथा क्षुल्लिकाओं के किसी भी अंग या पूर्व का ज्ञान नहीं होता। शास्त्रों के अनुसार आर्यिकाओं के ग्यारह अंग तक का ज्ञान पाया जा सकता है। जैसे-सुलोचना आर्यिका को ग्यारह अंग का ज्ञान था। निर्ग्रन्थ मुनि लिंग के साथ अभव्यों को ग्यारह अंग तक का ज्ञान हो सकता है। भव्य मिथ्यादृष्टि साधुओं को ग्यारह अंग दस पूर्व तक का श्रुतज्ञान स भव है। दसवें पूर्व विद्यानुवाद का पाठी होने पर समस्त विद्यायें उनके समक्ष आकर निवेदन करती हैं कि हे मुनिराज, हम सब आपको सिद्ध हुई हैं हमें स्वीकार करें और आज्ञा प्रदान करें। यदि वे उनको स्वीकार कर लेते हैं तब वे मिथ्यादृष्टि ही बने रहते हैं और रुद्रों की तरह पतित हो जाते हैं और यदि स्वीकार नहीं करते हैं तो नियम से स यक्दृष्टि भावलिंगी श्रमण होते हुये देवों से पूज्य एवं दसपूर्वित्व नामक बुद्धिऋद्धि के धारी हो जाते हैं। स यग्दृष्टि भावलिंगी मुनिराजों को अंग प्रविष्ट (पूर्ण द्वादशांग) तथा अंगबाह्यरूप पूर्ण श्रुतज्ञान हो सकता है अर्थात् वे श्रुतकेवली बन सकते हैं।

यद्यपि लौकान्तिक आदि देवों को द्वादशांग तक का ज्ञान होता है परन्तु वे श्रुतकेवली नहीं कहलाते। €योंकि श्रुतकेवली पद तो उन्हीं दिग बर मुनिराजों को होता है जो अंगप्रविष्ट के साथ अंगबाह्यरूप श्रुतज्ञान के भी ज्ञाता होते हैं।

अप्रैल, 2007

83. दूरानुदूरभव्य को रत्नत्रय की प्राप्ति कभी नहीं

जिज्ञासा- €या दूरानुदूर भव्य कभी रत्नत्रय का पालन कर सकता है ?

समाधान- दूरानुदूर भव्यों को आगम में अभव्य-समभव्य नाम से कहा गया है। ये वे भव्य हैं जिनकी आत्मा में रत्नत्रय प्राप्त करने की शि€त तो होती है परन्तु तद्योग्य निमिŽा न मिलने के कारण जिनको अनन्तानन्त काल में भी रत्नत्रय की प्राप्ति संभव नहीं है। श्री राजवार्तिक क/फ/- में इस प्रकार कहा है-

केचिद् भव्याः सं येयेन कालेन सेत्स्यन्ति केचिदसं येयेन, केचिदन्तन्तेन, अपरे अनन्तानन्तेनापि न सेत्स्यन्तीति।

अर्थ- कोई भव्य सं यातकाल में, कोई असं यात काल में, तथा कोई अनन्तकाल में मोक्ष जायेंगे। परन्तु कोई अनन्तानन्त काल में भी मोक्ष नहीं जायेंगे।

भावार्थ- जो भव्य सं यातकाल व असं यातकाल में मोक्ष जायेंगे उनको निकट भव्य कहते हैं। जो अनन्त काल में मोक्ष जायेंगे उनको दूर भव्य और जो अनन्तानन्त काल तक भी मोक्ष नहीं जायेंगे उनको अभव्यसमभव्य अथवा दूरातिदूरभव्य कहा जाता है।

श्री षट्खंडागम स्त्र/क्स्त्रम्-क्स्त्रस्त्र में इस प्रकार कहा है:-दूरातिदूरभव्य को स य€त्व की प्राप्ति नहीं होती है। उनको भव्य इसलिए कहा गया है योंकि उनमें शा तरूप से तो संसारविनाश की संभावना है किंतु उसकी

व्या त कभी नहीं होगी।

यह भी विशेष है कि समस्त दूरातिदूर भव्य या अभव्यसमभव्य नित्यनिगोद में ही हैं और अनन्तानन्त काल तक नित्यनिगोद में ही रहेंगे। जिसके कारण भव्य होते हुये भी रत्नत्रय प्राप्ति के योग्य कोई निमिŽा न मिलने से उनको कभी भी रत्नत्रय की प्राप्ति संभव नहीं है।

फरवरी, 2007

84. अभव्य का स्वर्गों में कहाँ तक गमन स भव

जिज्ञासा— या अभव्य नौवें ग्रैवेयक तक जा सकता है ?

समाधान— शास्त्रों में अभव्य का गमन नवें ग्रैवेयक तक कहा है जिसके प्रमाण इस प्रकार हैं—

क. तिलोयपण्णिŽा अधिकार-त्त में इस प्रकार कहा है—

जिणलिंग-धारिणो जे, उ€कट्ठ-तवस्समेण संपुण्णा।
ते जायंति अभव्वा, उवरिम-गेवेज्ज परियंतं॥ भ्त्प॥

अर्थ— जो अभव्यजीव जिनलिंग को धारण करते हैं और उत्कृष्ट तप के श्रम से परिपूर्ण हैं वे उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त उत्पन्न होते हैं।

ख. मूलाचार / भाग ख/ पृष्ठ फ्फ पर इस प्रकार कहा है—

जा उवरिमगेवेज्जं उववादो अभवियाण उ€कस्सो।
उ€केट्ठेण तवेण दु णियमा णिग्गंथलिंगेण॥ क्क्त्रख्त्र॥

अर्थ— अभव्यों का उत्कृष्ट जन्म निश्चित ही निर्ग्रंथ लिङ्ग द्वारा उत्कृष्ट तप से उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त होता है। अर्थात् निर्ग्रंथ मुद्रा एवं उत्कृष्ट तप के धारी अभव्यजीव नौंवे ग्रैवेयक तक जाते हैं।

जनवरी, 2008

85. भव्य जीवों से दूरानुदूर-भव्य अनन्तगुणे हैं

जिज्ञासा- भव्य ज्यादा हैं अथवा दूरानुदूर भव्य ज्यादा हैं। सं या की अपेक्षा बताने का कष्ट करें ?

समाधान- इस संबंध में पंचास्तिकाय गाथा 53 की तात्पर्यवृŽिा टीका जाननी चाहिए, जो इस प्रकार है- **''सहांतेन संसारविनाशेन वर्तन्ते सान्ता भव्याः, न विद्यते अन्तः संसारविनाशो येषां ते पुररनंता अभव्यास्ते चाभव्या अनंतसं याते योपि भव्या अनंतगुणसं यास्ते योप्य-भव्यसमानभव्या अनंतगुणा इति।''**

अर्थ- जिनका अन्त हो अर्थात् जिनके संसार का अंत हो सके, वे जीव सान्त अर्थात् भव्य हैं, व जिनके संसार का अन्त न हो सके, वे जीव अनन्त अर्थात् अभव्य हैं। ये अभव्य जीव अनन्त हैं, इनसे भी अनन्तगुणे भव्य जीव हैं, तथा इन भव्यों से भी अनन्तगुणे अभव्य समान भव्य हैं।

भावार्थ- जीवकाण्ड गाथा-560 में अभव्यजीवों की सं या जघन्य युक्तानंत प्रमाण कही गई है। समस्त संसारीजीवों की **अपेक्षा सबसे कम जघन्ययुक्तानन्त प्रमाण अभव्य हैं, इनसे अनन्तगुणे भव्य हैं और इनसे भी अनन्तगुणे अभव्य समान भव्य (दूरानुदूरभव्य) हैं।**

86. नित्यनिगोद में अभव्य जीव नहीं पाये जाते

जिज्ञासा- नित्यनिगोद में अभव्य हैं या नहीं ?

समाधान- इस स बन्ध में शास्त्रों में कुछ भी स्पष्ट पढ़ने में नहीं आया। पूज्य आचार्यश्री के प्रवचनों में भी इस स बन्ध में कुछ भी सुनने में नहीं आया। इस स बन्ध में पं0 रतनचन्द जी मु तार तथा पू0 आर्यिका विशुद्धमती जी (समाधिस्थ) के विचार इस प्रकार हैं-

स ी अभव्य नियम से व्यवहार राशि में ही हैं। कोई भी अभव्य नित्य निगोद में नहीं है। इसका कारण यह है- अभव्य के लिये बन्ध्या स्त्री का उदाहरण दिया है। बन्ध्या स्त्री को जैसे पुरुष का निमिŽा मिलने पर भी पुत्र नहीं होवे, तब ही तो उसे बन्ध्यापना प्राप्त कहा जायेगा। उसी प्रकार व्यवहार राशि में आकर भी अर्थात् निमि ोां को प्राप्त होकर भी (निमि ा जैसे मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति आदि) मोक्ष का पुरुषार्थ कर ही नहीं सक रहे हैं, इसी कारण तो इन्हें अभव्यत्व प्राप्त है। अन्यथा इनके अभव्यत्व की व्यंजना ी कैसे हो सकती है ? यदि यह कहा जाय कि अभव्य तो सभी नित्यनिगोद में भी हैं तथा कुछ व्यवहार राशि में भी हैं। तथा अनन्त या असं यात वर्षों में एक-एक करके निकलते रहते हैं, सो बात भी नहीं बनती। €योंकि जब एक अभव्य नित्यनिगोद से निकलेगा, तब नित्यनिगोद से भव्य 607 ही निकल पायेंगे और फिर ऐसा होने से भव्यत्व मार्गणा में एक की कमी हो जायेगी। €योंकि अब तक एक अभव्य का भी निकलना मानते रहें, तो इस प्रकार करते-करते जघन्य युक्तानन्त प्रमाण अभव्य निकल जायेंगे। फिर निगोद में एक भी अभव्य नहीं बचेगा। तब फिर अनन्तकाल बाद एक-एक अभव्य के नित्यनिगोद से निकलने का नियम भी समाप्त हो जायेगा। अत: ऐसा मानना कि जैन आगम का कोई नियम शाश्वत नहीं है, कुछ काल के लिये ही है, सो बात जिनशासन के लिये उपयु त नहीं बैठेगी। अत**:सभी अभव्य नित्यनिगोद से बाहर ही हैं, व्यवहार राशि में ही हैं।** यही मान्यता उचित एवं सही प्रतीत होती है। इसी प्रकार सारे दूरातिदूर भव्य भी नित्यनिगोद में सदा से हैं और अनन्तानन्त काल तक वहीं रहेंगे। ा योंकि इनमें से कुछ जीव भी यदि व्यवहार राशि में आ जायें, तो वे निकट भव्य हो जायेंगे। €योंकि इनको शक्ति तो है, पर निमिŽा न मिलने से विधवा स्त्रीवत् ये मोक्ष का पुरुषार्थ नहीं कर पाते। तथा व्यवहार राशि में तो समस्त निमि ा सुलभ हैं। अत: मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति आदि निमि ोां के मिल जाने पर, ये दूरातिदूर भव्य पुरुषार्थ करके मोक्ष चले जायेंगे। अत: निष्कर्ष यही है कि **समस्त दूरातिदूर भव्य नित्यनिगोद में ही हैं तथा अनन्तानन्त काल तक नित्यनिगोद में ही रहेंगे।**

आशा है स्वाध्यायी महानुभाव उपर्युक्त समाधान पर अच्छी तरह विचार करेंगे।

सित बर, 2010

87. क्षायिक स य€त्व के लिए प्रथम संहनन आवश्यक

जिज्ञासा: €या क्षायिक स यग्दर्शन किसी भी संहननधारी जीव के होना संभव है ?

समाधान: श्री सन्तक मपज्जिया के अनुसार दर्शनमोह को क्षपण करने की शक्ति केवल वज्रऋषभनाराच संहननधारी जीवों के ही पाई जाती है। प्रमाण इस प्रकार है- पृष्ठ 79 पर लिखा है-

''पुणोवि अंतिम पंचसंहणाणि असंखेज्ज गुणाणि। कुदो ? दुविह संजमगुणसेढिसी समएणŽभहिंय मणंताणुबंधि विसंयोजयण गुणसेढिसीसयाणिŽा तिण्णिवि एगट्ठं काऊण णामक म संबंधीणं

अट्ठावीसेण वा तीसेण वा भजिदमेतं होदिट्ठि। किमट्ठं दंसणमोह€खवणगुणसेढीण घेप्पदे? ण, तं खवण (त€खणं) सट्ठी एदेसि संहंडणाणं उदयसहिदजीवाणं णत्थि ट्ठि अभिप्पयादो। विदियतदियमिदिमिदि दोण्हं संहडणाणं उवसंत कसायगुणसेढि किं णमहिदा? ण, दंसणमोह€खवणा सट्ठिविरहिदाणं उवसमसेढि चडणसट्ठीण संभव विरोहो होदि ट्ठि अभिप्पाएण।''

अर्थ: अंतिम पाँच संहनन असं यात गुने हैं। दो प्रकार के संयम गुणश्रेणि शीर्ष और उनसे गुणित अनंतानुबंधी विसंयोजन गुणश्रेणिशीर्ष, इन तीनों को एकत्र करके नामकर्म स बन्धी अट्ठाईस अथवा तीस प्रकृतिक स्थान से भाग देने पर होता है। दर्शनमोह क्षपक-गुणश्रेणि का ग्रहण €यों नहीं किया? इन संहननों के उदयसहित जीवों के दर्शनमोह को क्षपण करने की शक्ति नहीं है। इस अभिप्राय से उसका ग्रहण नहीं किया। दूसरे और तीसरे संहनन वालों की उपशांतकषाय गुणश्रेणि का ग्रहण €यों नहीं किया? जिनके दर्शनमोह को क्षपण करने की शक्ति का अभाव है, उनके उपशम श्रेणि पर चढ़ने की शक्ति के होने का विरोध है, इस अभिप्राय से नहीं किया।

इसी ग्रन्थ में पृष्ठ 76 पर भी इस प्रकार लिखा है, 'इससे पाँचों संहननों के उदय वाले जीवों के दर्शनमोह को क्षपण करने की शक्ति नहीं है। ऐसा कथित होता है।'

संतक मपज्जिया प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ है, अत: क्षायिक स य€त्व के लिये प्रथम संहनन आवश्यक है, ऐसा ग्रहण कर लेना चाहिये।

जनवरी-फरवरी, 2006

88. मिथ्यादृष्टि के उपदेश से स य€त्वप्राप्ति स भव नहीं

जिज्ञासा- □ या मिथ्यादृष्टि के उपदेश से देशनाला□ ध हो सकती है?

समाधान- उपर्युक्त प्रश्न के समाधान में नि नलिखित प्रकरण ध्यान देने योग्य हैं-

1. श्री धवला पु0 1, पृ0 196 पर इस प्रकार कहा है-

व्या यातारमन्तरेण स्वार्थाप्रतिपादकस्य (वेदस्य) तस्य व्या यात्रधीनवाच्यवाचकभाव:। प्राप्ताशेष-वस्तुविषयबोधस्तस्य व्या यातेति प्रतिपट्ठव्यम्।

अर्थ- व्या याता के बिना वेद, स्वयं अपने विषय का प्रतिपादक नहीं है, इसलिए उसका वाच्य-वाचक भाव व्या याता के अधीन है। ---**जिसने स पूर्ण वस्तुविषयक ज्ञान को जान लिया है, वही आगम का व्या याता हो सकता है।**

2. आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने 'इष्टोपदेश' में इस प्रकार कहा है-

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रय:।
ददाति य□ ु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वच:॥ 23॥

अर्थ- अज्ञानी की उपासना से अज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञानी की उपासना से ज्ञान की प्राप्ति होती है। □ योंकि संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो होता है, वह वही तो देता है।

3. श्री धवला पु0 1, पृ0 195 पर इस प्रकार लिखा है-

'ज्ञानविज्ञानविरहादप्राप्तप्रामाण्यस्य व्या यातुर्वचनस्य प्रामाण्याभावात्।'

अर्थ- ज्ञान-विज्ञान से रहित होने के कारण जिसने स्वयं प्रमाणता प्राप्त नहीं की है, ऐसे व्या याता के वचन प्रमाणरूप नहीं हो सकते।

4. श्री पद्मनन्दीपंचविंशतिका / 10 में इस प्रकार कहा गया है-

सर्वविद्वीतरागोक्तो धर्मः सूनृततां व्रजेत्।
प्रामाण्यतो यतः पुंसो वाचः प्रामाण्यमिष्यते॥

अर्थ- जो धर्म सर्वज्ञ और वीतराग के द्वारा कहा गया है, वही यथार्थता को प्राप्त हो सकता है, [illegible] योंकि पुरुष की प्रमाणता से ही वचन में प्रमाणता मानी जाती है।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों के अनुसार स यग्दृष्टि पुरुष ही उपदेश देने का पात्र है। श्री धवला आदि महान् ग्रन्थों के रचयिता आचार्यों ने तो स यग्दृष्टि जीव को ही उपदेश देने का पात्र कहा है। देशनालŸधि की परिभाषा भी श्री धवलाकार ने इस प्रकार कही है-

'छह द्रव्यों और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलŸधि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारन की शक्ति के समागम को देशनालŸधि कहते हैं। (श्री धवला 6/205)

इस प्रकार स यग्दृष्टि जीव के उपदेश से ही देशनालŸधि माननी चाहिए। परन्तु लाटी संहिताकार ने मिथ्यादृष्टि मुनियों के उपदेश से भी स य€त्व प्राप्ति होना कहा है, जो इस प्रकार है-

न वाच्यं पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह नार्थतः।
यतस्तस्योपदेशाद्वै ज्ञानं विन्दन्ति केचन॥ 19॥

अर्थ- (पं0 हीरालाल जैन सिद्धान्ताचार्य द्वारा) यहाँ पर कदाचित् कोई यह शंका करे कि ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनि को जो ग्यारह अङ्ग का ज्ञान होता है, वह केवल पाठमात्र होता है, उसके अर्थ का ज्ञान उसको नहीं होता। परन्तु यह शंका करना भी ठीक नहीं है, €योंकि शास्त्रों में यह कथन आता है कि ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनियों के उपदेश से अन्य कितने ही भव्य जीवों को स यग्दर्शनपूर्वक स यग्ज्ञान प्रकट हो जाता है अर्थात् उनके उपदेश को सुनकर कितने ही भव्यजीव अपने आत्मस्वरूप को पहचानने लगते हैं। उन्हें अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव हो जाता है और वे रत्नत्रय प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

नव बर, 2010

89. उपशम स य€त्व के साथ मनःपर्ययज्ञान स भव है या नहीं

जिज्ञासा : €या उपशम स य€त्व के साथ मनःपर्यय ज्ञान संभव है ?

समाधान : उपशम स य€त्व दो प्रकार का होता है। 1. प्रथमोपशम स य€त्व - मिथ्यादृष्टि जीव को जो उपशम स य€त्व होता है, वह प्रथमोपशम स य€त्व कहलाता है। 2. द्वितीयोपशम स य€त्व - क्षायोपशमिक स यग्दृष्टि जीव को उपशम श्रेणी आरोहण से पूर्व जो उपशमस य€त्व होता है, वह द्वितीयोपशम स य€त्व कहलाता है।

उपर्युक्त दोनों उपशम स य€त्वों में से, प्रथमोपशम स य€त्वी के मन:पर्ययज्ञान नहीं हो सकता, जब कि द्वितीयोपशम स य€त्वी के मन:पर्ययज्ञान संभव है। इसका कारण बताते हुये श्री धवला पु. 2,पृष्ठ-727 में इस प्रकार कहा है-'जो वेदकस य€त्व के पीछे द्वितीयोपशम स य€त्व को प्राप्त होता है, उस उपशमस यग्दृष्टि के प्रथम समय में भी मन:पर्ययज्ञान पाया जाता है, किन्तु मिथ्यात्व से पीछे आये प्रथम उपशमस यग्दृष्टि जीव में मन:पर्ययज्ञान नहीं पाया जाता है, €योंकि, मिथ्यात्व से पीछे आये हुए (प्रथम)उपशमस यग्दृष्टि के उत्कृष्ट उपशमस य€त्व के काल से भी ग्रहण किये गये संयम के प्रथम समय से लगाकर सर्वजघन्य मन:पर्ययज्ञान को उत्पन्न करनेवाला संयम काल बहुत बड़ा है।'

अप्रैल, मई, जून, 2006

90. उपशम स य€त्वी का संसारकाल, गति व वेद

जिज्ञासा— एक बार उपशम स य€त्व होने पर अधिक से अधिक कितने भव में मुक्त हो सकेगा? €या वह कभी नारकी, स्त्री, नपुंसक नहीं बनेगा?

समाधान— श्री धवला पु.4 पृ. 335 पर इस प्रकार कहा है 'एक अनादि मिथ्यादृष्टि अपरीत संसारी (जिसके संसार का काल न हो, अथवा अंत न हो) जीव, अध:प्रवृ Ǎा-करण, अपूर्वकरण, अनिवृ Ǎाकरण इन तीन करणों को करके स य€त्व ग्रहण के प्रथम समय में ही स य€त्व गुण के द्वारा पूर्ववर्ती अंत रहित संसार को छेदकर परीत (अंतसहित) संसारी हो अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन काल तक संसार में रहता है।'

भावार्थ— एक बार स यग्दर्शन हो जाने के बाद अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन काल तक जीव संसार में रहता है। इससे पूर्व भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जघन्य से एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव, अपनी आयु के अंतिम अंतर्मुहूर्त में उपशम स य€त्व प्राप्त कर फिर क्षायोपशमिक स यग्दृष्टि हो, तदुपरांत क्षायिकस य€त्व प्राप्त कर क्षपकश्रेणी मांडकर मोक्ष ाी प्राप्त कर सकता है। यहाँ उत्कृष्ट काल जो अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन कहा है, वह भी अनंतकाल है। उसमें यह जीव चारों गतियों में भ्रमण करता हुआ अनंत पर्यायों को धारण कर सकता है। आपका यह लिखना ठीक है कि स यग्दृष्टि जीव को नारकी, स्त्री, नपुंसक की पर्याय नहीं मिलती, परंतु इसका तात्पर्य यह है कि स य€त्वसहित जीव मरणकर नारकी (स य€त्व से पूर्व नरकायु न बाँधी हो तो), स्त्री, नपुंसक आदि पर्यायों में जन्म नहीं लेता है। परंतु उपर्युक्त अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन काल में स यग्दर्शन छूटने के बाद वह किसी ाी पर्याय में जन्म ले सकता है अर्थात् नारकी, स्त्री, नपुंसक बन सकता है।

फरवरी, 2009

91. स यग्दृष्टि का आǍर्तरौद्रध्यान अशुभगति के बन्ध का कारण नहीं है

जिज्ञासा- स यग्दृष्टि जीवों के आǍर्त-रौद्र ध्यान होते हैं, फिर भी उनको नरक तथा तिर्यञ्च गति का बन्ध यों नहीं होता है?

समाधान- उपर्यु€त जिज्ञासा के समाधान में श्री बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 48 की टीका का नि न भाग ध्यान देने योग्य है-

''वह आǍर्तध्यान तारत यता से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थान (निदान आǍर्तध्यान केवल

पाँचवें गुणस्थान तक ही होता है) तक के जीवों के स भव है। यह यद्यपि मिथ्यादृष्टि जीवों को तिर्यञ्चगति के बन्ध का कारण होता है, तो भी जिस जीव को स य€त्व प्राप्त होने से पहले तिर्यञ्च आयु बंध गई हो, उनके अतिरि€त अन्य स यग्दृष्टि को वह आर्ध्यान तिर्यञ्चगति का कारण नहीं होता। यहाँ प्रश्न यह है कि कारण €यों नहीं होता? उसका उ र है कि 'स्व शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी विशिष्ट भावना के बल से तिर्यञ्चगति के कारणभूत सं€लेश भाव का उसको अभाव होने से।

इसी प्रकार 'निज शुद्धात्म त व ही उपादेय है' ऐसे विशिष्ट भेदज्ञान के बल से नरकगति के कारणभूत तीव्र सं€लेश भाव का उनको अभाव होने से, स यग्दृष्टि के होनेवाला रौद्रध्यान नरकगति के बन्ध का कारण नहीं होता।

अगस्त, 2010

92. वेदकप्रायोग्य काल का स्वरूप

जिज्ञासा- वेदक-प्रायोग्यकाल किसे कहते हैं?

समाधान- जिस काल में वेदकस य€त्व अर्थात् क्षायोपशमिक स य€त्व होने की योग्यता होती है उस काल को वेदक-प्रायोग्यकाल कहते हैं। इसके लिए गो मटसार कर्मकाण्ड में इसप्रकार कहा है-

उदधिपुध ं तु तसे पल्लासंखूणमेगमेय€खे।
जाव य स मं मिस्सं वेदगजोग्गो य उवसमस्स तदो॥ 615॥

अर्थ- स य€त्व और स यग्मिथ्यात्वप्रकृति की स्थिति घटकर त्रस जीव के तो जब पृथ€त्वसागर प्रमाण शेष रहे तथा एकेन्द्रिय के पल्य के असं यातवें भाग कम एक सागर प्रमाण शेष रहने तक 'वेदक योग्यकाल' है और जब स ारूप स्थिति उससे भी कम हो जावे तो वह उपशम काल होता है॥ 615॥

भावार्थ- कोई उपशम स यग्दृष्टि या क्षायोपशमिक स यग्दृष्टि जीव जब मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाता है, तब उसकी स ा में जो मिथ्यात्व और स यग्मिथ्यात्व प्रकृति है उसकी उद्वेलना प्रार भ हो जाती है, अर्थात् स यक् प्रकृति, स यग्मिथ्यात्व रूप होने लगती है और स यग्मिथ्यात्व प्रकृति, मिथ्यात्वरूप होने लगती है। इन दोनों प्रकृतियों की स्थिति घटने लगती है। जब तक त्रस जीव के इन दोनों प्रकृतियों की स्थिति घटकर पृथ€त्व सागर न रह जाये तथा एकेन्द्रिय के पल्य के असं यातवें भाग कम एक सागर न रह जाये, तब तक उस जीव के वेदक-प्रायोग्यकाल है अर्थात् तब तक उस जीव के यदि होगा तो क्षायोपशमिक स य€त्व ही होगा, उपशम स य€त्व हो ही नहीं सकता। जब इन दोनों प्रकृतियों की स्थिति पृथ€त्वसागर तथा पल्य के असं यातवें भाग से कम एक सागर रह जाती है, उसके बाद यद्यपि दोनों प्रकृतियों की स ा है, फिर भी क्षायोपशमिक स य€त्व नहीं हो सकेगा, यदि होगा तो उपशम स य€त्व ही होगा। श्री धवला पु01 पृष्ठ-33 में भी इसी प्रकार कहा गया है।

स यग्मिथ्यात्व एवं स यक्प्रकृति की उद्वेलना होकर उनकी स्थिति को पृथक्त्व सागर अथवा पल्य के असं यातवें भाग से कम एक सागर प्रमाण होने में पल्य का असं यातवाँ भाग काल लगता है। अत: उपशम स य€त्व का जघन्य अन्तर पल्य का असं यातवाँ भाग प्रमाण काल कहा गया है।

नव बर, 2009

93. सप्तम पृथ्वी का निकला नारकी स य€त्व प्राप्ति कर सकता है या नहीं : दो मत

जिज्ञासा- सातवें नरक से आए हुए जीवों को स य€त्व प्राप्ति हो सकती है या नहीं ?

समाधान- इस संबंध में दो मत पाये जाते हैं-

1. श्री धवला पुस्तक-6, पृष्ठ 485 के अनुसार सातवें नरक से निकलकर आए हुए जीव, मात्र तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं और तिर्यंचों में उत्पन्न होते हुए स यग्मिथ्यात्व, अविरत स य€त्व तथा संयमासंयम को प्राप्त नहीं करते हैं।

उपर्युक्त कथन के अनुसार सातवें नरक से निकलकर आए जीव मात्र तिर्यंच ही बनते हैं और स य€त्व उत्पन्न नहीं कर सकते।

2. दूसरा मत तिलोयपण्णŠिकार का है जो इस प्रकार है-

आतुरिम-खिदी चरिमंगधारिणो संजदा य धूमंतं।
छट्ठं तं देसवदा स मŠाधरा केइ चरिमंतं ॥ 293॥

अर्थ- चौथी पृथिवी पर्यंत के नारकी वहाँ से निकलकर चरमशरीरी, धूमप्रभा पृथिवी तक के जीव सकलसंयमी एवं छठी पृथ्वी पर्यंत के नारकी जीव देशव्रती हो सकते हैं। सातवीं पृथिवी से निकले हुए जीवों में से विरले ही स य€त्व के धारक होते हैं।

उपर्युक्त दो मतों के संबंध में पं0 रतनचन्द जी मु तार ने लिखा है कि उपर्युक्त धवला पु. 6 का प्रसंग बहुलता की अपेक्षा से कहा गया है अर्थात् सातवें नरक से निकले हुए जीव के स यग्दर्शन की उत्पŠि अधिकांशत: नहीं होती, जबकि तिलोयपण्णŠि में उपर्युक्त कथन सूक्ष्मता की दृष्टि से है। अत: वहाँ कभी किसी एक जीव के स यग्दर्शन की उत्पŠि हो जाने से विधान किया गया है। अथवा आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत समझने चाहिए।

फरवरी, 2010

94. देव और नारकियों में जातिस्मरण से स य€त्वोत्पŠि कब

जिज्ञासा- €या देव और नारकियों के जातिस्मरण के निमŠ से होने वाला स यग्दर्शन जीवन में कभी भी हो सकता है ?

समाधान- उपर्युक्त प्रश्न के सन्दर्भ में श्री धवला पु.6, पृ.433 पर इस प्रकार कहा है-

प्रश्न- देवऋद्धिदर्शन का जातिस्मरण में समावेश €यों नहीं होता ?

उ ार-नहीं होता, €योंकि अपनी अणिमादिक ऋद्धियों को देखकर जब देवों को ये विचार उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियाँ जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म के अनुष्ठान से उत्पन्न हुई हैं, तब प्रथम स य€त्व की प्राप्ति जातिस्मरणनिमिŠक होती है। किन्तु जब सौधर्मइन्द्रादिक देवों की महाऋद्धियों को देखकर यह ज्ञान होता है कि ये ऋद्धियाँ स यग्दर्शन से संयुक्त संयम के फल से प्राप्त हुई हैं किन्तु मैं स य€त्व से रहित द्रव्यसंयम के फल से वाहनादिक नीच देवों में उत्पन्न हुआ हूँ, तब प्रथम स य€त्व का ग्रहण देवऋद्धिदर्शन-निमिŠक होता है।

2. जातिस्मरण, उत्पन्न होने के प्रथम समय से लगातार अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर ही होता है। किन्तु देवऋद्धिदर्शन, उत्पन्न होने के समय से अन्तर्मुहूर्त काल के पश्चात् ही होता है।

3. यही अर्थ नारकियों के जातिस्मरण और वेदनाभिभवरूप कारणों में विवेक के लिए भी कहना चाहिए।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य है कि **नारकियों एवं देवों को जातिस्मरण के निमिŠा से उत्पन्न होनेवाला स यग्दर्शन, उत्पन्न होने के प्रथम समय से लगाकर अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर ही होता है।**

जून, 2010

95. निर्वाणक्षेत्रों की वन्दना से स य€त्वोत्पŠिा

जिज्ञासा- €या निर्वाणक्षेत्रों की वन्दना स य€त्व उत्पŠिा में कारण है ? इसका उल्लेख तो कहीं मिलता नहीं है ?

समाधान- निर्वाणक्षेत्रों का दर्शन ाी जिनबि बदर्शन के अन्तर्गत मान लिया गया है, अत: वह भी स य€त्व उत्पŠिा में कारण मानना चाहिये। श्री धवला पुस्तक 6 / पृष्ठ 430 में इस प्रकार कहा गया है-

''लद्धिसंपण्णरिसिदंसणं पि पढम-स मŠुपपŠीए कारणं होदि, तमेत्थ पुध किण्ण भण्णदे ? ण, एदस्स वि जिणबिंबदंसणे अंतŠीभावादो। उज्जंतचंपापावाणयरादि दंसणं पि एदेणेव घेŠाव्वं। कुदो ? तत्थ तण जिणबिंबदंसण जिणणिव्वुइगमण कहणेहि विणा पढमस मŠागहणाभावा।

अर्थ- लŠिधस पन्न ऋषियों का दर्शन भी तो प्रथम स य€त्व की उत्पŠिा का कारण होता है, अतएव इस कारण को यहाँ पृथक् रूप से €यों नहीं कहा ? **उ ार**-नहीं कहा, €योंकि लŠिधस पन्न ऋषियों के दर्शन का भी जिनबि बदर्शन में ही अन्तर्भाव हो जाता है। **ऊर्जयन्त (गिरनार) पर्वत, च पापुर तथा पावापुर आदि के दर्शन भी जिनबि बदर्शन के अन्तर्गत ही ग्रहण कर लेना चाहिये,** €योंकि उ€त प्रदेशवर्ती जिनबि बों के दर्शन तथा जिन भगवान् के निर्वाणगमन के कथन के बिना प्रथम स य€त्व का ग्रहण नहीं हो सकता।

अगस्त, 2010

96. स य€त्व प्राप्ति के योग्य जातिस्मरण एवं वेदना की विशेषता

जिज्ञासा- जातिस्मरण तथा वेदना तो सभी नारकियों के होती है। अत: इन कारणों के सद्भाव होने से सभी नारकियों के स यग्दर्शन की उत्पŠिा हो जानी चाहिए। पर €यों नहीं होती है ?

समाधान- उपर्युक्त प्रश्न के समाधान में श्री धवलाकार का नि नलिखित प्रकरण समझ लेना चाहिये-

प्रश्न- €योंकि सभी नारकी जीव विभंगज्ञान के द्वारा एक, दो या तीन आदि भवग्रहण जानते हैं, इसलिए सभी के जातिस्मरण होता है। अतएव सारे नारकी जीव स यग्दृष्टि होने चाहिये ?

उ ार-यह कोई दोष नहीं है, €योंकि सामान्य रूप से भवस्मरण के द्वारा स य€त्व की उत्पŠिा नहीं होती। **किन्तु धर्मबुद्धि से पूर्व भव में किये गये अनुष्ठानों की विफलता के दर्शन से ही प्रथम स य€त्व की उत्पŠिा का कारणत्व इष्ट है।** जिससे पूर्वोक्त दोष प्राप्त नहीं होता और इस प्रकार की बुद्धि सब नारकी

जीवों के होती नहीं है। €योंकि तीव्र मिथ्यात्व के उदय के वशीभूत नारकी जीवों के पूर्व भवों का स्मरण होते हुये भी उक्त प्रकार के उपयोग का अभाव है।

प्रश्न- वेदना का अनुभव स य€त्वोत्पÝा का कारण नहीं हो सकता, €योंकि यह अनुभव तो सब नारकियों के साधारण होता है। यदि वह अनुभव स य€त्वोत्पÝा का कारण हो तो सब नारकी जीव स यग्दृष्टि होंगे। किन्तु ऐसा है नहीं, ¨ योंकि वैसा नहीं पाया जाता।

उ¨ र-वेदना सामान्य, स य€त्वोत्पÝा का कारण नहीं है। किन्तु जिन जीवों के ऐसा उपयोग होता है कि **अमुक वेदना, अमुक मिथ्यात्व के कारण या अमुक असंयम से उत्पन्न हुई, उन्हीं जीवों की वेदना नरकों में स य€त्वोत्पÝा का कारण होती है।** अन्य जीवों की वेदना नरकों में स य€त्वोत्पÝा का कारण नहीं होती, ¨ योंकि उसमें उक्त प्रकार के उपयोग का अभाव होता है।

अ¨ टूबर, 2010

97. द्रव्यमन और भावमन में अन्तर

जिज्ञासा- द्रव्यमन और भावमन में ¨ या अन्तर है? ये दोनों जीव हैं या अजीव?

समाधान- जो हृदयस्थान में आठ पंखुड़ी के आकारवाला तथा मनोवर्गणाओं से निर्मित है, वह तो पौद्गलिक द्रव्य मन है तथा नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त आत्मा की विशुद्धि को भाव मन कहते हैं, यह जीवरूप है। कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं-

1. श्री गो मटसार जीवकाण्ड में इस प्रकार कहा है-

द्रव्यमन

हिदि होदि हु दव्वमणं वियसिय अट्ठच्छदारविंदं वा।
अंगोवंगुदयादो मणवग्गणखंधदो णियमा॥ 443॥

अर्थ- अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों के द्वारा हृदयस्थान में नियम से विकसित आठ पंखुड़ी के कमल के आकार में द्रव्यमन उत्पन्न होता है।

2. श्री राजवार्तिक में इस प्रकार कहा है-

द्रव्यमनश्च रूपादियोगात् पुद्गलद्रव्यविकारः।। 5/3/3॥

अर्थ- रूपादिक युक्त होने से द्रव्यमन पुद्गल द्रव्य की पर्याय है।

भावमन

1. श्री राजवार्तिक में इस प्रकार कहा है-

मनोऽपि द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्चेति। तत्र भावमनो ज्ञानं तस्य जीवगुणत्वादात्मन्यन्तर्भावः॥ 5/3/3॥

अर्थ- मन दो प्रकार का है। द्रव्यमन और भावमन। वहाँ **भावमन ज्ञानरूप है। वह जीव का गुण होने से आत्मा में गर्भित हो जाता है।**

2. श्री सर्वार्थसिद्धि में इस प्रकार कहा है-

वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षा आत्मनो विशुद्धिर्भावमनः। (2/11/170)

अर्थ- वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखनेवाले आत्मा की विशुद्धि को भावमन कहते हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार द्रव्यमन पौद्गलिक है और भावमन चेतनायुक्त है।

नव बर, 2010

98. अनाहारक जीव कौन-कौन होते हैं

जिज्ञासा - अनाहारक जीव कौन-कौन होते हैं ?

समाधान - इस प्रश्न के समाधान के लिये सबसे पहले हमको अनाहारक किसे कहते हैं, यह जानना आवश्यक है। सर्वार्थसिद्धि टीका (ख/फ) में अनाहारक की परिभाषा इस प्रकार कही है-

'त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्य-पुद्गलग्रहणमाहारः। तदभावादनाहारकः।'

अर्थ- तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलवर्गणाओं का ग्रहण आहार है और उसके अभाव से अर्थात् ऐसी वर्गणाओं को ग्रहण न करने वाला अनाहारक है।

अनाहारक के संबंध में श्री षट्खंडागम (क/क्त्रस्त्र/पृष्ठ ब्क्ख) में इस प्रकार कहा है-

अणाहारा चदुसु ट्ठाणेसु विग्गहगइसमावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घादगदाणं अजोगिकेवली सिद्धा चेदि।

अर्थ - विग्रहगति को प्राप्त, मिथ्यात्व, सासादन तथा अविरतस यग्दृष्टि गुणस्थानवाले जीव एवं समुद्घातगत केवली इन चार गुणस्थानवाले जीव, अयोगकेवली एवं सिद्ध जीव अनाहारक होते हैं।

भावार्थ - पहले, दूसरे तथा चौथे गुणस्थान वाले जीव (तीसरे गुणस्थान में मरण नहीं होता) यदि ऋजुगति से गमन कर एक समय में ही जन्म ले लेते हैं, तो अनाहारक अवस्था को प्राप्त नहीं होते। यदि एक मोड़ेवाली गति से जाकर जन्म लेते हैं, तो उनको विग्रहगति में दो समय लगेंगे। उनमें से प्रथम समय में अनाहारक तथा द्वितीय समय में जन्म ले लेने से आहारक होते हैं। इसी तरह यदि दो या तीन मोड़ेवाली गति से जायें, तो प्रथम दो या तीन समय तक अनाहारक तथा अंतिम समय में आहारक होते हैं। केवलीसमुद्घात अवस्था में, प्रथम समय दंड समुद्घात में औदारिक काययोग तथा द्वितीय समय कपाट समुद्घात में औदारिकमिश्र काययोग होने से आहारक होते हैं, परन्तु तीसरे और चौथे समय में कार्मण काययोग होने से अनाहारक होते हैं। फिर लौटते समय पाँचवें समय में कार्मण काययोग होने से अनाहारक होते हैं। शेष समयों में आहारक होते हैं। अयोगकेवली एवं सिद्ध भगवान् सदा अनाहारक ही रहते हैं।

दिस बर, 2006

99. अकर्मबन्ध या है

जिज्ञासा : अकर्मबन्ध श द से या अभिप्राय है ? स्पष्ट कीजिये।

समाधान : श्री जयधवला पु. 1, पृ. 187 पर अकर्मबन्ध की परिभाषा इस प्रकार कही गई है-

''मिच्छंताऽसंजमकषायजोगपच्चएहिं अक मसरूवेण ट्ठिदक मइय€खंधाणं जीवपदेसाणं च जो अण्णेण्णेण समागमों सो अक मबंधो णाम।''

अर्थ- मिथ्यात्व, असंयम, कषाय एवं योग के कारण, अकर्मरूप से स्थित कार्मण स्कन्धों का और जीवप्रदेशों का जो परस्पर में प्रवेश होता है, उसका नाम अकर्मबन्ध है।

भावार्थ- कार्मण वर्गणाओं का जीव के परिणामों के निमिŽा से आत्म प्रदेशों के साथ कर्मरूप होकर संश्लेष स बन्ध को प्राप्त हो जाना अकर्मबन्ध है तथा असातावेदनीय का सातावेदनीयरूप संक्रमित होकर बंधे रहना कर्मबन्ध है। कर्मकाण्ड आदि ग्रन्थों में जो कर्मों के स्थितिबन्ध का वर्णन किया गया है, वह अकर्मबन्ध की अपेक्षा ही समझना चाहिये।

जुलाई, 2006

100. निरन्तरबन्धी और सान्तरबन्धी प्रकृति का या अर्थ है

जिज्ञासा - निरंतरबंधी और सान्तरबंधी प्रकृति से €या तात्पर्य है ?

समाधान- श्री कर्मप्रकृति ग्रंथ पृष्ठ क्ब-क्भ पर इस संबंध में इस प्रकार कहा है-

यासां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रं बन्धः उत्कर्षतः समयादार य यावदन्तर्मुहूर्तं न परतः, सान्तरबन्धाः, अन्तर्मुहूर्त-मध्येऽपि सान्तरो विच्छेदलक्षणान्तरसहितो बंधो यासां ताः सान्तरा इति व्युत्पŽोः। अन्तर्मुहूर्तोपरि विच्छिद्यमानबन्धवृŽि- जातिमत्यः सान्तरबन्धाः इति फलितार्थः। जघन्येनापि या अन्तर्मुहूर्तं यावन्नैरन्तर्येण बन्ध्यन्ते ता निरन्तरबन्धाः।

अर्थ- जिन प्रकृतियों का बन्ध जघन्य से एक समय, उत्कृष्ट से समय को आदि करके अन्तर्मुहूर्त से पूर्व तक है वे सान्तर बन्धी प्रकृतियाँ हैं। अन्तर्मुहूर्त के मध्य में बन्ध- विच्छेद होकर पुनः अन्तरसहित बँधनेवाली प्रकृति सान्तर- बन्धी प्रकृति है। जघन्य से भी जो अन्तर्मुहूर्त तक बँधती रहे अर्थात् अन्तर्मुहूर्त के मध्य में बन्ध होकर जिस प्रकृति में अन्तर नहीं पड़ता, वह निरन्तरबंधी प्रकृति है।

भावार्थ- एक समय बँधकर दूसरे समय में जिस प्रकृति की बंधविश्रान्ति देखी जाती है, वह सान्तरबंधप्रकृति है और जिसका बंधकाल जघन्य भी अन्तर्मुहूर्त मात्र है, वह निरन्तरबंधप्रकृति है। श्री धवला पुस्तक त्त पृ. क में भी इसी प्रकार कहा है।

जनवरी, 2007

101. निधŽि-निकाचितपना पुण्य और पाप दोनों प्रकृतिरूप है

जिज्ञासा- या निर्धा ा-निकाचितपना केवल अशुभ प्रकृतियों में ही होता है या शुभ में भी ?

समाधान- इस जिज्ञासा के समाधान में गो मटसार कर्मकांड की गाथा नं. ब्ब्क द्रष्टव्य है।

संकमणाकरणूणा, णवकरणा होंति सव्वआऊणं।
सेसाणं दसकरणा, अपुव्वकरणोŽि दसकरणा॥

अर्थ-चारों आयु में, संक्रमण करण के बिना - करण पाये जाते हैं, €योंकि चारों आयु परस्पर में परिणमन नहीं करतीं। शेष बन्धयोग्य सर्व प्रकृतियों में दश करण होते हैं तथा मिथ्यात्व से अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त तो दशों करण पाये जाते हैं।

उपरो त गाथा के अनुसार कर्मों की सभी प्रकृतियों में निर्धा ा और निकाचितपना पाया जाता है। जनसामान्य में ऐसी धारणा बनी हुई है कि निधŽि और निकाचितपना तीव्र कषाय के कारण होता है और वह

अशुभ प्रकृतियों में ही होता है। परंतु उपरो€त शास्त्रीय प्रमाण के अनुसार यह धारणा ठीक नहीं है। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की प्रकृतियों में निधÊा और निकाचितपना पाया जाता है जो अनिवृÊाकरण परिणामों द्वारा नाश हो जाता है।

फरवरी, 2007

102. कार्मण वर्गणा के भेद

जिज्ञासा - €या कार्माण वर्गणा भी आठ प्रकार की होती है या एक प्रकार ही होती है?

समाधान - उपर्युक्त जिज्ञासा के समाधान में श्री धवल पु. क्ब, पृ.ब्भ्फ-ब्ब में इस प्रकार कहा है-

ज्ञानावरणीय के योग्य जो द्रव्य है, वे ही मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों के कारण पाँच ज्ञानावरणीय रूप से परिणमन करते हैं, अन्य रूप से वे परिणमन नहीं करते, €योंकि वे अन्य के अयोग्य होते हैं। इसी प्रकार सर्व कर्मों के विषय में कहना चाहिए।

शंका- यदि ऐसा है तो कार्मण वर्गणाएँ आठ हैं, ऐसा कथन €यों नहीं किया है?

समाधान- नहीं किया, [illegible] योंकि अन्तर का अभाव होने से उस प्रकार का उपदेश नहीं पाया जाता है। ये आठ स्वभाव वाली वर्गणाएँ पृथक्-पृथक् नहीं रहती हैं, किन्तु मिश्रित होकर रहती हैं। कहा भी है-

''आउगभागो थोवो णामागोदे समो तदो अहिओ।''

अर्थ- इन वर्गणाओं में आयु कर्म स्वभाववाली वर्गणाओं का भाग कम है, नाम और गोत्र कर्म का भाग उससे अधिक है, परन्तु बराबर है।

उपर्युक्त गाथा भाग से जाना जाता है कि आठों ही वर्गणाएँ भिन्न -भिन्न कर्म प्रकृतिरूप परिणमन करनेरूप योग्यता रखने वाली हैं। तथापि वे मिश्रित होकर रहती हैं। अर्थात् जो वर्गणाएँ ज्ञानावरणीयरूप परिणमन करनेरूप योग्यता रखती हैं, वे दर्शनावरणीयरूप परिणमन नहीं कर सकतीं। अतः पूरे लोक में व्याप्त समस्त कर्मवर्गणाएँ सामान्य से एक जैसी होते हुए भी आठ प्रकार के स्वभाव वाली होती हैं, ऐसा समझना चाहिए।

103. कार्मण वर्गणाओं का बँटवारा

जिज्ञासा- एक समय में ग्रहण की गई कार्मण वर्गणाओं का मूल एवं उÙार प्रकृतियों में बँटवारा किस प्रकार होता है?

समाधान- प्रत्येक जीव प्रतिसमय समयप्रबद्ध प्रमाण (सिद्धराशि के अनन्तवें भाग अथवा अभव्यराशि से अनन्तगुणा) कार्मण वर्गणाओं को ग्रहण करके कर्म रूप करता है। उसका बँटवारा गो मटसार कर्मकाण्ड ग्रन्थ के अनुसार इसप्रकार होता है-

आउगभागो थोवो णामागोदे समो तदो अहियो।
घादितिये वि य त[illegible] ो मोहे त[illegible] ो तदो तदिये॥192॥

गाथार्थ- सभी मूलप्रकृतियों में आयु कर्म को सबसे कम भाग मिलता है। उससे अधिक भाग नाम व गोत्र कर्म को मिलता है, जो आपस में समान है, उससे अधिक भाग ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय को

मिलता है, जो आपस में समान है। उससे अधिक भाग मोहनीय कर्म को मिलता है और सबसे अधिक भाग वेदनीय कर्म को मिलता है।

वेदनीय कर्म संसारी जीवों को सुख-दुख का कारण है अत: इसकी निर्जरा अधिक होने से इसको सबसे अधिक द्रव्य मिलता है। वेदनीय कर्म के अलावा अन्य सर्व मूलप्रकृतियों में द्रव्य का बँटवारा उनकी स्थिति के अनुसार होता है अर्थात् सबसे अधिक स्थिति मोहनीय कर्म की, उससे कम ज्ञानावरण-दर्शनावरण एवं अन्तराय की, उससे कम गोत्र व नाम कर्म की और सबसे कम स्थिति आयुकर्म की होने के कारण, इन कर्मों को तदनुसार ही द्रव्य मिलता है। उ ार प्रकृतियों में बँटवारा इस प्रकार होता है-

उǍारपयडीसु पुणो मोहावरणा हवंति हीणकमा।
अहियकमा पुण णामाविग्घा य ण भंजणं सेसे॥ 196॥

अर्थ- उǍार प्रकृतियों में मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण के भेदों में क्रम से हीन-हीन द्रव्य है तथा नाम व अन्तराय कर्म के भेदों में क्रम से अधिक-अधिक द्रव्य है। वेदनीय, गोत्र और आयु कर्म के भेदों में बँटवारा नहीं होता, योंकि इनकी एक काल में एक ही प्रकृति बँधती है।

विशेषार्थ- जितना द्रव्य ज्ञानावरण को मिलेगा, उसका बँटवारा पाँच प्रकृतियों में होगा। सबसे अधिक मतिज्ञानावरण को, उससे कम श्रुतज्ञानावरण को, उससे कम अवधिज्ञानावरण को, उससे कम मन:पर्ययज्ञानावरण को और सबसे कम द्रव्य केवलज्ञानावरण को मिलेगा। मोहनीय तथा दर्शनावरण में क्रम से इसी प्रकार हीन द्रव्य मिलता है। किन्तु नाम और अन्तराय कर्म के भेदों में क्रम से अधिक-अधिक द्रव्य मिलता है अर्थात् सबसे कम द्रव्य दानान्तराय को, उससे अधिक लाभान्तराय को उससे अधिक भोगान्तराय को, उससे अधिक उपभोगान्तराय को और सबसे अधिक वीर्यान्तराय को मिलता है। वेदनीय, गोत्र और आयु कर्म की एक समय में एक-एक ही प्रकृति का बन्ध होता है अर्थात् जब उच्च गोत्र बँधता है, तब नीच गोत्र नहीं बँधता। जब सातावेदनीय प्रकृति बँधती है, तब असातावेदनीय नहीं बँधती तथा चारों आयुकर्मों में से एक समय में एक ही आयु का बंध होता है। तब उस समय उस प्रकृति को उस कर्म का पूरा द्रव्य प्राप्त होता है।

इतना अवश्य और जानना चाहिए कि लोक में भरी हुई कार्मण वर्गणा में से जो द्रव्य ज्ञानावरणीय के योग्य होता है, वही ज्ञानावरणरूप परिणमन करता है, अन्य कर्म रूप परिणमन नहीं करता। ये सभी कार्मण वर्गणाएँ भिन्न-भिन्न कर्म रूप परिणमन करने की योग्यता रखनेवाली होते हुए भी पृथक्-पृथक् नहीं रहतीं, मिश्रित होकर रहती हैं। (देखें धवल पुस्तक-14, पृष्ठ 553-554)

जुलाई, 2009

104. असंक्षेपाद्धाकाल का स्वरूप

जिज्ञासा- असंक्षेपाद्धाकाल किसे कहते हैं ?

समाधान- भोगभूमिया जीव एवं देव और नारकियों के भुज्यमान आयु के म माह शेष रहने पर तथा अन्य सभी जीवों के आयु का क/प भाग शेष रह जाने पर आयुबंध के योग्य त्त अपकर्षकाल आते हैं। जिन जीवों के इन त्त अपकर्षकालों में आयुबंध नहीं हो पाता है उनके भुज्यमान आयु के असंक्षेपाद्धाकाल शेष रह जाने पर परभविक आयु बंध नियम से हो जाता है। असंक्षेपाद्धाकाल की परिभाषा गो मटसार कर्मकांड गाथा क्ष्त्त की टीका में इस प्रकार कही है:-

न विद्यते अस्मादन्यः संक्षेपः, स चासौ अद्धा च असंखेपाद्धा, आवल्यसं येयभागमात्रत्वात्।

अर्थ- जिससे संक्षिप्त आयुबंध काल और न हो ऐसे आवली के असं यातवें भाग मात्र को असंक्षेपाद्धाकाल कहते हैं अर्थात् भुज्यमान आयु के अंत में जब मात्र आवली के असं यातवें भागमात्र आयु शेष रहती है तब उसे असंक्षेपाद्धाकाल कहते हैं। इतनी आयु शेष रहने पर प्रत्येक जीव के परभव संबंधी आयु के बंध होने का नियम है।

उपर्युक्त टीका में असंक्षेपाद्धाकाल का प्रमाण आवली का असं यातवां भाग कहा है, परन्तु श्री धवला पु. 11 / पृ. 268 तथा 273 के अनुसार आयुकर्म की जघन्य आबाधा से क्षुद्रभव सं यात गुणा कहा है। इससे स्पष्ट है कि असंक्षेपाद्धाकाल का प्रमाण आवलि का असं यातवाँ भाग न होकर, सं यातवाँ भाग है। पं. रतनचन्द्र जी मु तार ने भी इसी प्रकार कहा है।

फरवरी, 2007

105. स्वाध्याय के समय भी ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध

जिज्ञासा- जब हम स्वाध्याय करते होते हैं तब भी €या ज्ञानावरणीय कर्म का बंध निरंतर होता रहता है ?

समाधान- वर्तमान में सभी जीवों के, चाहें वे किसी भी गति के हों (विदेहक्षेत्र एवं विजयार्ध निवासियों को छोड़कर) प्रथम से सप्तम गुणस्थान तक ही (अपनी योग्यतानुसार) पाये जाते हैं। इन सभी जीवों के आयु के अपकर्ष काल में आठों कर्मो का तथा अपकर्षकाल के अलावा अन्य काल में आयु के अलावा सातों कर्मों का प्रतिसमय बंध होता है। इन सात कर्मों की नि नलिखित प्रकृतियाँ निरन्तरबंधी (ध्रुवबंधी) हैं-

ज्ञानावरण 5, दर्शनावरण 9, अंतराय 5, कषाय 16, मिथ्यात्व, निर्माण 1, वर्ण आदि 4, भय, जुगुप्सा, अगुरुलघु, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, उपघात=47। जिस जीव का प्रथम गुणस्थान है उसके तो इन 47 का निरंतर बंध होता रहता है। ऊपर के गुणस्थानों में मिथ्यात्वादि का बंध यथायोग्य होना रुक जाता है।

जहाँ तक ज्ञानावरणीय कर्म की पांचों प्रकृतियों के बंध का प्रश्न है, इनका बंध तो दशवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज तक सभी जीवों के निरंतर प्रतिसमय होता ही रहता है। अतः हम और आप स्वाध्याय कर रहे हों, या व्यापार में लगे हों, ज्ञानावरणीय की पांचों प्रकृतियों का बंध प्रतिसमय होंना ही है। अंतर इतना अवश्य होता है कि स्वाध्याय करते समय, कषायों की मंदता होने से, कर्म प्रकृतियों में स्थिति तथा अनुभाग बंध कम होता है, और सांसारिक कार्य करते समय कषायों की तीव्रता होना स्वाभाविक होने से स्थिति-अनुभाग बंध अधिक होता है। ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियों का स्थिति व अनुभाग बंध कम होना, आत्मा के लिये श्रेयस्कर है। अतः स्वाध्याय आदि कार्यों में प्रवृ ा होना ही श्रेष्ठ है।

अगस्त, 2007

106. सादिबन्ध व अनादिबंध आदि का स्वरूप

जिज्ञासा— कर्मकाण्ड में प्रकृतिबन्ध के ब भेद कहे हैं— सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव। इनको समझाने की कृपा करें ?

समाधान— कर्मकाण्ड गाथा क्ख से क्ख तक इन चार प्रकृतिबंध के भेदों का वर्णन किया गया है। उसी के आधार से यहाँ लिखा जाता है।

क. **सादि बन्ध—** जिस कर्म के बन्ध का अभाव होकर वही कर्म जब पुन: बंधने लगता है, तब उसे सादि बन्ध कहते हैं। जैसे ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियों का बंध सूक्ष्मसा पराय गुणस्थान पर्यन्त के जीव को निरन्तर हो रहा था। वह जीव जब ग्यारहवें उपशान्तकषाय-गुणस्थान को प्राप्त हुआ, तब उसके ज्ञानावरण कर्म का बन्ध रुक गया। वह ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव जब उतरते हुए क्वें गुणस्थान में आया, तब ज्ञानावरणकर्म का बन्ध होना प्रारंभ हो गया। तो यह जो ज्ञानावरणकर्म का बन्ध होना प्रार भ हुआ, वह सादि बन्ध कहलाता है।

ख. **अनादि बन्ध—** जिस जीव के अनादिकाल से जिसकर्म का बन्ध निरन्तर हो ही रहा है वह अनादि बन्ध है। जैसे प्रत्येक जीव के ज्ञानावरण कर्म का बन्ध अनादि से हो रहा है, शर्त यह है कि उसने श्रेणी आरोहण कभी न किया हो अर्थात् उसने ग्यारहवाँ गुणस्थान कभी प्राप्त न किया हो, ऐसे जीव के उपर्युक्त उदाहरण के अनुसार ज्ञानावरण कर्म का बन्ध अनादि से निरन्तर हो ही रहा है। तो उसका ये बन्ध अनादिबन्ध कहलाता है।

फ. **ध्रुव बन्ध—** जो बन्ध अनादिकाल से हो रहा है और अनन्तकाल तक होता ही रहेगा वह ध्रुव बन्ध कहलाता है। यह अभव्य तथा अभव्यसम भव्य जीवों के पाया जाता है। तथा जब तक बंध की व्युच्छि[] । नहीं होती, तब तक होता रहता है।

ब. **अध्रुव बन्ध—** जो बन्ध अ ी तो हो रहा है, परन्तु जिसका अन्त आ जाये, वह अध्रुव बन्ध है। यह भव्य जीवों के होता है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में पहले ज्ञानावरण का बन्ध होता था, परन्तु क्क्वें गुणस्थान में पहुँचते ही बन्ध होना रुक गया। अत: यह बन्ध अध्रुव बन्ध हुआ।

आठों कर्मों की प्रकृतियों में इस बन्ध संबंधी जो विशेषता है उसको कहा जाता है—

क. ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियाँ, दर्शनावरण की नौ, अन्तराय की पाँच, मिथ्यात्व, क्म कषाय, भय-जुगुप्सा, तैजस शरीर, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, वर्णादि चार, कार्मणशरीर ये ब्त्र ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ हैं। बन्धव्युच्छिति होने से पूर्व प्रत्येक जीव को इनका बन्ध प्रति समय होता ही रहता है। इनमें उपर्युक्त चारों प्रकार का बंध पाया जाता है।

ख. उपर्युक्त ब्त्र के अलावा जो त्रफ प्रकृतियाँ बंधयोग्य बचती हैं (क्ब्त प्रकृतियों में से वर्णादि क्म+ बंधन भ्+ संघात भ्+ स यक्मिथ्यात्व + स यक्प्रकृति =ख्त घटाने पर बन्ध योग्य प्रकृतियाँ क्ख शेष रहती हैं।) उनमें सादि और अध्रुव ये दो ही बंध पाये जाते हैं।

फ. इतना विशेष है कि वेदनीयकर्म का बन्ध क्फ्वें गुणस्थान तक निरन्तर होता ही रहता है, अत: वेदनीय कर्म में सादि बन्ध नहीं पाया जाता, अन्य तीन पाये जाते हैं।

दिस बर, 2007

107. स यक्मिथ्यात्व व स यक्प्रकृति का उदय, बन्ध में कारण नहीं है

जिज्ञासा- €या स यग्मिथ्यात्व एवं स यक् प्रकृति का उदय बंध में कारण है ?

समाधान- यहाँ सबसे प्रथम यह विचार करना आवश्यक है कि बंध के कारण कौन हैं ? तž्वार्थसूत्र अ. 8/1 में उमास्वामी महाराज ने कहा है- **'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद कषाययोगा बन्धहेतव:। अर्थ**- मिथ्यादर्शन अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग बंध के कारण हैं।

यहाँ विचारणीय है कि स यग्मिथ्यात्व तथा स यक्प्रकृति एवं इनके कारण होने वाले परिणाम उपर्युक्त कारणों में नहीं आते। ये दोनों, न तो मिथ्यात्व रूप ही हैं और न अन्य कारणों रूप। अत: इस सूत्र के अनुसार ये दोनों बंध के कारण सिद्ध नहीं होते।

2. आगे विचार करते हैं कि इन दोनों प्रकृतियों के उदय में होने वाले परिणाम कौन से भाव हैं-

अ- स यग्मिथ्यात्व के उदय में स य€त्व तथा मिथ्यात्वरूप मिले जुले परिणाम होते हैं। ध. पु. 5 / 198 में कहा है कि इसके उदय में स यक्त्वगुण का अंशरूप उदय रहता है अत: यह क्षायोपशमिक भाव है।

श्री षट्खंडागम / 14 / 19 / 18 में भी स यक्मिथ्यात्व एवं स यक्प्रकृति दोनों को क्षायोपशमिक कहा है।

धवला 1/1/169 में इस प्रकार कहा है- **प्रश्न**- मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से स यग्मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होनेवाले जीव के क्षायोपशमिक भाव कैसे संभव है ?

उ ार-वह इस प्रकार है कि वर्तमान समय में मिथ्यात्वकर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होने से, सǍा में रहनेवाले उसी मिथ्यात्वकर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभाव-लक्षण उपशम होने से और स यग्मिथ्यात्व-कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय होने से स यग्मिथ्यात्व गुणस्थान पैदा होता है, इसलिये वह क्षायोपशमिक है।

इस प्रकार स यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में जो मिश्र रूप परिणाम होते हैं, वे क्षायोपशमिक भाव हैं।

आ- स यक्प्रकृति के उदय में होनेवाला क्षायोपशमिक स यग्दर्शन भी क्षायोपशमिकभाव ही है। जैसा श्री षट्खण्डागम / 14 / 19 / 18 में (उपर्युक्त प्रमाण के अनुसार) कहा गया है कि स यक्प्रकृति क्षायोपशमिक है।

इस तरह यह स्पष्ट हुआ कि इन दोनों प्रकृतियों के उदय में होने वाले परिणाम क्षायोपशमिक भाव हैं। अब यह विचार करना है कि क्षायोपशमिक भाव बंध में कारण होते हैं या नहीं। श्री धवला पु. 7 / पृ. 9 में इस प्रकार कहा है-

ओदइया बंधयरा, उवसमखयमिस्सया य मो खयरा।
भावो दु पारिणामिओ, करणोभयवज्जिओ होदि॥ 3॥

अर्थ- औदयिक भाव बंध करनेवाले हैं, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव मोक्ष के कारण हैं, तथा पारिणामिक भाव बंध और मोक्ष दोनों के कारण से रहित है।

उपर्युक्त प्रमाण से यह स्पष्ट होता है कि क्षायोपशमिक भाव बंध में कारण नहीं हैं। अत: स यक्प्रकृति तथा स यग्मिथ्यात्व के उदय में होनेवाले भावों को, क्षायोपशमिक होने के कारण, बंध का कारण नहीं कहा जा सकता।

मई, 2008

108. क्षायोपशमिक स य€त्व के द्वारा भी नरकायु का अपकर्षण संभव

जिज्ञासा- जिसने नीचे के नरकों की अधिक आयु बाँध ली हो, तो €या वह अपने वेदकस य€त्व द्वारा उसे घटाकर प्रथम नरक की कर सकता है ?

समाधान- इस प्रश्न का उ ार किसी ग्रंथ में स्पष्ट रूप से पढ़ने में नहीं आया, न कभी पू. आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के श्रीमुख से ही सुना गया। फिर भी नि न प्रमाण द्रष्टव्य है-

हरिवंश पुराण सर्ग ख श्लोक क्फ्म-क्फ्त में इस प्रकार कहा है-

श्रेणिकेन तु यत्पूर्वं बह्वारंभपरिग्रहात्।
परस्थितिकमार धं नरकायुस्तमस्तमे॥ क्फ्म॥
तǽु क्षायिकस य€त्वात्स्वस्थितिं प्रथमक्षितौ।
प्रापद्वर्षसहस्राणामशीतिं चतुरुǽाराम्॥ क्फ्त्र॥
त्रयस्त्रिंशत् समुद्राः €व €व चेयं मध्यमा स्थितिः।
अहो क्षायिकस य€त्वप्रभावोऽयमनुǽारः॥ क्फ्त॥

अर्थ- राजा श्रेणिक ने पहले बहुत आरंभ और परिग्रह के कारण तमस्तमः नामक सातवें नरक की, जो उत्कृष्ट स्थिति बाँध रखी थी, उसे क्षायिक स यग्दर्शन के प्रभाव से प्रथम पृथ्वी संबंधी चौरासी हजार वर्ष की मध्यम स्थितिरूप कर दिया। (क्फ्म-क्फ्त्र)। गौतम स्वामी कहते हैं कि कहाँ तो तेतीस सागर और कहाँ यह जघन्य स्थिति? **अहो! क्षायिक स यग्दर्शन का यह अद्भुत लोकोǽार माहात य है।** क्फ्त।

ख पं रतनचन्द्र जी मु तार व्यक्तित्व एवं कृतित्व (नया प्रकाशन) पृष्ठ ब्त्भ् पर ऐसे ही एक प्रश्न का उ ार इस प्रकार दिया है-

''मिथ्यादृष्टि तापसी सप्तम पृथ्वी की आयु को छेदकर प्रथम पृथ्वी की आयु प्रमाण नहीं कर सकता। **क्षायिक स यग्दृष्टि या कृतकृत्यवेदक स यग्दृष्टि ही सप्तम पृथ्वी की आयु का छेदन कर उसे प्रथम पृथ्वी की आयु प्रमाण कर सकता है।** श्री कृष्ण जी तीसरी पृथ्वी की आयु को छेदकर प्रथम पृथ्वी की नहीं कर सके, यद्यपि उनको (बाद में) वेदक स य€त्व प्राप्त हो गया था और तीर्थंकर प्रकृति का बंध भी प्रारंभ हो गया था।

उपर्युक्त प्रमाणानुसार नरकस्थिति के छेद में क्षायिक अथवा कृतकृत्यवेदक क्षायोपशमिक स य€त्व को ही कारण मानना उचित प्रतीत होता है।

सित बर, 2008

109. आयुकर्म का अपकर्षण नहीं, अवल बनाकरण होता है

जिज्ञासा- आयुकर्म का अपकर्षण नहीं होता, अवलंबनाकरण होता है ऐसा €यों? इन दोनों में €या अंतर है?

समाधान- उपर्युक्त के समाधान में श्री धवला पु. 10 पृष्ठ 330 पर इस प्रकार कहा गया है- प्रश्न- अवलंबनाकरण किसे कहते हैं? उǽार- परभवसंबंधी आयु की उपरिम स्थिति के द्रव्य का अपकर्षण द्वारा नीचे पतन करना अवलंबनाकरण कहा जाता है। प्रश्न- इसकी अपकर्षण संज्ञा €यों नहीं की? उǽार- नहीं। €योंकि परभविक आयु का उदय नहीं होने से इसका उदयावलि के बाहर पतन नहीं होता, इसलिये इसकी अपकर्षण संज्ञा करने में विरोध आता है।

भावार्थ- किसी भी कर्म का जब अपकर्षण होता है, तब उसका द्रव्य उदयावलि के ऊपर तक जाता है। परन्तु परभव संबंधी आयु के घटने पर उसका द्रव्य उदयावलि के ऊपर तक न जाकर, आबाधा काल के ऊपर स्थित स्थितिनिषेकों में होता है। अत: इसको अपकर्षण की संज्ञा न देकर, अवलंबनाकरण कहा जाता है। इस कारण इन दोनों शŸदों में अंतर है।

मार्च, 2010

110. उपशमस य€त्व के काल में तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध स भव : दो मत

जिज्ञासा- उपशम स य€त्व के काल में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है या नहीं ?

समाधान- इस प्रश्न के उŠार में गो मटसार कर्मकाण्ड / 93 में इसप्रकार कहा है-

पढमुवसमिये स मे सेसतिये अविरदादिचŠारि।
तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते॥

अर्थ- प्रथमोपशम अथवा द्वितीयोपशम स य€त्व में तथा क्षायोपशमिक या क्षायिकस य€त्व में असंयत से अप्रमŠागुणस्थान पर्यन्त मनुष्य ही तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध का प्रार भ केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल में करते हैं।

उपर्युक्त गाथा के अर्थ के अनुसार प्रथमोपशम स य€त्व में तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का उल्लेख है, परन्तु इस गाथा के विशेषार्थ में कहा गया है, 'यहाँ पर प्रथमोपशम स य€त्व को पृथक् करने का कारण यह है कि इसका काल अन्तर्मुहूर्त होने से इस स य€त्व में सोलहकारण भावना नहीं भा सकते। अत: इस स य€त्व में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होता, ऐसा किसी का अभिप्राय हो, यही विचार करके पृथक् कहा।' इस प्रकार किन्हीं आचार्यों ने कहा है।

इससे स्पष्ट होता है कि प्रथमोपशम स य€त्व के काल में तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध होने के स बन्ध में एक मत नहीं है।

अ टूबर, 2008

111. तीर्थङ्कर प्रकृति के जघन्य स्थितिबन्ध का स्वामी कौन जीव

जिज्ञासा- तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य स्थितिबंध कौन जीव करता है ?

समाधान- श्री गो मटसार कर्मकाण्ड गाथा-151 की टीका में इसका समाधान दिया गया है, जो इस प्रकार है-

तीर्थंकर प्रकृति का बंध चतुर्थ गुणस्थान से आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक होता है। जितनी कषाय कम होती है, उतना ही स्थितिबंध कम होता है। इस नियम के अनुसार तीर्थंकर प्रकृति का **जघन्य स्थितिबंध आठवें गुणस्थान के छठवें भाग के अन्तिम समय में** होता है, ऐसा आगम का कथन है।

112. कृष्ण और नील लेश्या के साथ तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध अस भव

जिज्ञासा- €या कृष्ण लेश्या के साथ तीर्थंकरप्रकृति का बंध संभव है या नहीं ?

समाधान- श्री धवला पु. 8, पृष्ठ 332 पर इस प्रकार कहा है-

''तत्थ हेट्ठिमइंदए णीललेस्सासहिए तित्थयर-संतकम्मियमिच्छाइट्ठीणमुववादाभावादो। तित्थयर-संतकम्मियमिच्छादिट्ठीणं णेरइएसुववज्जमाणाणं सम्मा-दिट्ठीणं व काउलेस्सं मोत्तूण अण्णलेस्साभावादो वा ण णीलकिण्ह-लेस्साए तित्थयरसंतकम्मं अत्थि।''

प्रश्न- (कृष्ण, नील लेश्या में इसका बंध क्यों संभव नहीं है)। उत्तर-नील लेश्या युक्त अधस्तन इन्द्रक में तीर्थंकरप्रकृति के सत्ववाले मिथ्यादृष्टियों की उत्पत्ति का अभाव है। अथवा नारकियों में उत्पन्न होनेवाले तीर्थंकर संतकर्मिक मिथ्यादृष्टि जीवों के समान कापोत लेश्या को छोड़कर अन्य लेश्याओं का अभाव होने से **नील और कृष्ण लेश्या में तीर्थंकर प्रकृति की सत्तावाले जीव नहीं होते हैं।**

अक्टूबर, 2008

113. विस्रसोपचय का अर्थ क्या है

जिज्ञासा- विस्रसोपचय क्या होता है?

समाधान- विस्रसोपचय के सम्बन्ध में श्री धवला पु. 14, पृ. 430 पर इस प्रकार कहा है—''प्रश्न-विस्रसोपचय किसकी संज्ञा है? उत्तर- पाँच शरीरों के परमाणु पुद्गलों के मध्य जो पुद्गल स्निग्ध आदि गुणों के कारण उन पाँच शरीरों के पुद्गलों में लगे हुए हैं, उनकी विस्रसोपचय संज्ञा है। उन विस्रसोपचयों के सम्बन्ध का पाँच शरीरों के परमाणु पुद्गल-गत स्निग्ध आदि गुणरूप जो कारण हैं, उसकी भी विस्रसोपचय संज्ञा है, क्योंकि यहाँ कार्य में कारण का उपचार किया है।

श्री जीवकाण्ड गाथा-249 में इसप्रकार कहा है-

जीवादोणंतगुणा पडिपरमाणुम्हि विस्ससोवचया।
जीवेण य समवेदा एक्केक्कं पडि समाणा हु॥

गाथार्थ- (कर्म और नोकर्म के) प्रत्येक परमाणु पर जीवराशि से अनन्तगुणे विस्रसोपचय हैं, वे जीव के साथ समवेत हैं। एक-एक के प्रति समान हैं॥ 249॥

भावार्थ- कर्म तथा नोकर्म के जितने परमाणु जीव के प्रदेशों के साथ बद्ध हैं, उनमें से एक-एक परमाणु पर जीवराशि से अनन्तानन्त गुणे विस्रसोपचयरूप परमाणु जीवप्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही रूप से (अगले समयों में, कर्म और नोकर्म रूप परिणमन के उत्तरकालवर्ती स्वरूप) स्थित हैं। ये परमाणु, आत्मपरिणाम की अपेक्षा न रखते हुए, अपने स्वभाव से ही, मिलते हैं। वे अनन्तानन्त परमाणु विस्रसोपचय कहलाते हैं। ये कर्म व नोकर्म रूप से परिणमन किए बिना उनके साथ स्निग्ध व रूक्ष गुण के द्वारा एक स्कन्ध रूप होकर रहते हैं। इन परमाणुओं के समूह को विस्रसोपचय कहा जाता है। जिस प्रदेश पर जो जीव स्थित है, वहाँ स्थित जो पुद्गल हैं, वे ही मिथ्यात्व आदि कारणों से, आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं।

नवम्बर, 2008

114. निद्रा के समय भी कर्मबन्ध

जिज्ञासा- निद्रा के समय हम कुछ भी नहीं कर रहे होते हैं, तो उस समय हमें कर्मबन्ध भी नहीं होना चाहिए। क्या ऐसा मानना उचित है? यह भी बताएँ कि स्वाध्याय के समय भी क्या ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है या नहीं?

समाधान- सप्तम गुणस्थान तक के प्रत्येक जीव के चाहे वह निद्रा में हो या कुछ भी क्रिया कर रहा हो, आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों का बन्ध प्रतिसमय होता ही है। €योंकि उसके, बन्ध के कारणभूत कषाय योग आदि पाये ही जाते हैं। यदि आयुकर्म का अपकर्षकाल हो और तद्योग्य परिणाम भी हों, तो उस काल में आठों कर्मों का बन्ध होता है। निद्रा के काल में आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता ही है, अत: योग एवं कषाय आदि होने से बन्ध प्रतिसमय होता ही है।

प्रत्येक संसारी जीव के 47 ध्रुवबन्धी प्रकृतियों का बन्ध प्रतिसमय होता ही है। श्री धवल पुस्तक 8, पृष्ठ 17, के अनुसार वे 47 प्रकृतियाँ इसप्रकार हैं- ज्ञानावरण की 5, अन्तराय की 5, दर्शनावरण की 9, दर्शनमोहनीय की 1 (मिथ्यात्व), चारित्रमोहनीय की 18, (कषाय 16, तथा भय और जुगुप्सा 18), नामकर्म की 9 (तैजस शरीर, कार्मण शरीर, वर्ण आदि 4, अगुरुलघु, उपघात तथा निर्माण)=47।

अत: स्वाध्याय करते समय भी ज्ञानावरणकर्म की पाँचों प्रकृतियों का बंध होना स्वाभाविक है। इतना अवश्य है कि स्वाध्याय के काल में कषायों की मन्दता होने के कारण बँधने वाले कर्मों में स्थिति कम पड़ेगी और पाप- प्रकृतियों में अनुभाग कम एवं पुण्यप्रकृतियों में अनुभाग अधिक पड़ेगा। तदनुसार ज्ञानावरण कर्म पाप प्रकृति है, अत: स्वाध्याय काल में उसका बन्ध तो होगा, परन्तु स्थितिबंध और अनुभागबंध कम होगा।

दिस बर, 2009

115. निद्रा के समय साता-असाता का उदय

जिज्ञासा- निद्रा के समय सातावेदनीय का उदय रहता है या असाता का?

समाधान- उपर्युक्त जिज्ञासा के समाधान में राजवार्तिक अ. 8 / 7 के नौवें वार्तिक में अकलंक स्वामी ने इस प्रकार कहा है- ''निद्राकर्म और सातावेदनीय कर्म के उदय से निद्रापरिणाम की सिद्धि होती है। अर्थात् निद्रादर्शनावरण और सातावेदनीय इन दोनों कर्मों के उदय से निद्रा आती है। निद्रा के समय शोक, थकावट, श्रम आदि का नाश देखा जाता है, अत: साताकर्म का उदय तो स्पष्ट ही है और असाता वेदनीय का भी उस समय मंद उदय रहता है ऐसा जानना चाहिये।''

अगस्त, 2008

116. स्थिर छ क का अर्थ या है

जिज्ञासा- कर्मों की उ ार प्रकृति में 'स्थिर छ क' श द आया है, इसका या अर्थ है?

समाधान- कर्मकाण्ड गाथा-132 में इस प्रकार कहा है-

हस्सरदिउच्चपुरिसे थिरछ€के सत्थगमणदेवदुगे।
तस्सद्धमंतकोडाकोडी आहारतित्थयरे॥

अर्थ- हास्य, रति, उच्चगोत्र, पुरुषवेद, स्थिरछ€क (स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशस्कीर्ति), प्रशस्तविहायोगति, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी इन तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध 10 कोड़ाकोडी सागर है तथा आहारकद्विक तथा तीर्थंकर प्रकृति का अन्त: कोड़ाकोड़ी सागर है। यहाँ स्थिरछ क का अर्थ उपर्युक्त प्रकार समझना चाहिए।

जनवरी, 2010

117. मोहनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है

जिज्ञासा- मोहनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त कहा है (त.सू.अध्याय-8)। परन्तु पुरुषवेद का 8 वर्ष तथा संज्वलन क्रोध का 2 माह आदि का वर्णन फिर किस प्रकार किया गया है ? यह तो अन्तर्मुहूर्त होना चाहिए था।

समाधान- तŠवार्थसूत्र अध्याय-8 **'शेषाणामन्तर्मुहूर्ता'** तथा गो मटसार कर्मकाण्ड गाथा 139 के अनुसार- 'वेदनीय, नाम तथा गोत्र कर्म के अलावा अन्य पाँच कर्मों का जघन्य स्थितिबंध एक-एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कहा गया है। यह सामान्य वर्णन है। गो मटसार कर्मकाण्ड में गाथा 143 के बाद समस्त कर्मों की जघन्य स्थिति का जो चार्ट दिया गया है, वह विशेष वर्णन है।'

अत: उस चार्ट को देखकर आपको सामान्य एवं विशेष वर्णन समझ लेना चाहिए। पुरुषवेद का जघन्य स्थितिबंध 8 वर्ष तथा संज्वलन क्रोध का जघन्य स्थितिबंध 2 माह जो कहा गया है, वह विशेष वर्णन है।

अप्रैल-मई, 2010

118. उदयाभावी क्षय का लक्षण

जिज्ञासा- उदयाभावी क्षय का या स्वरूप है ?

समाधान- उदयाभावी क्षय का स्वरूप आगम में इस प्रकार कहा है-

1. श्री धवला पु. 7/92

सव्वघादि फद्दयाणि अणंत-गुण-हीणाणि होदूण देसघादि फद्दयŠाणेण परिणमिय उदयमागच्छंति तेसिमणंत-गुणहीणŠं खओणाम।

अर्थ- सर्वघाती स्पर्धक अनंत गुणहीन होकर और देशधाती स्पर्धकों में परिणत होकर उदय में आते हैं उन सर्वघाति स्पर्धकों का अनंतगुणहीनत्व ही क्षय कहलाता है।

2. श्री राजवार्तिक 2/5 में इस प्रकार कहा है-

यदा सर्वघाति स्पर्धकस्योदयो भवति तदेषदप्यात्म गुणस्यामि व्यŠ€तर्नास्ति तस्माŠादुदयस्याभाव: क्षय इत्युच्यते।

अर्थ- जब सर्वघाति स्पर्धकों का उदय होता है तब तनिक भी आत्मा के गुण की अभिव्यŠ€त नहीं होती इसलिये उस उदय के अभाव को उदयाभावी क्षय कहते हैं।

भावार्थ- जब सर्वघाति स्पर्धक, देशघाति रूप उदय आने लगे, तब उदयाभावी क्षय कहलाता है। जैसे- क्षायोपशमिक स यŠ€त्व के काल में, दर्शन मोहनीय की सर्वघाति दोनों प्रकृतियाँ मिथ्यात्व एवं स यक्मिथ्यात्व, उदयावली में रहते हुये, उदय में आने से एक समय पूर्व अनंतगुणहीन होकर, स यक्प्रकृति रूप होकर उदय में आती हैं, यही उदयभावी क्षय कहलाता है।

मार्च, 2007

119. उदीरणा किन जीवों के होती है

जिज्ञासा- उदीरणा €या सब जीवों के होती है ?

समाधान - सर्वप्रथम उदय तथा उदीरणा की परिभाषा जानना आवश्यक है। पंचसंग्रह फ/फ में कहा है-

भुंजणकालो उदओ, उदीरणाप€कपाचण फलं।

अर्थ- कर्मों के फल भोगने के काल को उदय कहते हैं और अप€वकर्मों के पाचन को उदीरणा कहते हैं।

भावार्थ- जो कर्म अपने समयानुसार स्थिति पूरी होने पर फल देते हैं, उसे उदय कहते हैं। परन्तु जिनका स्थिति व अनुभाग तो ज्यादा है, परन्तु जिनको समय से पूर्व ही फल देने वाला किया जाता है, वह उदीरणा है इस संबंध में नि न बातें ध्यान देने योग्य हैं-

क. कुछ अपवादों को छोड़कर प्रत्येक जीव के छठे गुणस्थान तक, जिन कर्म प्रकृतियों का उदय होता है, उनके साथ उन्हीं कर्मों की उदीरणा भी अवश्य होती है। यह तप आदि के कारण नहीं, बल्कि स्वभाव से होती है।

ख. श्री राजवार्तिक के अनुसार बाह्य तथा अ यंतर कारणों से, कषायों की उदीरणा होने पर अत्यन्त तीव्र परिणाम होते हैं और उदीरणा रहित परिणाम मन्द होते हैं। जैसे- हम सुई के छिद्र में कोई डोरा पिरोयें। तो वह नहीं पिरोया जाता। पर यदि उसमें थूंक आदि कुछ लगा दें तो धागा तुरन्त पिरोने में आ जाता है।

फ. जो कर्म उदयावली में प्रवेश कर चुके हैं, उनकी उदीरणा नहीं होती है। उससे अधिक समय वाली सŽा स्थित कर्म प्रकृतियों की ही उदीरणा संभव है।

ब. नारकी तथा देवों के भी नरकायु तथा देवायु की उदीरणा, मरण से एक आवली पूर्व तक होती रहती है। पर इसका अर्थ अकाल मरण नहीं लगाना चाहिये। तिर्यंच तथा मनुष्यों के भी, तिर्यंचायु तथा मनुष्यायु के उदय के साथ उदीरणा भी होने का नियम है।

भ. स ा स्थित कर्मों की (जो उदयावली से बाहर हैं) तपादि क्रिया विशेष की सामर्थ्य से, उदयावली में प्रविष्ट कराके जो उदीरणा पूर्वक अनुभव किया जाता है। उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं।

उदय एवं उदीरणा किन कर्म प्रकृतियों की किस गुणस्थान तक होती है, इसके लिये सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ फभ्भ से फभ्त्र तक का अध्ययन करना चाहिए।

अप्रैल, 2007

120. केवली के औदयिक भावों की सं या

जिज्ञासा — केवली के औदयिक भाव कितने हैं, और यों ?

समाधान — कर्मकाण्ड गाथा त्त्ख्क के अनुसार सयोगकेवली नामक क्फ्वें गुणस्थान में नि नलिखित भाव पाये जाते हैं-

क. औपशमिक भाव - कोई नहीं।

ख. क्षायोपशमिक भाव - कोई नहीं।

फ. क्षायिक भाव - - (क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक स य€त्व, क्षायिक चारित्र, तथा क्षायिक

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य)

ब. औदयिक भाव- फ (मनुष्यगति, असिद्धत्व, शु€ल लेश्या)

भ. पारिणामिक भाव- ख (भव्यत्व, जीवत्व)

उपर्युक्त चार्ट के अनुसार सयोगकेवली गुणस्थान में तीन औदयिक भाव होते हैं। मनुष्यगति नामकर्म का उदय होने से एक औदयिक भाव होता है। चार अघातिया कर्मों के विद्यमान रहने और सिद्ध अवस्था अभी प्राप्त न करने के कारण असिद्धत्व रहता है, तथा ईर्यापथआस्रव एवं योगों की प्रवृŽा होने के कारण शु€ललेश्या होने से तीसरा औदयिक भाव होता है, इस प्रकार कुल तीन औदयिक भाव पाये जाते हैं। अयोगकेवली अवस्था में योगों की प्रवृŽा का अभाव हो जाने से मात्र दो ही औदयिक भाव पाये जाते हैं, शु€ललेश्या का अभाव हो जाता है।

फरवरी, 2008

121. जीव के 53 भावों के अलावा अन्य भी भाव होते हैं

जिज्ञासा- □ या जीव में 53 भाव के अलावा अन्य भाव भी होते हैं?

समाधान- जीव के 53 भावों को स्वतŽव कहा है, अर्थात् ये जीव के 53 भाव चेतनात्मक हैं। इसकारण स्वत□ व कहे हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भावों का भी उल्लेख टीकाओं से प्राप्त होता है, जो सामान्य से इन 53 में ही गर्भित माने जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं-

(अ) ज्ञानार्णव सर्ग 6 / गाथा 42 में इस प्रकार कहा है-

अन्योन्य संक्रमोत्पन्नो भावः स्यात्सान्निपातिकः।
षद्विंशद्भेदभिन्नात्मा स षष्ठो मुनिभिर्मतः॥

अर्थ- जीव के इन पाँच भावों के परस्पर संयोग से उत्पन्न हुआ सान्निपातिक नाम का एक छठा भाव भी आचार्यो ने माना है। वह छ□ बीस भेदों से भेदरूप है।

(आ) सान्निपातिक भावों के संबंध में राजवार्तिक अ. 2/7 की टीका में इस प्रकार कहा है-

''सान्निपातिक नाम का कोई छठवाँ भाव नहीं है। यदि है भी तो वह 'मिश्र' श□ द से गृहीत हो जाता है। 'मिश्र' शŽद केवल क्षयोपशम के लिये ही नहीं है किन्तु उसके पास ग्रहण किया गया 'च' शŽद सूचित करता है कि 'मिश्र' शŽद से क्षायोपशमिक और सान्निपातिक दोनों का ग्रहण करना चाहिये। संयोग भंग की अपेक्षा आगम में उसका निरुपण किया गया है। सान्निपातिक भाव 26, 36 और 41 आदि प्रकार के बताये हैं। जैसे 26 भाव का खुलासा द्विसंयोगी-10, त्रिसंयोगी-10, चतुः संयोगी 5 और पंच संयोगी-1 =26। उदाहरण- द्विसंयोगी जैसे मनुष्य और उपशांत क्रोध (औदयिक-औपशमिकभाव) आदि। इसी तरह अन्य भावों की व्या या राजवार्तिक से देख लीजियेगा।

(इ) तŽवार्थसूत्र अ.2/7 में जो 'च' शŽद दिया है, उसका अर्थ राजवार्तिक में इस प्रकार दिया है- अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, पर्यायवत्व, असर्वगतत्व, प्रदेशवत्व, अरूपत्व आदि के समुच्चय के लिये सूत्र में 'च' शŽद दिया है। €योंकि ये भाव अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं अतः असाधारण पारिणामिक जीवभावों के निर्देशक इस सूत्र में इनका ग्रहण नहीं किया है। यद्यपि ये सभी भाव पारिणामिक हैं।

(ई) तǍवार्थसूत्र अ. 2/5 में जो अंत में 'च' शǴद दिया है उसके संबंध में राजवार्तिक में कहा है- क्षायोपशमिक संज्ञित्वभाव, नोइंद्रियावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने के कारण मतिज्ञान में अंतर्भूत हो जाता है। स यक्-मिथ्यात्व, यद्यपि दूधपानी की तरह उभयात्मक है, फिर भी स य€त्वपना उसमें विद्यमान होने से वह स य€त्व में अंतर्भूत हो जाता है। योग भी क्षायोपशमिक भाव है, उसका वीर्यलǴध में अंतर्भाव हो जाता है। अथवा 'च' श[] द से इन भावों का संग्रह हो जाता है।

उपरोक्त प्रकार से जीव के 53 असाधारण भावों के अलावा, उपरोक्त सान्निपातिक या स यक्-मिथ्यात्व आदि भावों को समझ लेना चाहिए।

अप्रैल, 2008

122. असाता वेदनीय का उत्कृष्ट उदयकाल

जिज्ञासा- असातावेदनीय का उत्कृष्ट उदयकाल कितना है ?

समाधान- इस प्रकरण पर श्री धवला पु. 15/62/2 में इस प्रकार कहा है-

''असादस्स जहण्णएण एग समओ, उ€कस्सेण तेǍीस सागरोपमाणि अंतोमुहुǍामहियाणि। कुदो। सǍाम पुढवि पवेसादो पुव्वं पच्छा च असादस्स अंतोमुहुǍा- मेǍाकालमुदीरणुवलंभादो।''

अर्थ- असातावेदनीय की उदीरणा का काल जघन्य से एक समय और **उत्कर्षतः अंतर्मुहूर्त से अधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण है, €**योंकि सातवीं पृथ्वी में प्रवेश करने से पूर्व और पश्चात् अंतर्मुहूर्तमात्र काल तक असातावेदनीय की उदीरणा पाई जाती है।

सित बर, 2008

123. देव और नारकियों के भी आयुकर्म की प्रकृति-प्रदेश उदीरणा

जिज्ञासा- देव तथा नारकियों के आयुकर्म की उदीरणा प्रति समय होती है, तो उनका अकालमरण **€**यों नहीं हो सकता ?

समाधान- सामान्य नियम तो यह है कि जिस कर्म का जहाँ उदय होता है, वहाँ उसकी उदीरणा भी होती ही है। कर्मकाण्ड / 278 में इस प्रकार कहा है-

उदयस्सुदीरणस्स य सामिǍादो ण विज्जदि विसेसो।
मोǍूण तिण्णि ठाणं पमǍा जोगी अजोगी य॥

अर्थ- उदय और उदीरणा रूप प्रकृतियों में स्वामीपने की अपेक्षा कुछ विशेषता नहीं है, किन्तु प्रमǍा, सयोगकेवली तथा अयोगकेवली इन गुणस्थानों को छोड़ देना, **€**योंकि इन तीनों गुणस्थानों में ही विशेषता है, शेष गुणस्थानों में समानता ही है।

उदीरणा चार प्रकार की है- प्रकृति-उदीरणा, स्थिति-उदीरणा, अनुभाग-उदीरणा तथा प्रदेश-उदीरणा। (देखें श्री धवला क्भ/ब्फ)

उपर्युक्त सामान्य नियम के अनुसार नरकायु तथा देवायु के उदय के साथ उदीरणा भी नियम से होती है। परन्तु उनका अकालमरण नहीं हो सकता, **€**योंकि इन उपपाद जन्मवाले जीवों के, प्रदेश-उदीरणा होती है, पर स्थिति-उदीरणा नहीं होती। अकालमरण तो स्थिति- उदीरणा होने पर होता है। अतः केवल प्रदेश-उदीरणा

होने से आयु की स्थिति नहीं घटती, मात्र प्रदेशों की ही उदीरणा होती है। इस स्थिति में अकालमरण संभव नहीं होता।

सित बर, 2008

124. एक साथ दो संस्थान का उदय नहीं होता

जिज्ञासा- €या एक साथ दो संस्थानों का उदय स भव है ?

समाधान- वर्तमान में हम देखते हैं कि एक ही व्यक्ति बौना भी दिखाई देता है और कुबड़ा भी। उसको देखकर मन में विचार होना स्वाभाविक है कि इसके वामन एवं कु जक इन दोनों संस्थानों का उदय दिखाई देता है। परन्तु जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग-1, पृष्ठ-390 (क्र. 4) पर दिए गये, नामकर्म-उदयस्थान-प्ररूपणाओं में इसप्रकार कहा गया है— तीन शरीर (औदारिक, वैक्रियिक तथा आहारक), 6 संस्थान, प्रत्येक-साधारण इन तीन समूहों की 11 प्रकृतियों में से प्रत्येक समूह की कोई 1-1 करके युगपत् तीन का ही उदय होता है।' अर्थात् एक जीव के एक समय में एक ही संस्थान का उदय होता है, दो का नहीं। ऐसा नियम है।

नव बर, 2008

125. विग्रहगति में किस आयु का उदय, भुज्यमान का या बद्ध्यमान का

जिज्ञासा- विग्रहगति मेंं पिछले भव की आयु तथा गति रहती है या अगले भव की ?

समाधान- मान लो कि किसी एक जीव ने जो मनुष्य था, मनुष्यपर्याय छोड़कर, अगली देवपर्याय पाने के लिये गमन किया तब, जब तक मनुष्य आयु तथा मनुष्य गति का उदय है, तब तक वह जीव, मनुष्य पर्याय को नहीं छोड़ता है। मनुष्य आयु के अन्तिम निषेक उदय के उपरान्त ही वह जीव मनुष्य पर्याय छोड़कर विग्रहगति में प्रवेश करता है और विग्रहगति के प्रथम समय से ही देवगति एवं देवायु का उदय प्रार भ हो जाता है। कर्मकाण्ड गाथा 285 में इसप्रकार कहा गया है-

गदि आणुआउउदओ सपदे भूपुण्णबादरे ताओ।
उच्चुदओ णरदेवे थीणतिगुदओ णरे तिरिये॥

अर्थ- किसी भी विवक्षित भव के प्रथम समय में ही, उस विवक्षित भव के योग्य गति-आनुपूर्वी और आयु का उदय होता है। तथा 'सपदे' कहने से एक जीव के एक ही गति, आनुपूर्वी तथा आयु का उदय युगपत् होता है।

इस प्रकार विग्रहगति के प्रथम समय से ही, प्राप्त होनेवाली अगली पर्याय स बन्धी गति व आयु का उदय मानना चाहिए।

नव बर, 2008

126. विग्रहगति में पुद्गलविपाकी कर्मों का उदय नहीं

जिज्ञासा- या विग्रहगति में पुद्गलशरीर न होने से पुद्गल विपाकी कर्मों का उदय भी नहीं होता ?

समाधान- इसके समाधान में सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ 307 पर दिए गए विशेषार्थ में इसप्रकार कहा गया है-

'जब तक जीव को औदारिक आदि नोकर्मवर्गणा का निमिž। नहीं मिलता है, तब तक पुद्गल विपाकी कर्म अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होते हैं। इनका विपाक पुद्गलों का निमि । पाकर होता है, इसलिए इन्हें पुद्गल विपाकी कहते हैं। जैसे कोई एक जीव दो मोड़ा लेकर यदि जन्म लेता है, तो उसके प्रथम और द्वितीय

मोड़े के समय शरीर आदि पुद्गल विपाकी प्रकृतियों का उदय नहीं होता है। तीसरे समय में, जब वह नवीन शरीर को ग्रहण करता है, तभी उसके इन प्रकृतियों का उदय होता है।

अ टूबर, 2009

127. नवग्रह से शुभ व अशुभ फल नहीं, कर्मोदय से होता है

जिज्ञासा- संसारी अवस्था में €या नवग्रह आदि के कारण हमारा अच्छा बुरा होता है या नहीं? इस संबंध में शास्त्र €या कहते हैं?

समाधान- आजकल बहुत से जैनी भाई अपने आपको नवग्रह की बाधा से पीड़ित मानते हुए तरह-तरह के मन्त्र-जाप-विधानादि करते हुए देखे जा रहे हैं। वर्तमान के कुछ आचार्य एवं मुनि भी उन भाइयों को ग्रहशान्ति के लिए नवग्रहविधान तथा कालसर्पयोगविधान आदि कराते हुए देखे जा रहे हैं। यह सब कलिकाल का प्रभाव है। ऐसे अज्ञानी जीव कितने ही शास्त्रीय प्रमाण बताए जाने पर भी अपनी गलत धारणा को बदलने के लिए तैयार नहीं होते। इस संबंध में **वरांगचरित** सर्ग-24 में इस प्रकार कहा है- ''ग्रहों की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता के कारण ही संसार का भला अथवा बुरा होता है, जो लोग इस प्रकार का उपदेश देते हैं, वे संसार के भोले, अविवेकी प्राणियों को साक्षात् ठगते हैं। €योंकि यह सिद्धान्त वास्तविकता से बहुत दूर है। यदि यह सत्य हो तो, जो लोग इस पर आस्था करते हैं, सबसे पहले वे अपनी उन्नति तथा अ युदय को €यों नहीं करते हैं? यदि शुभग्रहों के मिलने से ही सुख-स पŠी होती है, तो €या कारण है कि श्रीरामचन्द्र जी का अपनी पत्नी से वियोग हुआ था, जबकि उनकी तथा सीताजी की कुण्डली तो बहुत सुन्दररूप से मिली थी। ग्रहों के गुरु शुक्राचार्य के द्वारा कही गई नीति यदि ऐसी है कि उसका पालन करने पर कभी किसी की हानि हो ही नहीं सकती है, तो वह रावण जो कि उसका विशेषज्ञ था, €यों अपनी स्त्री तथा बच्चों के साथ सदा के लिए नष्ट हो गया? —— उग्र तेजस्वी सूर्य तथा जगत को मोह में डालने के योग्य अनुपम कान्ति तथा सुधा के अनन्त स्रोत चन्द्रमा का दूसरे ग्रहों (राहु तथा केतु) के द्वारा ग्रसना, इन्द्र के प्रधानमंत्री अनुपम मतिमान् वृहस्पति का दूसरों के द्वारा भरणपोषण तथा इस लोक के सुवि यात मौलिक विद्वानों की दारुण-दरिद्रता को देखकर कौन ऐसा बुद्धिमान् व्यक्ति है, जो कि इस लोकप्रवाद पर विश्वास करेगा कि संसार के सुख-दुख के कारण सूर्य आदि ग्रह ही हैं।''

उपर्युक्त प्रकरण से स्पष्ट है कि ग्रह आदि हमको सु ादुख देने में कारण नहीं हैं। ये मात्र सूचना देने में निमिŠा हैं। इनकी पूजा करना अथवा इनकी शान्ति के लिए विधान आदि करना मिथ्यात्व है। सांसारिक कष्ट आदि आने पर हमें निष्कामभाव से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति-पूजा आदि करनी चाहिए, जिससे स्वयमेव ही अशुभ कर्मों का संक्रमण या अनुभाग हीन हो जाने से सांसारिक कष्ट दूर होते हैं। ऐसी धारणा बनाना ही उचित है।

दिस बर, 2009

128. क्षपितकर्मांशिक का स्वरूप

जिज्ञासा - क्षपितकर्मांशिक किसे कहते हैं ?

समाधान - श्री धवला पु.10 पृ.268 पर क्षपित-कर्मांशिक का स्वरूप इस प्रकार कहा है-

'जो जीवो सुहुमनिगोदजीवेसु .....जहण्णा।''

अर्थ - जो जीव पल्योपम के असं यातवें भाग से हीन कर्मस्थितिकाल (70 कोड़ाकोड़ी सागर) तक सूक्ष्म निगोद जीवों में रहकर अपर्याप्त व पर्याप्त भवों को यथाक्रम से अधिक व अल्प ग्रहण करता रहा है। इस प्रकार से परिभ्रमण करता हुआ वहाँ से निकलकर क्रम से बादर पृथिवीकायिक पर्याप्त, पूर्वकोटि प्रमाण आयु वाले मनुष्य, दस हजार वर्ष की आयु वाले देव, बादर पृथिवीकायिक पर्याप्त, सूक्ष्मनिगोद जीव पर्याप्त और बादर पृथिवीकायिक पर्याप्त, इन जीवों में उत्पन्न होकर यथायोग्य स यक्त्व व मिथ्यात्व आदि को प्राप्त होता रहा। इस प्रकार नाना भवों में परिभ्रमण करता हुआ आठ संयमकाण्डकों का पालनकर, चार बार कषायों को उपशमाकर और पल्योपम के असं यातवें भाग मात्र संयमासंयमकाण्डक व स यक्त्वकाण्डकों का परिपालन कर अन्त में फिर से भी जो पूर्वकोटि आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ व वहाँ सबसे अल्पकाल में योनिनिष्क्रमण रूप जन्म से आठ वर्ष का होकर संयम को प्राप्त हुआ। वहाँ कुछ कम पूर्वकोटि मात्र भवस्थिति तक संयम का परिपालन करते हुए जो थोड़ी सी आयु के शेष रह जाने पर क्षपणा में उद्यत होकर अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ-क्षीणकषाय गुणस्थान के अन्तिम समय को प्राप्त हुआ है, वह क्षपितकर्मांशिक कहलाता है।

अगस्त, 2006

129. उद्वेलना का स्वरूप व प्रकृतियाँ

जिज्ञासा- उद्वेलना किसे कहते हैं ? उद्वेलना किन-किन कर्म प्रकृतियों की तथा किन जीवों के द्वारा की जाती है ?

समाधान- उद्वेलना-संक्रमण की परिभाषा इसप्रकार है- 'जिस प्रकार रस्सी को बल देकर बँटा था, पुन: बँट को खोल दिया, उसीप्रकार जिन प्रकृतियों का पूर्व में बंध किया था, उनको फल अर्थात् उदय में आने से पूर्व ही अपकर्षण करके अन्य प्रकृतिरूप परिणमाकर नाश कर देना उद्वेलना संक्रमण है। जो जीव जिस समय उन प्रकृतियों को नहीं बाँध रहा होता है और ना ही उनको बाँधने की उस समय उसमें योग्यता होती है, उन ही प्रकृतियों की उद्वेलना होती है। उद्वेलना योग्य प्रकृतियाँ 13 हैं-

आहारकद्विक, सम्यक्प्रकृति, सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति, देवद्विक (देवगति, देवगत्यानुपूर्वी), नरकद्विक, मनुष्यद्विक, वैक्रियिकद्विक (वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग), उच्च गोत्र।

इन प्रकृतियों की उद्वेलना सामान्यत: मिथ्यादृष्टि जीव ही करते हैं। विशेष इस प्रकार है- 1. आहारक द्विक की उद्वेलना कोई भी संयमी मुनि, असंयम को प्राप्त होकर अन्तर्मुहूर्त में प्रारंभ कर देता है। और जब तक वह असंयत है, और जब तक सत्कर्म से रहित है तब तक उद्वेलना करता रहता है।

2.सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति की उद्वेलना कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्त होते ही प्रारम्भ कर देता है।

3. देवद्विक, नरकद्विक तथा वैक्रियिकद्विक इन प्रकृतियों की उद्वेलना, एकेन्द्रिय व विकलत्रय जीव करते हैं, क्योंकि उनके इन प्रकृतियों का न तो उदय है और न बन्ध होता है।

4. मनुष्यद्विक तथा उच्चगोत्र की उद्वेलना, अग्निकायिक व वायुकायिक जीव करते हैं। क्योंकि उनके इन प्रकृतियों का न तो उदय है और न बंध ही संभव है।

विशेष जानकारी के लिए गो मटसार कर्मकाण्ड का उद्वेलना प्रकरण पढ़ने योग्य है।

जून, 2009

130. विसंयोजना एवं क्षय में अन्तर

जिज्ञासा- विसंयोजना और क्षय में कुछ अन्तर है या नहीं ?

समाधान- श्री धवल पुस्तक-2 के अनुसार अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के स्कन्धों को अन्य अप्रत्या यानावरणी आदि कषाय रूप परिणमा देने को विसंयोजना कहते हैं। इस प्रक्रिया में अनन्तानुबन्धी का द्रव्य, अन्य कषायरूप संक्रमण करके सत्ता में बना रहता है। जब जीव सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व को प्राप्त होता है, तब प्रथम समय में ही सत्ता में स्थित अनन्तानुबंधी का समस्त विसंयोजित द्रव्य पुनः संयोजित होकर अनन्तानुबंधी रूप हो जाता है, जब कि कर्म का कर्माभाव रूप से परिणत होना क्षपणा है। क्षपणा में अकर्मरूप से परिणमन करके नष्ट हुई उस प्रकृति की पुनः उत्पत्ति संभव नहीं है। इस तरह विसंयोजना और क्षय में बहुत अन्तर है। केवल अनन्तानुबन्धी प्रकृति पुनः उत्पन्न स्वभाववाली है। अतः उसे क्षीण नहीं माना जाता। अनन्तानुबंधी के अलावा अन्य किसी भी कर्मप्रकृति की विसंयोजना नहीं कही गई है।

जनवरी, 2010

131. अकृतसमुद्घात जिन कौन हैं

जिज्ञासा : अकृतसमुद्घात जिन कौन होते हैं ?

समाधान : श्री भगवती आराधना गाथा नं. 2104 में इस प्रकार कहा है -

जेसिं आउसमाइं णामागोदाइं वेदणीयं च।
ते अकदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं।।

अर्थ - जिनके नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म स्थिति में आयु कर्म के समान होते हैं, वे चूँकि केवलिसमुद्घात को नहीं किया करते हैं, अतएव अकृतसमुद्घात जिन कहे जाते हैं।

जुलाई, 2006

132. उपपाद नाम का समुद्घात नहीं होता है

जिज्ञासा- क्या उपपाद नाम का कोई आठवाँ समुद्घात भी होता है ?

समाधान- उपपाद नामक कोई आठवाँ समुद्घात नहीं होता। समुद्घात तो सात ही होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 1 सूत्र 8 की सर्वार्थसिद्धि टीका में यह शब्द बहुत प्रयोग हुआ है शायद आपने इनको ही देखकर प्रश्न लिखा है। जैसे-इस सूत्र की टीका में स्पर्शन प्ररूपणा में पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवों का उपपाद की अपेक्षा सर्वलोक स्पर्श कहा है। यहाँ उपपाद शब्द का अर्थ इस प्रकार समझना है कि तीनों लोकों में स्थावर जीव भरे हुये हैं। यदि तीनों लोकों के किसी स्थान से कोई स्थावर जीव मरकर पंचेन्द्रिय में उत्पन्न होने वाला हो, तो

वह मरण करने के तुरन्त बाद प्रथम समय से ही पंचेन्द्रिय जीव कहलाने लगता है। अभी वह पंचेन्द्रिय के शरीर को धारण नहीं कर पाया है, फिर भी पंचेन्द्रियजाति नामकर्म के उदय से पंचेन्द्रिय जीव कहलाता है। ऐसे पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव पूरे लोक में पाये जाते हैं, यह यहाँ उपपाद शÆद का अर्थ लगाना चाहिये। प्रमाण इस प्रकार है-

तिलोयपण्णÆी अधिकार 2/8 की टीका के भावार्थ में इस प्रकार कहा है-

''विवक्षित भव के प्रथम समय में होनेवाली पर्याय की प्राप्ति को उपपाद कहते हैं।''

अप्रैल, 2008

133. वेदना समुद्घात का जघन्य और उत्कृष्ट क्षेत्र

जिज्ञासा- €या सभी जीवों के वेदना समुद्घात, शरीर से तीन गुने प्रमाण ही होता है या कम-ज्यादा?

समाधान- धवला पु. 11, पृष्ठ 18 एवं 21 पर इस संबंध में इस प्रकार कहा है- 'वेदना के वश से जीवप्रदेशों के विष्क भ और उत्सेध के अनुसार तिगुने प्रमाण में फैलने का नाम वेदना समुद्घात है। परन्तु सबके जीव-प्रदेश, वेदना के वश से तिगुने ही फैलते हों, ऐसा नियम नहीं है। किन्तु कम-अधिक रूप से स्थित वेदना के वश से अपने विष्क भ की अपेक्षा एक दो प्रदेशादिकों से भी वृद्धि होती है। परन्तु निगोद जीवों में उत्पन्न होने वाले जीव के अतिशय तीव्र वेदना का अभाव होने से विवक्षित शरीर से तिगुना वेदना समुद्घात संभव नहीं है।

भावार्थ- वेदना की तीव्रता के अनुसार वेदना समुद्घात में आत्मप्रदेश, जघन्य से 1-2 प्रदेश और उत्कृष्ट से तीन गुने तक फैलते हैं।

अप्रैल-मई, 2010

134. अशुभ तैजस शरीर निकलने के अन्य प्रमाण

जिज्ञासा- अशुभ तैजस का द्वीपायन मुनि का उदाहरण, तो हमको ज्ञात है। यदि कोई अन्य उदाहरण भी शास्त्रों में मिलते हैं तो बतायें।

समाधान- अशुभ तैजस समुद्घात के कुछ अन्य उदाहरण भी प्रथमानुयोग के शास्त्रों में उपलÆध होते हैं। जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

1. भाव पाहुड गाथा-49 की टीका में बाहु मुनि की कथा दी गई है। जिसमें लिखा है, ''पश्चात् एक बाहु नामक मुनि उस नगर में आए, लोगों ने उनको रोका भी कि इस नगर में राजा दुष्ट है, उसने पाँच सौ मुनियों को घानी में पिलवा दिया है, आपको भी वैसा ही करेगा। उन लोगों के वचन सुनकर बाहु मुनि रुष्ट हो गए, जिससे उन्होंने अशुभ तैजस समुद्घात के द्वारा राजा और मंत्री सहित समस्त नगर को भस्म कर डाला और स्वयं भी मरण को प्राप्त हो गये। मरण कर वे रौरव नामक सातवें नरक के बिल में जा पड़े।''

2. पं0 भूरामल जी शास्त्री (आ0 ज्ञानसागर जी महाराज) द्वारा रचित समुद्रदÆाचरित्र में पृष्ठ 27 पर इस प्रकार कहा है- ''वज्रसेन के दिल पर इसका यह प्रभाव हुआ कि उसने विर त होकर जिनदीक्षा ले ली और अंतरंग से नहीं, किन्तु ऊपर से उसने घोर तप करना शुरू कर दिया। तप करते-करते वह एक बार स्तवकगुच्छ नगर के बाहर आकर बैठा था कि, उसे देखकर क्रोध में भरे हुए लोगों ने उसे लाठी वगैरह से मारना शुरू

किया। इससे क्रोध में आकर उस मुनि ने अपने बाँये कंधे से निकले हुए तैजस पुतले से, पहले उस सारे नगर को जलाया और बाद में खुद भी उसी से भस्म होकर नरक गया।''

3. पद्म पुराण भाग-2, पृष्ठ-204 पर इस प्रकार कहा है- ''राजा की आज्ञा के अनुसार गणनायक के साथ-साथ जितना मुनियों का समूह था, वह सब पापी मनुष्यों के द्वारा घानी में पिलकर मृत्यु को प्राप्त हो गया। उस समय एक मुनि कहीं बाहर गये थे, जो लौटकर उसी नगरी की ओर आ रहे थे। उन्हें किसी दयालु मनुष्य ने यह कहकर रोका कि हे निर्ग्रन्थ! तुम, निर्ग्रन्थ अवस्था में नगरी में मत जाओ अन्यथा घानी में पेल दिए जाओगे। समस्त संघ की मृत्यु के दुःख से वे मुनि क्षण भर के लिए निश्चल हो गए। उन निर्ग्रन्थ मुनिरूपी पर्वत की शांतिरूपी गुफा से सैकड़ों दुखों से प्रेरित हुआ क्रोधरूपी सिंह बाहर निकला। उनके नेत्र के लाल-लाल तेज से आकाश ऐसा व्याप्त हो गया मानो संध्या हो गई हो। क्रोध से तपे हुए मुनिराज के समस्त शरीर में पसीने की बूँदे निकल आईं और उनमें लोक का प्रतिबि ब पड़ने लगा। उन मुनिराज ने मुख से **'हा'** श द का उच्चारण किया, उसी के साथ मुख से धुँआ निकला, जो कालाग्नि के समान अत्यधिक कुटिल और विशाल था। उस धुँए के साथ ऐसी ही निरन्तर अग्नि निकली जिसने ईंधन के बिना ही समस्त देश को भस्म कर दिया। कुछ भी शेष नहीं बचा। महान् संवेग से युक्त मुनिराज ने चिरकाल से जो तप संचित कर रखा था, वह क्रोधाग्नि में दग्ध हो गया।

अन्य कोई और प्रमाण भी यदि पाठकों को किसी शास्त्र में पढ़ने को मिलें, तो अवश्य बताने का कष्ट करें।

सित बर, 2009

135. तैजस शरीर की उत्कृष्ट स्थिति का अर्थ

जिज्ञासा- आगम में औदारिक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति- 3 पल्य, वैक्रियिक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति 33 सागर, आहारक शरीर की अंतर्मुहूर्त, तैजस शरीर की 66 सागर तथा कार्मण शरीर की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोड़ाकोड़ी सागर कही है। तो तैजस शरीर की उत्कृष्ट स्थिति से **€**या तात्पर्य है ?

समाधान- तैजसवर्गणाओं से तैजस शरीर की निष्पZि होती है। वे तैजस वर्गणायें आत्मा के साथ स बद्ध होकर रहतीं हैं। उनमें से कोई वर्गणा तो प्राप्त होने के अगले समय में ही अलग हो जाती है और कोई वर्गणा आत्मा के साथ 66 सागर काल तक संबद्ध रह सकती है। तैजस शरीर सामान्य तो आत्मा के साथ हमेशा रहता है। कहा भी है- **'अनादि संबंधे च'** अर्थात् तैजस और कार्मण शरीर का संबंध आत्मा के साथ कितने काल तक रह सकता है- इस संबंध में कहा गया है कि तैजस वर्गणा के रहने का काल जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट से 66 सागर मानना चाहिये। श्री धवला पु. 14 पृष्ठ 246-248 पर पाँचों शरीरों से बद्ध निषेकों का उत्कृष्ट व जघन्य काल दिया है। वहाँ कहा गया है कि तैजस शरीर बद्ध वर्गणाओं का उत्कृष्ट काल 66 सागर तथा जघन्य काल 1 समय है।

अगस्त, 2007

136. भरतक्षेत्र आदि नाम अनादि हैं या सादि

जिज्ञासा - भरत, ऐरावत तथा विदेह क्षेत्र का यह नाम अनादि कालीन है या किसी कारणवश है।

समाधान- आपकी जिज्ञासा के समाधान में त वार्थ श्लोकवार्तिक के रचयिता आचार्य विद्यानंद महाराज ने 'भरत-हैमवत-हरि-विदेह-र यक-हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि' इस सूत्र की टीका करते हुए इस प्रकार कहा है।

क. प्रत्येक अवसर्पिणी काल के चौथे काल के आदि में भरत नाम का पहला चक्रवर्ती इसके छह खण्डों को भोगता है इसलिये इसे भरतवर्ष कहते हैं। दूसरा उ̈ार यह भी है कि जगत अनादि है, इस क्षेत्र की अनादि काल से भरत संज्ञा चली आ रही है।

ख. भरत क्षेत्र के बीच में पूर्व से पश्चिम तक ल बा जो विजयार्द्ध नामक पर्वत है, उसका यह सार्थक नाम इसलिये पड़ा है कि यहाँ तक चक्रवर्ती के विजय की आधी सीमा होती है। अतः इसका नाम विजयार्द्ध सार्थक है।

फ. विदेह क्षेत्र के स बन्ध में लिखा है कि वहाँ सर्वदा मोक्षमार्ग की प्रवृ̈ा बने रहने से अनेक मनुष्य कर्म बन्ध को नष्ट कर देह रहित हो जाते हैं। अतः इसका विदेह नाम सार्थक है।

ब. भरत क्षेत्र के समान ऐरावत क्षेत्र के प्रत्येक अवसर्पिणी के चतुर्थ काल का प्रथम चक्रवर्ती ऐरावत नाम वाला होता है। अतः इसी कारण इसे ऐरावत क्षेत्र कहा जाता है।

श्री राजवार्तिक में भी इसी प्रकार कथन पाया जाता है।

अप्रैल, 2007

137. ज बूवृक्ष व शाल्मलीवृक्ष का स्वरूप

जिज्ञासा- ज बू वृक्ष तथा शाल्मली वृक्ष का स्वरूप बतायें।

समाधान- करणानुयोग के विभिन्न शास्त्रों के आधार से प्रश्न का समाधान इस प्रकार है-

(1) **ज बू वृक्ष**- नील कुलाचल के समीप, सीता नदी के पूर्व तट पर मेरु पर्वत की ईशान दिशा में, उ̈ार कुरु क्षेत्र के कोने में, जामुन वृक्ष के आकार के समान, शाश्वत, पृथ्वी काय, उ̈ाम रत्न एवं मणियों से बना हुआ एक महान् जंबूवृक्ष स्थित है। इसकी प्रथम पीठिका 500 योजन विस्तृत, मध्य में 8 योजन ऊँची और अंत में आधा योजन ऊँची है। इस पीठिका के मध्य में 8 योजन ऊंची एक स्वर्णमय पीठिका है जिसका मूल व्यास 12 योजन, मध्य 8 योजन और अग्रभाग का व्यास 4 योजन प्रमाण है। इस पीठ के मध्य भाग में, ऊपर तीन छत्रों से अंचित, वज्रमय स्कंध, उ̈ाम वैडूर्य रत्नों के पत्र एवं फलों से संकुलित अनेक लघु जंबूवृक्षों के मध्य में महादैदीप्यमान जंबूवृक्ष है। उस वृक्ष के अर्धभाग से चार शाखायें निकलती हैं। इनमें से उ ार दिशा संबंधी शाखा पर यक्षों से निरंतर पूज्य, वंदनीय एवं स्तुत्य, शाश्वत अर्थात् अकृत्रिम जिन चैत्यालय है। शेष 3 शाखाओं पर जंबूद्वीप का रक्षक अनावृत नाम का देव अपनी परम विभूति के साथ निवास करता है।

(2) **शाल्मली वृक्ष**- सुदर्शन मेरु की नैऋत्य दिशा में, सीतोदा नदी के पश्चिम तटपर, निषध कुलाचल के समीप देव कुरु क्षेत्र में जंबूवृक्ष के समान उत्सेध, आयाम एवं विस्तार से यु€त शाल्मली वृक्ष है। इसकी दक्षिण शाखा पर वेणुधारी आदि देवों द्वारा पूज्य और अनेक जिनबिबों से संकुलित रत्नमय अकृत्रिम जिनालय है। शेष तीन शाखाओं पर वेणु नाम का महान् देव निवास करता है।

138. लवणसमुद्र के पातालों की गहराई

जिज्ञासा- €या लवणसमुद्र के पातालों की गहराई नरक के बिलों तक गहरी है? प्रमाण से बताइये।

समाधान- उपरो€त संबंध में श्री तिलोयपण्णिÊ 4 / 2443 में इसप्रकार कहा है-

जेट्ठा ते संलग्गा, सीमंत बिलस्स उवरिमे भागे।
पणसय जोयण बहला, कुड्डा एदाण वज्जमया॥

अर्थ- वे ज्येष्ठ पाताल सीमंतक बिल के उपरिम भाग से संलग्न हैं। इनकी वज्रमय दीवारें 500 योजन प्रमाण मोटी हैं।

विशेषार्थ:- रत्नप्रभा नाम की प्रथम पृथ्वी 1,80,000 योजन मोटी है। इसके खर, पङ्क तथा अÊबहुल नाम वाले 3 भाग हैं। ये क्रमशः 16,000, 84000 और 80000 योजन मोटे हैं। लवणसमुद्र की मध्यम परिधि पर जो चार ज्येष्ठ पाताल हैं, वे अ बहुल भाग में स्थित प्रथम नरक के सीमंतक बिल के उपरिम भाग से संलग्न हैं। और इनसे चित्रा पृथ्वी के उपरिम तल की ऊँचाई 16000+ 84000= 1,00,000 (एक लाख) योजन है।

उपर्यु€त प्रमाणानुसार लवणसमुद्र के ज्येष्ठ पाताल, प्रथम नरक तक गहरे हैं।

सित बर, 2007

139. ज्वारभाटा किन समुद्रों में आता है

जिज्ञासा- €या ज्वारभाटा लवणसमुद्र में ही आता है, अन्य समुद्रों में नहीं आता? कृपया आगम से बतायें।

समाधान- करणानुयोग के ग्रंथ (त्रिलोकसार, तिलोयपण्णिÊ आदि) के अनुसार ज्वारभाटा आने का कारण यह है कि लवणसमुद्र में स्थित पातालों में शु€ल-पक्ष में पानी का तल ऊपर हो जाता है। यह ज्वारभाटा लवणसमुद्र में ही आता है, अन्य समुद्रों (कालोदधि आदि) में नहीं आता, €योंकि उनमें पाताल नहीं हैं। पाताल सिर्फ लवण समुद्र में ही हैं। पातालों के संबंध में तिलोयपण्णति में इस प्रकार कहा है-

लवणोवहि-बहु-मज्झे, पादाला ते समंतदो होंति।
अट्ठुÊारं सहस्सं जेट्ठा मज्झा जहण्णा य ॥ 4/2438॥

अर्थ- लवण समुद्र के बहुमध्य भाग में चारों ओर उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य एक हजार आठ पाताल हैं।

च ारो पायाला, जेट्ठा मज्झिल्लआ वि च ारो।
होदि जहण्ण सहस्सं, ते सव्वे रंजणायारा॥ 4/2439॥

अर्थ- ज्येष्ठ पाताल चार, मध्यम पाताल चार और जघन्य पाताल 1000 हैं। ये सब पाताल घड़े के आकार सदृश हैं।

टंकु€कण्णायारो, सव्वत्थ सहस्स जोयणवगाढो।
चि ोवरि-तल-सरिसो, पायाल-विवज्जिदो एसो॥ 4/2763॥

अर्थ- टांकी से उकेरे हुये के सदृश आकारवाला यह कालोदधि समुद्र, सर्वत्र एक हजार योजन गहरा, चित्रा पृथ्वी के उपरिम तल भाग के सदृश अर्थात् समतल तथा पातालों से रहित है।

उपर्युक्त तीन गाथाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि लवण समुद्र में 1008 पाताल हैं, जबकि कालोदधि में पाताल नहीं हैं। इसी कारण लवण समुद्र का पानी शु€ल पक्ष में ऊपर उठ जाता है, जबकि कालोदधि समुद्र का नहीं।

अब करणानुयोग के उपर्युक्त ग्रंथों के आधार से ज्वार भाटा (समुद्र के पानी का तल ऊपर उठ जाना) के संबंध में कुछ लिखा जाता है।

ज्येष्ठ पाताल 100000 योजन गहरे, मध्यम पाताल 10000 योजन गहरे तथा जघन्य पाताल 1000 योजन गहरे हैं। इनके ऊँचाई की अपेक्षा तीन भाग करने पर ऊपर के 1 / 3 भाग में जल, मध्यम 1 / 3 भाग में जल एवं वायु तथा नीचे के 1 / 3 भाग में मात्र वायु है। इन तीन भागों में से मध्य का जल एवं वायुवाला भाग, निचले भाग की वायु से प्रेरित होकर चलाचल होता है। इस भाग के चंचलपने के कारण ही शु€ल तथा कृष्ण पक्ष में लवणसमुद्र के जल की वृद्धि-हानि दृष्टिगोचर होती है। पातालों की वायु सर्वकाल स्वभाव से ही शु€लपक्ष में बढ़ती है, एवं कृष्णपक्ष में घटती है। शु€लपक्ष में प्रतिदिन 22222 / 9 योजन वायु बढ़ने से जल का तल भी इतना ही ऊपर हो जाता है। पूर्णिमा को पातालों के अपने-अपने तीन भागों में से नीचे के दो भागों में वायु और ऊपर के तृतीय भाग में केवल जल विद्यमान रहता है और नीचे के तीसरे भाग में केवल वायु रहती है। लवणसमुद्र के मध्य में अमावस्या के दिन जल की ऊँचाई समभूमि से 11000 योजन रहती है, जो प्रतिदिन 333 योजन की वृद्धि होती हुई पूर्णिमा को वह ऊँचाई 16000 योजन हो जाती है।

इस प्रकार यह ज्वारभाटा (समुद्र में पानी का तल ऊपर उठना) केवल लवणसमुद्र में ही होता है, अन्य में नहीं।

140. विजयार्ध पर्वत पर विद्याधरों की जीवनचर्या

जिज्ञासा- विजयार्ध पर्वत पर कैसी व्यवस्था है, विद्याधर लोग कैसे रहते हैं आदि के बारे में विस्तृत रूप से समझायें ?

समाधान- विजयार्ध पर्वत के संबंध में तिलोयपण्णǐा अधिकार ब, राजवार्तिक प/क, सर्वार्थसिद्धि, महापुराण सर्ग क्त, क-, श्री धवला पु.-, तǔवार्थमंजूषा आदि में जानकारी दी गई है। उनके आधार से यहाँ समाधान दिया जा रहा है।

भरत क्षेत्र के मध्य में उǔाम रत्नों से रमणीय रजतमय विजयार्ध नामक पर्वत है, जो पूर्व से पश्चिम तक ल बा है। चक्रवर्ती की यहाँ तक आधी विजय होती है, अत: इसका नाम विजयार्ध है। इसकी चौड़ाई भ योजन, ऊँचाई ख्भ योजन तथा नींव सवा छ: योजन है। इन पर्वतों पर तलहटी से दस योजन ऊपर, दोनों ओर क-क योजन चौड़ी तथा पर्वत के बराबर ल बी दो विद्याधर श्रेणियाँ हैं। जिनमें दक्षिण में भ तथा उǔार दिशा में म विद्याधरों के नगर हैं। इन नगरों से क योजन ऊपर व्यंतर देवों के निवास तथा एक अकृत्रिम जिनालय है।

विजयार्ध पर्वत पर रहनेवाले मनुष्य भी विद्याधर होते हैं। सब विद्याओं को छोड़कर संयम को ग्रहण करनेवाले भी विद्याधर होते हैं। □ योंकि विद्याविषयक विज्ञान उनमें पाया जाता है। जिन्होंने विद्यानुवाद को पढ़ लिया है, वे भी विद्याधर हैं, □ योंकि उनके भी विद्याविषयक ज्ञान पाया जाता है। विजयार्ध पर्वत पर रहनेवाले

विद्याधर यद्यपि भरतक्षेत्र के मनुष्यों के समान षट्कर्मों से ही आजीविका करते हैं, परन्तु प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं को धारण करने के कारण विद्याधर कहलाते हैं। इनको कुछ विद्यायें तो कुल पर परा से ही प्राप्त हो जाती हैं तथा कुछ विद्यायें यत्नपूर्वक आराधना से प्राप्त होती हैं। इनमें रोहिणी आदि ৮ महाविद्यायें होती हैं और अंगुष्ठप्रसेनादि ৲ लघु विद्यायें होती हैं।

विद्याधरों की उत्कृष्ट आयु ক करोड़ पूर्व तथा जघन्य आयु ক वर्ष होती है। शरीर की ऊँचाई ৮ धनुष से ৲ हाथ तक होती है (उत्कृष्ट एवं जघन्य)। विजयार्ध पर्वत पर ऋतु परिवर्तन होता है। निजसेना तथा परसेना के युद्ध का भय, अतिवृष्टि तथा रोग जनित बाधायें नहीं होतीं। यहाँ चारित्र से विभूषित मुनिराजों का बहुसं या में सदैव विहार पाया जाता है। यहाँ चतुर लोग विवाह आदि उत्सवों में अरिहंत देव की तथा दु:ख आदि आ पड़ने पर उसके निवारणार्थ जिनालय में जिनेन्द्र- देव की ही पूजा करते हैं। निरंतर जिनवाणी के पठन-पाठन में सभी लगे रहते हैं। यहाँ मिथ्यादेवों के कहीं भी मंदिर नहीं हैं, तथा वेदकथित धर्म का अभाव है। सर्वत्र तीर्थंकरों के ही जिनालय हैं, तथा एकमात्र जैनधर्म ही प्रवर्तता है। यहाँ के मनुष्य धर्मपालन कर स्वर्ग तथा मोक्ष को प्राप्त करते हैं। यहाँ गुणस्थान 1 से 14 तक, अर्थात् सभी पाये जाते हैं। काल (पहले से छठे काल तक) परिवर्तन तथा प्रलय यहाँ कभी नहीं होता है।

सित बर, 2008

141. मानुषोŽार के बहिर्भाग के तिर्यञ्चों का जीवन

जिज्ञासा- मानुषोŽार पर्वत के उस तरफ असं यात द्वीप समुद्रों में जो भोगभूमि और उसमें रहने वाले तिर्यंच हैं, उनके बारे में बताइये ?

समाधान- मानुषोŽार पर्वत के उस तरफ नागेन्द्र पर्वत पर्यन्त जो असं यात द्वीप हैं, उनमें जघन्य भोगभूमि की रचना है। इनके संबंध में सिद्धान्तसारदीपक अध्याय-10 श्लोक नं0 396 से 401 तक इस प्रकार कहा है-

'इन जघन्य भोगभूमियों में मात्र तिर्यंच रहते हैं, जिनकी सं या असं यात है। ये स ी तिर्यंच गर्भज, भद्रस्वभावी, शुभपरिणति से युक्त, पञ्चेन्द्रिय और क्रूरतारहित होते हैं। इनका जन्म युगलरूप से ही होता है। वे मृग आदि शुभ जातियों में उत्पन्न होते हैं। एक पल्य की आयुवाले एवं वैरभाव से रहित होते हैं तथा कल्पवृक्षों से उत्पन्न भोग भोगते हैं। ये जीव मंदकषायी होते हैं, अत: मरकर स्वर्ग ही जाते हैं। जिन्हें स यग्दर्शन नहीं होता, वे भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं। जो अज्ञानी जीव स यग्दर्शन और व्रतों से रहित हैं तथा कुपात्रदान से उत्पन्न कुछ पुण्य, उससे जो निन्दनीय भोगों की वाञ्छा करते हैं, वे जीव मरकर इस भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं। यहाँ कीड़े-चींटी-मच्छर आदि छोटे जन्तु, क्रूरपरिणामी जीव एवं विकलेन्द्रिय जीव कभी उत्पन्न नहीं होते।

ज बूदीवपण्णŽिसंगहो, अधिकार 11, श्लोक नं0 186 से 189 तक इन तिर्यंचों का वर्णन है, जिसके अनुसार ये सभी तिर्यंच दो हजार धनुष ऊँचे, सुकुमार, कोमल अंगों वाले, मंदकषायी, फलभोजी और एक दिन छोड़कर आहार करनेवाले होते हैं।

मई, 2009

142. कलङ्कल पृथ्वी कहाँ है

जिज्ञासा- लोक के अधोभाग में जो एक राजू का स्थान है, जिसमें पाँचों स्थावर पाये जाते हैं, उसका नाम किसी भी शास्त्र में प्राप्त नहीं होता। कोई आगम प्रमाण हो तो बताने का कष्ट करें।

समाधान- लोक के अधोभाग में सप्तम पृथ्वी के नीचे जो एक राजू स्थान है, उसके नाम का वर्णन राजवार्तिक के अलावा अन्य किसी शास्त्र में प्राप्त नहीं होता है। श्री राजवार्तिक में उस स्थान के लिए इसप्रकार कहा है- **'अधः कलङ्कलपृथिवीपर्यन्ते घनोदधेः सप्त, घनानिलस्य पञ्च, तनुवातस्य चत्वारि योजनानि विस्तारः।'**

अर्थ- नीचे कलङ्कलपृथिवी पर्यन्त घनोदधिवलय सात योजन, घनवातवलय पाँच योजन और तनुवातवलय का विस्तार चार योजन है।

श्री राजवार्तिककार ने सप्तम पृथ्वी से नीचे वाले एक राजू स्थान को कलङ्कल पृथ्वी नाम से कहा है।

अप्रैल-मई, 2010

143. सुदर्शन मेरु का वर्ण

जिज्ञासा- कुलाचलों का वर्ण तो तŠवार्थसूत्र में कहा है, पर सुदर्शन मेरु का वर्ण नहीं कहा। कृपया बतायें।

समाधान- सुदर्शन मेरु, जो ज बूद्वीप के मध्य में स्थित है, उसके वर्ण के स बन्ध में लोकविभाग ग्रन्थ (रचयिता- श्री सिंहसूरि ऋषि) में इस प्रकार कहा है-

मेरुर्वज्रमयो मूले सहस्रं योजनानि सः।
एकषष्टिसहस्राणि सर्वरत्नमयस्ततः।। 1 / 251।।
अष्टत्रिंशत्सहस्राणि ततो हेममयोऽपि च।
भवेदिति विनिर्दिष्टं परमागमकोविदैः।। 1 / 252।।

अर्थ- वह सुदर्शन मेरु नींव में एक हजार योजन (1000) वज्रमय है। उसके ऊपर 61000 योजन सर्व रत्नमय है तथा उसके ऊपर 38000 योजन सुर्वणमय है, ऐसा परमागम के ज्ञानियों ने कहा है।

अगस्त, 2010

144. चैत्यवृक्ष व कल्पवृक्ष पृथ्वीकाय या वनस्पतिकाय

जिज्ञासा- €या चैत्यवृक्ष, कल्पवृक्ष आदि पृथ्वीकाय हैं या वनस्पतिकाय ?

समाधान- उपर्युक्त चैत्यवृक्ष, कल्पवृक्ष आदि पृथ्वीकाय होते हैं। जैसा कि निम्न प्रमाणों से स्पष्ट है-

1. श्री महापुराण (रचयिता- कवि पुष्पदन्त) में इस प्रकार कहा है-

ते सव्वे कप्पदुमा ण वण फदी णो वेंतरा सव्वे।
णवरिं पुढवीसरूवा पुण्णफलं देंति जीवाणं॥

अर्थ- वे सब कल्पवृक्ष न तो वनस्पति ही हैं और न कोई व्यन्तरदेव हैं, किन्तु विशेषता यह है कि **ये सब पृथ्वीरूप होते हुए** जीवों को उनके पुण्यकर्म का फल देते हैं।

2. सर्वार्थसिद्धि 3/9 की टीका में इस प्रकार कहा है-

उ्ँारकुरूणां मध्ये ज बूवृक्षोऽनादिनिधनः पृथ्वीपरिणामो अकृत्रिमः सपरिवारः।।

अर्थ- उ ारकुरु में अनादिनिधन**पृथ्वी से बना हुआ**, अकृत्रिम और परिवार वृक्षों से युक्त ज बूवृक्ष है।

3. श्री त्रिलोकसार / 648 में इस प्रकार कहा है-

णाणारयणुवसाहा पवालसुमणा मुदिंगसरिसफला।
पुढविमया दसतुंगा मज्झेग्गे छच्चदुव्वासा॥

अर्थ- वह ज बूवृक्ष नानाप्रकार रत्नमयी उपशाखाओं से, मूंगा समान फूलों से तथा मृदङ्ग समान फलों से युक्त है। **पृथ्वीकायमयी है, वनस्पतिरूप नहीं है।**

4. तिलोयपण्णिँ 3/36 में इस प्रकार कहा है-

आदिणिहणेण हीणा पुढविमया सव्वभवणचेँादुमा।
जीवुप्पिँालयाणं होंति णिमिँाणि ते णियमा॥

अर्थ- ये सब चैत्यवृक्ष आदि अन्त से रहित तथा **पृथ्वीकाय के परिणामरूप होते हुए** नियम से जीवों की उत्पिँा और विनाश के निमिँा होते हैं।

यह भी जानना चाहिये कि उपर्युक्त वृक्षों के अलावा तीर्थङ्कर के ऊपर शोभायमान **अशोकवृक्ष तथा समवसरण में सुशोभित फल, फूल, वृक्ष आदि पृथ्वीकाय ही होते हैं।**

जून, 2010

145. क्षायिक भोगोपभोग या हैं

जिज्ञासा - अरहन्त अवस्था में अन्तराय कर्म के क्षय हो जाने पर क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग आदि या होते हैं ?

समाधान - इस संबंध में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि टीका में इस प्रकार कहा है -

1. स पूर्ण उपभोगान्तरायकर्म के क्षय से केवली भगवान् को जो सिंहासन, चामर, और छत्रत्रय आदिरूप विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, उन्हें क्षायिक अनन्त उपभोग कहते हैं।

2. स पूर्ण भोगान्तरायकर्म के क्षय से जो पुष्पवृष्टि आदि रूप अनन्त भोग सामग्री प्राप्त होती है, उसे क्षायिक अनन्त भोग कहते हैं।

3. वीर्यान्तराय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से केवली के जो अनन्त शक्ति प्रकट होती है, उसे क्षायिक अनन्तवीर्य कहते हैं।

4. दानान्तराय कर्म के स पूर्ण विनाश होने से त्रिकालवर्ती अनन्त प्राणियों का अनुग्रह करने वाला क्षायिक अभयदान प्रकट होता है।

5. स पूर्ण लाभान्तराय कर्म के क्षय से कवलाहारक्रिया से रहित केवलियों के क्षायिक लाभ होता है, जिससे उनके शरीर को बल प्रदान करने में कारणभूत, दूसरे मनुष्यों को असाधारण अर्थात् कभी न प्राप्त होने वाले परम शुभ और सूक्ष्म ऐसे अनन्त परमाणु प्रतिसमय संबंध को प्राप्त होते हैं।

अगस्त, 2006

146. सिद्धालय में प्रकाश है या अन्धकार

जिज्ञासा- सिद्धालय में प्रकाश है या अंधकार?

समाधान- पुद्गल द्रव्य के अंधकार (तम) रूप स्कंध समस्त लोक में व्याप्त हैं। जहाँ-जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ पर स्थित पुद्गल द्रव्य तो दृष्टिगोचर हो जाते हैं, शेष स्थान पर अंधकार होने से वहाँ स्थित पुद्गल द्रव्य दृष्टि गोचर नहीं होते, [] योंकि सर्वार्थसिद्धि (भ/ख्ब) में 'जिससे दृष्टि में प्रतिबंध (रुकावट) होता हो और जो प्रकाश का विरोधी है, वह तम कहलाता है।' मनुष्यलोक में भी हम स्पष्ट देखते हैं कि सूर्य तथा चन्द्र के अभाव में भयंकर अंधकार रहता है। नरकों में ाी भयंकर अंधकार है। स्वर्गों में कल्पवृक्षों के कारण प्रकाश होता है। तदनुसार सिद्धालय में प्रकाश का कोई कारण उपस्थित न होने से अंधकार को ही व्याप्त मानना पडेगा। यदि कोई कहे कि वहाँ अनंतानंत सिद्ध भगवान् विराजमान हैं, उनकी आत्मा तो अनंत प्रकाशयुक्त है, अत: वहाँ प्रकाश मानना चाहिये। इसका समाधान यह है कि शुद्ध आत्मा में प्रकाश नहीं होता। प्रकाश तो पुद्गल की पर्याय है।

आ. उमास्वामी ने तž्वार्थसूत्र में आतप एवं उद्योत दोनों प्रकार के प्रकाश को पुद्गल की पर्याय माना है। अत: सिद्धात्माओं में प्रकाश मानना ठीक नहीं।

यदि कोई कहे कि सिद्धालय के नीचे ब्भ् लाख योजन गोल तथा त्त योजन मोटी स्फटिकमणि की सिद्ध-शिला है, उसका प्रकाश वहाँ तक पहुँचता होगा, सो भी उचित नहीं है। €योंकि प्रथम तो स्फटिकमणि में प्रकाश नहीं होता, वह पारदर्शक होती है। दूसरे, उसके ऊपर ख कोस मोटा घनोदधिवलय, क कोस मोटा घनवातवलय तथा क्भ्त्रभ् धनुष मोटा तनुवातवलय है। इस तनुवातवलय के क्भ् वें भाग में सिद्ध भगवान् विराजमान हैं, तो वह स्फटिक का प्रकाश इन फ वलयों को भेदने में कदापि श€य नहीं हो सकेगा। अत: निर्णय यही उचित बैठता है कि सिद्धालय में प्रकाश का नितांत अभाव मानना ही युक्त है। हमको कुछ अटपटा सा अवश्य लगता है कि अरहंत परमेष्ठी के शरीर में तो करोडों सूर्य तथा चन्द्रमा से अधिक प्रकाश रहता हो और सिद्ध प्रभु के पास प्रकाश का नाम भी नहीं। पर इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। अरहंत प्रभु के तो शरीर की प्रभा है। परन्तु सिद्ध भगवान् के शरीर का अभाव है। उनको इससे अंतर नहीं पड़ता। वे तो केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोक अलोक को स्पष्ट देखते ही हैं।

विद्वानों से निवेदन है कि इस प्रश्न पर कोई अन्य चर्चा हो तो अवश्य पत्र द्वारा सूचित करें।

मई, 2007

147. मरण के भेद व गुणस्थान

जिज्ञासा- पाँच प्रकार के मरण के गुणस्थान बताइये।

समाधान: श्री भगवती आराधना के आधार से 5 प्रकार मरणों के गुणस्थान इस प्रकार हैं:-

1. बाल-बाल मरण- मिथ्यादृष्टि जीव के मरण को बाल-बाल मरण कहते हैं। गुणस्थान प्रथम व द्वितीय।

2. बाल-मरण- अविरत स यग्दृष्टि जीव के मरण को बाल मरण कहते हैं। गुणस्थान चौथा।

3. बाल-पंडित मरण- विरताविरत जीव के मरण को बाल-पंडित मरण कहते हैं। गुणस्थान मात्र पाँचवाँ।

4. पंडित-मरण- चारित्रवान् मुनियों के पंडित मरण होता है। उसके 3 भेद हैं- भ€त प्रत्या यान, इंगिनीमरण तथा प्रायोपगमन। गुणस्थान 6 से 11 तक।

5. पंडित-पंडित मरण- केवलीभगवान् का चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय में पंडित-पंडित मरण होता है। इसका अर्थ निर्वाण भी है।

सित बर, 2007

148. मुनिराज के पृथक् विक्रिया संभव

जिज्ञासा- विक्रियाऋद्धिधारी मुनि महाराज पृथक् विक्रिया कर सकते हैं या नहीं?

समाधान- टोड़रमल स्मारक जयपुर द्वारा प्रकाशित स यग्ज्ञानचन्द्रिका, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 398 पर गाथा नं0 260 की टीका में कहा गया है- 'भोगभूमि विषें उपजे तिर्यंच व मनुष्य अर कर्मभूमि विषें चक्रवर्ती पृथक विक्रिया को भी करें हैं। इन बिना सर्व कर्मभूमियानि के अपृथक् विक्रिया ही है।' इस कथन के अनुसार चक्रवर्ती के अलावा पृथक् विक्रिया अन्य कोई कर्मभूमि का मनुष्य नहीं कर सकता अर्थात् विक्रिया ऋद्धिधारी मुनि भी पृथक् विक्रिया नहीं कर सकते हैं। परन्तु यह कथन आगमस मत नहीं है।

विक्रियाऋद्धिधारी मुनिराज एक साथ अनेक आकार बनाने की सामर्थ्य रखते हैं। राजवार्तिक 3/36 की टीका में, कामरूपित्व ऋद्धि का स्वरूप इस प्रकार कहा है-

'युगपदनेकाकाररूपविकरणशक्तिः कामरूपित्व-मिति'

अर्थ- एक साथ अनेक आकाररूप विक्रिया करने की शक्ति का नाम कामरूपित्व ऋद्धि है।

तिलोयपण्णŸिा 4/1041 में इस प्रकार कहा है-

जं हवदि अद्दिसŽां अंतद्धाणाभिधाणरिद्धीसा।
जुगवं बहुरूवाणि जं विरयदि कामरूवरिद्धी सा॥ 1041॥

अर्थ- जिस ऋद्धि से अदृश्यता प्राप्त होती है, वह अन्तर्धान नामक ऋद्धि है और जिससे युगपत् बहुत से रूपों को रचता (बनाता) है, वह कामरूप ऋद्धि है।

उपर्युक्त आगम प्रमाणों से स्पष्ट है कि विक्रियाऋद्धिधारी मुनि महाराज पृथक् विक्रिया करने की और एक साथ अनेक रूप बनाने की सामर्थ्य रखते हैं।

जून, 2009

149. व्यवहार पल्य का प्रमाण

जिज्ञासा- €या व्यवहारपल्य सं यात वर्षों का होता है या असं यात वर्षों का?

समाधान- व्यवहारपल्य के स बन्ध में आम धारणा यही है कि यह असं यात वर्षों का होता है, जबकि त्रिलोकसार गाथा नं. 98 तथा 99 के अनुसार ऐसा नहीं है। गाथा नं. 98 में कहा गया है कि व्यवहारपल्य का समय निकालने के लिए यदि रोमों को गिना जाय तो उनकी सं या 45 अंक प्रमाण होती है। इसी त्रिलोकसार ग्रन्थ की गाथा नं. 99 में इसप्रकार कहा है-

वस्ससदे वस्ससदे ए€के€के अवहिदि ह जो कालो।
त€कालसमयसंखा णेया ववहारपल्लस्स॥

अर्थ- प्रत्येक 100 वर्ष बाद एक-एक रोम के निकाले जाने पर जितने काल में समस्त रोम समाप्त हों उतने काल के समय ही व्यवहारपल्य के समयों की सं या है।

विशेषार्थ- कुण्ड में भरे हुए 45 अंक प्रमाण उपर्युक्त रोमों में से यदि एक-एक रोम को 100 वर्ष बाद निकाला जाय तो व्यवहारपल्य के वर्षों की सं या आती है, अर्थात् व्यवहारपल्य के वर्षों की सं या 45 अंक प्रमाण में दो शून्य और लगा देने से **47 अंक प्रमाण वर्ष एक व्यवहारपल्य के होते हैं। यह सं या, सं यात में आती है, असं यात में नहीं।**

तिलोयपण्णत्ति गाथा 1/125 में भी उपर्युक्त प्रकार ही कहा गया है।

दिस बर, 2009

150. षट्खण्डागम ग्रन्थ का विषय-परिचय

जिज्ञासा- षट्खण्डागम ग्रन्थ का विस्तार कितना है और इसमें €या वर्णन है ?

समाधान- भगवान् महावीर के युग में ग्रन्थलेखन की पर परा नहीं थी। द्वादशांग जिनवाणी का कण्ठपर परा अथवा गुरु-शिष्यपर परा से आदान प्रदान होता था। सर्वप्रथम ईसा पूर्व पहली शताब्दी में आचार्य गुणधर महाराज ने कषायपाहुड नामक ग्रन्थ की रचना की। तदुपरान्त ईसा की प्रथम शताब्दी में 'छ€खण्डागमसुत्त' की रचना हुई। आचार्य धरसेन महाराज ने पुष्पदन्त एवं भूतबली नामक दो योग्य साधुओं को इसका विषय पढ़ाया। उन्हीं पुष्पदन्त और भूतबली महाराज ने इस 'षट्खण्डागम सुत्त' की रचना की है। श्री गौतमगणधर द्वारा रचित 14 पूर्वों में से द्वितीय पूर्व का नाम आग्रायणीय पूर्व था। जिसमें 14 प्रकरण थे। उनमें से पाँचवें प्रकरण का नाम चयनलब्धि था। जिसके अन्तर्गत 20 पाहुड़ थे। उनमें से चतुर्थ पाहुड़ का नाम 'कर्म प्रकृति' था। जिसके अन्तर्गत 24 अनुयोग द्वार थे। उनके विषय को आधार बनाकर इस महान् ग्रन्थराज की रचना हुई है। इस ग्रन्थ में छह खण्ड हैं। उनमें वर्णित विषय इसप्रकार है-

1. **जीवट्ठाण खण्ड**- इसमें 2375 सूत्र हैं, जिनके द्वारा जीव के गुणधर्मों का तथा उनकी विविध दशाओं का सत्, सं या आदि आठ प्ररूपणाओं के माध्यम से वर्णन किया गया है। अन्त में 9 चूलिकाओं द्वारा गति-आगति आदि का वर्णन है।

2. **खुद्दाबन्ध खण्ड**- इसमें 1582 सूत्र हैं। जिनमें 'क मपयडिपाहुड़' के चार अनुयोगों में से केवल 'बंधक' का प्ररूपण किया गया है।

3. **बंध सामि□ ा-विचय**-इसमें 324 सूत्र हैं। इस खण्ड में किस कर्मबन्ध का स्वामी जीव, किस गुणस्थान एवं मार्गणास्थान को प्राप्त होता है, इसका विशेष वर्णन है। कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से यह खण्ड बहुत महत्वपूर्ण है।

4. **वेयणा खण्ड**- इसमें 1449 सूत्र हैं जिनके द्वारा 'क मपयड़िपाहुड़' के 24 अधिकारों में से कृति और वेदना नामक प्रथम दो अनुयोगों का वर्णन है।

5. **वग्गणा खण्ड**- इसमें 1027 सूत्र हैं, जिनके द्वारा स्पर्श, कर्म और प्रकृतिरूप तीन तथा बंध और बंधनीय विभागों का विस्तार पूर्वक वर्णन है। वर्गणाओं का विशेष वर्णन होने से इसका नाम 'वग्गणा खण्ड' है।

6. **महाबंध खण्ड**- यह 30,000 श्लोकप्रमाण रचना है, जिसमें प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध की विशेषरूप से चर्चा की गई है।

उपर्युक्त छह खण्डों में से आचार्य वीरसेन द्वारा प्रथम पाँच खण्डों पर धवला नाम की टीका लिखी गई है, जो हिन्दीटीकासहित वर्तमान में सोलह भागों में उपल ध है, जिसका प्रकाशन सोलापुर से हुआ है। छठे खण्ड 'महाबन्ध' की हिन्दी टीका सात खण्डों में 'भारतीय ज्ञानपीठ' के द्वारा प्रकाशित हो चुकी है। कषायपाहुड ग्रन्थराज की हिन्दी टीका, जयधवला नाम से 'भारतवर्षीय दिग बर जैन संघ मथुरा' द्वारा प्रकाशित है, जिसकी 16 पुस्तकें उपल ध हैं। कुल मिलाकर 16+7+16=39 पुस्तकें धवलसिद्धान्त की कही जाती हैं।

आचार्य कुमुदेन्दु द्वारा रचित 'भूवलय' ग्रन्थ के अनुसार धवल ग्रन्थ पाँच थे- धवल, महाधवल, जयधवल, विजयधवल तथा अतिशयधवल। इनमें से प्रथम तीन तो उपल ध हैं, परन्तु अन्तिम दो धवलग्रन्थ वर्तमान में उपलŽध नहीं हैं। श्री कषायपाहुड एवं षट्खण्डागम पर आचार्य वीरसेन महाराज से पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य शामकुण्ड, तु बुलाचार्य, आ. समन्तभद्र तथा वप्पदेव गुरु ने भी टीकाएँ लिखी थीं, जो वर्तमान में उपलŽध नहीं हैं। धवला टीका का कुल प्रमाण 72,000 श्लोकप्रमाण है। इसमें उद्धृत गाथाओं की भाषा शौरसैनी प्राकृत है और इसकी रचना 8 अ€टूबर सन् 816 को स पूर्ण हुई।

जनवरी, 2010

151. अनन्त का अन्त नहीं होता

जिज्ञासा- €या अनन्त सं या का भी अन्त हो सकता है या नहीं?

समाधान- सं याओं के संबंध में त्रिलोकसार / 52 में इस प्रकार कहा है-

जावदियं पच्च€खं जुगवं सुदओहिकेवलाण हवे।
तावदियं संखेज्जमसंखमणंतं कमा जाणे॥

अर्थ- जितने विषयों को श्रुतज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है वह सं यात है। जितने विषयों को अवधिज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है वह असं यात है तथा जितने विषयों को केवलज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है वह अनन्त है।

भावार्थ- जो विषय श्रुतज्ञान से बाहर हो, किन्तु अवधिज्ञान का विषय हो वह असं यात है तथा जो विषय अवधिज्ञान से बाह्य हो, किन्तु मात्र केवलज्ञान का विषय हो, वह अनन्त है। इस परिभाषा के अनुसार 'अर्धपुद्गल परिवर्तन काल' भी अनन्त है, योंकि वह अवधिज्ञान के विषय से बाहर है। किन्तु वह परमार्थ अनन्त नहीं है। योंकि अर्धपुद्गल परिवर्तन काल व्यय होते-होते अन्त को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् समाप्त हो जाता है। आय के बिना व्यय होते रहने पर भी, जिस राशि का अन्त न हो, वह राशि अक्षय अनन्त या परमार्थ अनन्त कहलाती है।

फरवरी, 2010

152. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति तथा व्युपरतक्रियानिवृ ा शु लध्यान उपचार से कहे हैं

जिज्ञासा- तेरहवें गुणस्थान में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तृतीय शु€लध्यान ध्याया जाता है। फिर केवली के उपचार से ध्यान यों कहा गया है ?

समाधान- केवली भगवान् के तेरहवें गुणस्थान में कोई ध्यान नहीं होता। तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में तृतीय शु€लध्यान होता है। आचार्यों ने तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होने वाले तृतीय और चतुर्थ शु€लध्यान को उपचार से शु€लध्यान माना है। इस स बन्ध में कुछ आगमप्रमाण इस प्रकार हैं-

1. श्री आचारसार / 51 में इस प्रकार कहा गया है-

ध्यानं चिन्तनमेकवस्तुनि कियत कालं मतं तच्छ्रुत-
ज्ञानं स्वावरणक्षयोपशमजं ध्यानोपचारस्वतः।
शश्वंद्विश्व-निरन्तरावृति-हतिप्रत्यक्ष-बोधेऽर्हति
कर्मस्थित्यनुभागघातगलनाद्यर्थस्य तत्रेक्षणात्॥

अर्थ- कुछ कालपर्यन्त एक वस्तु में एकाग्र चिन्तवन ध्यान माना गया है। वह ध्यान अपने आवरण के क्षयोपशम से उत्पन्न श्रुतज्ञान है। जिनके नित्य सकलवस्तु का व्यवधानरहित आवरण के क्षय से प्रत्यक्ष ज्ञान है, ऐसे अर्हन्त भगवान् में कर्मों के स्थिति-अनुभाग के नाश आदि प्रयोजन का अवलोकन होने से, **उन अर्हन्त भगवान् में ध्यान है, ऐसा उपचार से कहा जाता है।**

2. आचार्य देवसेनकृत भावसंग्रह में इस प्रकार कहा है-

झाणं सजोइकेवलि जह तह अजोइस्स णत्थि परमत्थे।
उवयारेण पउǯं भूयत्थणय विव€खाए।। 682।।
झाणं तह झायारो झेयवियप्पा य होंति मणसहिए।
तं णत्थि केवलिदुगे त हा झाणं ण संभवइ।। 683।।

अर्थ- जिस प्रकार सयोगकेवली भगवान् के ध्यान होता है, उस प्रकार का ध्यान अयोगकेवली गुणस्थान में नहीं होता। इस गुणस्थान में वास्तव में ध्यान होता ही नहीं है। इस गुणस्थान में भूतार्थ नय की अपेक्षा से **उपचार से ध्यान माना जाता है।** कर्मों का नाश, बिना ध्यान के नहीं होता और चौदहवें गुणस्थान में अघातिया कर्मों का नाश होता है। **इसलिए उपचार से ध्यान माना जाता है,** वास्तविक नहीं॥

ध्यान, ध्यान करनेवाला ध्याता और ध्यान करने योग्य ध्येय पदार्थों के विकल्प, ये सब मनसहित जीवों के होते हैं। परन्तु वह मन सयोगकेवली तथा अयोगकेवली दोनों गुणस्थानवालों के नहीं है, इसलिए इन **तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में ध्यान नहीं है॥**

3. श्री पञ्चास्तिकाय गाथा 152 की टीका में आचार्य जयसेन ने इस प्रकार कहा है- ''पूर्व गाथा में जिस भावमोक्षरूप केवली भगवान् का वर्णन किया गया है, वे निर्विकार परमानन्दमयी अपनी ही आत्मा से उत्पन्न सुख में तृप्त हो जाने से हर्षविषादरूप सांसारिक सुख तथा दु:ख के विकारों से मुक्त हैं। केवलज्ञान व केवलदर्शन को रोकनेवाले आवरणों के विनाश से केवलज्ञान और केवलदर्शनसहित हैं, सहज शुद्ध चैतन्य भाव में परिणमन करने से तथा इन्द्रियों के व्यापार आदि बाहरी द्रव्यों के आल बन के न रहने से, वे परद्रव्य के

संयोगरहित हैं, अपने स्वरूप में निश्चल होने से स्थिरचैतन्य स्वभाव के धारी हैं, उनके ऐसे आत्मस्वभाव को तथा ध्यान के फलस्वरूप पूर्वसञ्चित कर्मों की स्थिति के विनाश और उनके गलने को देखकर, **केवली भगवान् के उपचार से ध्यान कहा गया है।''** €योंकि निर्जरा का कारण ध्यान है और निर्जरा वहाँ पायी जाती है, यह अभिप्राय है।

4. श्री राजवार्तिक 2 / 10 की टीका में इस प्रकार कहा है-

''यथा एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति छद्मस्थे ध्यानशŽदार्थो मु यश्चिन्ताविक्षेपवतः तन्निरोधोपप ोः, तदभावात् केवलिन्युपचरितः फलदर्शनात्।।''

अर्थ- एकाग्रचिन्तानिरोधरूप ध्यान छद्मस्थों में मु य है, केवली में तो उसका फल कर्मध्वंस देखकर **उपचार से ही वह माना जाता है।**

सारांश- उपर्यु€त आगमप्रमाणों के अनुसार एकाग्रचिन्तानिरोधरूप ध्यान श्रुतज्ञानियों के पाया जाता है, इस कारण केवली के ध्यान नहीं माना गया है। परन्तु ध्यान के फलस्वरूप कर्मनिर्जरा वहाँ होती है, इसलिए उपचार से ध्यान कहा गया है। जुलाई, 2010

153. ध र्यध्यान की अपेक्षा शु€लध्यान का काल अधिक है

जिज्ञासा- ध्यान की एकाग्रता का काल ध र्यध्यान का अधिक है या शु€लध्यान का?

समाधान- ध र्यध्यान सकषाय जीवों के होता है, अतः उसका काल थोड़ा है। जबकि शु€लध्यान कषायरहित जीवों के होता है और उसका काल ध र्यध्यान से सं यातगुणा अधिक है। इस स बन्ध में श्रीधवला पुस्तक 13, पृ0 74-75 पर इस प्रकार कहा है-

''ध मज्झाणमेयवत्थु ि ह थोवकालावट्ठाइ। कुदो? सकसाय-परिणामस्स गŽभहरंतट्ठिदपईवस्सेव चिरकालम-वट्ठाणाभावादो। ध मज्झाणं सकसाएसु चेव होदिŽि कधं णव्वदे? असंजदस मादिट्ठि संजदासंजद-पमŽासंजद-अपमŽासंजद-अपुव्वसंजद-अणियट्ठि-संजद-सुहुम-सांपराइयखवगोव-सामएसु ध मज्झाणस्स पवुŽी होदि Žि जिणोवएसादो। सुक्कज्झाणस्स पुण ए€कं ि ह वत्थु ि ह ध मज्झाणावट्ठाणकालादो संखेज्जगुणकालमवट्ठाणं होदि, वीयराय-परिणामस्स मणिसिहाए व बहुएण वि कालेण संचालाभावादो।''

अर्थात् **ध र्यध्यान एक वस्तु में स्तोककाल तक रहता है, €**योंकि कषायसहित परिणाम का गर्भगृह के भीतर स्थित दीपक के समान चिरकाल तक अवस्थान नहीं बन सकता। असंयतस यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमŽासंयत, अप्रमŽासंयत, क्षपक व उपशामक अपूर्वकरणसंयत, अनिवृŽिकरणसंयत, सूक्ष्मसांपरायसंयतों के ध र्यध्यान की प्रवृŽि होती है, ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है। इससे जाना जाता है कि ध र्यध्यान सकषाय जीवों के होता है, किन्तु **शु€लध्यान का एक पदार्थ में स्थित रहने के कारण, उसका काल ध र्यध्यान के अवस्थानकाल से सं यातगुणा है, €**योंकि वीतराग परिणाम, मणि की शिखा के समान, बहुत काल के द्वारा भी चलायमान नहीं होते।

नव बर, 2010

154. बल और वीर्य में अन्तर

जिज्ञासा— बल और वीर्य में या अन्तर है ?

समाधान— इस प्रश्न के उ ार में श्री मूलाचार गाथा ब्क्फ की आचारवृ ा में वसुनन्दी आचार्य ने इस प्रकार कहा है- **बलमाहारौषधादिकृतसामर्थ्यं, वीर्यंवीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितं संहननापेक्षं स्थामशरीरावयवकरणचरण जंघोरुकटिस्कन्धादिघनघटितबंधापेक्षं।**

अर्थ- आहार तथा औषधि आदि से होने वाले सामर्थ्य को बल कहते हैं। तथा जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, संहनन की अपेक्षा रखता है तथा स्वस्थ शरीर के अवयव— हाथ, पैर, जंघा, घुटने, कमर, कन्धे आदि के मजबूत बन्धन की भी अपेक्षा से सहित है, उसे वीर्य कहते हैं।

दिस बर, 2007

*****

चरणानुयोग

155. संयम धारण की योग्यता जन्म से आठ वर्ष बाद

जिज्ञासा- संयम धारण करने की योग्यता आठ वर्ष की आयु में होती है, ये आठ वर्ष जन्म से मानने चाहिये या गर्भ से ?

समाधान- मनुष्यों में गर्भ से निकलने के आठ वर्ष उपरान्त संयम धारण की योग्यता बनती है। श्री वीरसेन स्वामी ने धवला पु. 10 पृ. 278 पर इस स बन्ध में इस प्रकार कहा है- **गÇभादो .....णुववÇीदो**। अर्थ-गर्भ से निकलने के प्रथम समय से लेकर आठ वर्ष बीत जाने पर संयम ग्रहण के योग्य होता है, यह इसका भावार्थ है। गर्भ में आने के प्रथम समय से लेकर आठ वर्षो के बीतने पर संयम ग्रहण के योग्य होता है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, किन्तु यह घटित नहीं होता है, €योंकि ऐसा मानने पर योनिनिष्क्रमण रूप जन्म से, यह सूत्र-वचन (इसी पुस्तक के सूत्र नं. 72,59) नहीं बन सकता। यदि गर्भ में आने के प्रथम समय से लेकर आठ वर्ष ग्रहण किये जाते हैं तो ''गर्भपतन रूप जन्म से आठ वर्ष का हुआ'' ऐसा सूत्रकार कहते, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं कहा है। इसीलिये सात मास अधिक आठ वर्ष का होने पर संयम को प्राप्त करता है, यही अर्थ ग्रहण करना चाहिये, €योंकि अन्यथा सूत्र में 'सर्वलघु' पद का निर्देश घटित नहीं होता है।

उपर्युक्त प्रमाण के अनुसार संयम ग्रहण करने की सबसे कम आयु जन्म से आठ वर्ष बीत जाने पर माननी चाहिये।

मार्च, 2006

156. स य€त्वाचरण और स्वरूपाचरण चारित्र में अन्तर

जिज्ञासा- स य€त्वाचरण एवं स्वरूपाचरण चारित्र में €या अन्तर है ?

समाधान- स्वरूपाचरण नामक चारित्र का वर्णन किसी भी आचार्य ने नहीं किया। यह तो पंचाध्यायीकार पाण्डे राजमल जी की कल्पना मात्र है। आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्रपाहुड़ गाथा 5 से 10 तक जो स य€त्वाचरण चारित्र का वर्णन किया है उसका संबंध स यक्चारित्र से बिल्कुल नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 25 दोषों से रहित और अष्टअंग सहित स यग्दर्शन को धारण करना स य€त्वाचरण चारित्र कहा है। स यक्चारित्र को धारण करने वाला ही मोक्षमार्गी कहलाता है। जिसके पास स य€त्वाचरण चारित्र नहीं है, उसके पास स यग्दर्शन भी नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। शास्त्रों में स्वरूपाचरण नामक चारित्र तो नहीं कहा पर ऐसा जरूर कहा है -

''रागद्वेषाभावलक्षणं परमं यथा यातरूपं स्वरूपे चरणं निश्चयचारित्रं भणन्ति। इदानीं तद-भावेऽन्यच्चारित्रमाचरन्तु तपोधनाः।'' परमात्मप्रकाश / गाथा नं. 2/39 टीका।

अर्थ- रागद्वेष का अभाव जिसका लक्षण है, **ऐसा परम यथा यातरूप स्वरूप में आचरण** निश्चयचारित्र है। वर्तमान में उसका अभाव होने से मुनिगण अन्य चारित्र का आचरण करें।

स य€त्वाचरण तो चतुर्थ गुणस्थान में होता है, परन्तु स्वरूप में आचरण ग्यारहवें गुणस्थान में कहा गया है, जैसा ऊपर प्रमाण है। स यग्दर्शन उत्पन्न होने के साथ-साथ उसके अनुकूल आचरण भी होने लगता है, वही स य€त्वाचरण कहा गया है।

जुलाई, 2006

157. मोक्षमार्ग दो भेदवाला है

जिज्ञासा- मोक्षमार्ग कितने प्रकार का है। स्पष्ट करें ?

समाधान- मोक्षमार्ग दो प्रकार का है जैसा कि नि न प्रमाणों से स्पष्ट है।

निश्चय व्यवहारा याम् मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः। (त.सार.-/ख)

अर्थ- निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है।

दुविहं पि मो€ख हेउं, झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
त हा पयŽाचिता जूयं झाणं समŽभसह॥ ब्त्र॥ (द्र.संग्रह)

अर्थ- दोनों ही प्रकार के मोक्षमार्गों को मुनि ध्यान में प्राप्त करते हैं। इसलिए तुम भी प्रयत्नपूर्वक ध्यान का अ यास करो।

स यग्दर्शनज्ञानचरण शिवमग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सु निश्चय कारन सो व्यवहारो॥ (छहढ़ाला प/क)

अर्थ- स यग्दर्शन, स यग्ज्ञान, स य€चारित्र रूप मोक्षमार्ग दो प्रकार का कहा गया है। उनमें से जो यथार्थ स्वरूप है, वह तो निश्चय मोक्षमार्ग है और जो उसका कारण है वह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

आचार्यों ने दोनों मोक्षमार्गों का स्वरूप लिखा है-

तथाहि वीतराग सर्वज्ञप्रणीत षड्द्रव्य पंचास्तिकाय सप्ततŽव नवपदार्थ स यग्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठान विकल्परूपो व्यवहारमोक्षमार्गः। अथवा धातुपाषाणेऽग्निवत् साधको व्यवहारमोक्षमार्गः, सुवर्णस्थानीयनिर्विकारस्वोपलŽध साध्यरूपो निश्चयमोक्षमार्गः। (बृहद्द्रव्य संग्रह प-/क्ख-)

अर्थ- श्री वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुये जो छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात त व और नवपदार्थ हैं इनका भले प्रकार श्रद्धान करना, जानना और व्रत आदि का आचरण करना इत्यादि विकल्परूप जो है सो तो व्यवहार मोक्षमार्ग है और जो अपने निरंजन शुद्ध आत्मतŽव का स यग्श्रद्धान, ज्ञान और आचरण में एकाग्र परिणतिरूप है, वह निश्चय मोक्षमार्ग है अथवा धातु-पाषाण के विषय में अग्नि के सदृश जो साधक है वह तो व्यवहार मोक्षमार्ग है तथा सुवर्ण स्थानापन्न निर्विकार जो निज आत्मा है, उसके स्वरूप की प्राप्ति रूप जो साध्य है, वह निश्चय मोक्षमार्ग है। श्री पंचास्तिकाय / 160 में भी कहा है-

ध मादी सद्दहणं, स मŽां णाणमंगपुव्वगदं।
चिट्ठा तवं ि ह चरिया, ववहारो मो€ख मग्गोŽि॥

अर्थ- धर्मास्तिकाय आदि छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सप्ततŽव व नवपदार्थ का श्रद्धान करना स यग्दर्शन है। अंग पूर्व आदि का ज्ञान स यग्ज्ञान है और तप में चेष्टा करना स य€चारित्र है। इस प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग कहा। अब निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप बताते है-

णिच्छयणयेण भणिदो, तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मो€ख मग्गोŽि॥ क्म्क॥

अर्थ- जो आत्मा इन तीनों के द्वारा समाहित होता हुआ, अन्य कुछ भी न करता है और न छोड़ता है। वह आत्मा ही निश्चयनय से मोक्षमार्गी कहा गया है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। जिसमें निश्चय मोक्षमार्ग साध्य और व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है जैसा कि समयसार गाथा ख्म् की टीका में कहा है कि-

''अग्नि सुवर्ण पाषाणयोरिव निश्चयव्यवहारनययोः परस्पर साध्य-साधक भाव दर्शनार्थमिति।''

अर्थ- अग्नि और सुवर्ण पाषाण के समान निश्चय और व्यवहारनय में साध्य-साधन भाव दिखलाने के लिए कहा है। इनमें से पाँचवें से सातवें गुणस्थान तक साधनरूप व्यवहार मोक्षमार्ग है और सातवें से बारहवें गुणस्थान तक साध्यरूप निश्चय मोक्षमार्ग है। व्यवहार को असत्य मानने वाले कुछ लोग व्यवहार मोक्षमार्ग का लोप करके मोक्षमार्ग को एक प्रकार का निरूपण करते हैं। लेकिन उपरो€त प्रमाणों से यह सिद्ध है कि मोक्षमार्ग को दो प्रकार ही मानना चाहिए। व्यवहार मोक्षमार्ग हेय नहीं है उपादेय ही है। जैसा कि नि न प्रमाणों से स्पष्ट है-

'निजशुद्धात्मैव शुद्धनिश्चयेनोपादेयं भेदरत्नत्रयस्वरूपं तु उपादेयमभेदरत्नत्रय साधकत्वाद् व्यवहारेणोपादेयमिति' (समयसार क्ख की तात्पर्यवृ्ि टीका)

अर्थ- शुद्ध निश्चयनय से निज शुद्धात्मा ही उपादेय है तथा भेद रत्नत्रय भी उपादेय है, €योंकि वह अभेद रत्नत्रय का साधक है अतः वह व्यवहार से उपादेय है।

'व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चय रत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेयः पर परया जीवस्य पवित्रताकारणत्वात् पवित्रः।' (समयसार क्म्क की तात्पर्यवृ्ि टीका)।

अर्थ- उपादेयभूत जो निश्चय रत्नत्रय, उसका कारण होने से व्यवहार मोक्षमार्ग उपादेय है और पर परा से जीव की पवित्रता का कारण होने से पवित्र है।

उपर्युक्त समस्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि मोक्षमार्ग दो प्रकार का ही है। इसलिए आगम स मत धारणाओं को ही स्वीकार करना चाहिए। एकान्त पक्ष में नहीं जाना चाहिए।

इस समाधान में यह भी जानने योग्य है कि ऐसी मान्यता न बना ली जाये कि मोक्ष जाने के दो मार्ग हैं अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग से भी मोक्ष होता है और निश्चयमोक्षमार्ग से भी मोक्ष होता है। मोक्षमार्ग दो प्रकार का मानने का तात्पर्य यह है कि प्राथमिक अवस्था में व्यवहार मोक्षमार्ग होता है जो कि निश्चय मोक्षमार्ग का साधन है। मोक्ष की प्राप्ति तो निश्चय मोक्षमार्ग से ही होती है।

अप्रैल, 2007

158. मनोज्ञ संज्ञा अव्रती और महाव्रती दोनों के लिए

जिज्ञासा - □ या मनोज्ञ साधु के अन्तर्गत मुनि ही आते हैं और वे ही वैयावृ□ ा के योग्य हैं या गृहस्थ भी आते हैं ?

समाधान - तž वार्थसूत्र अध्याय 9 के **आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकु लसंघ-साधुमनोज्ञानाम्।। 24।।** में दिये गये अंतिम भेद मनोज्ञ की परिभाषा विभिन्न ग्रन्थों में निम्न प्रकार पाई जाती है-

1. सर्वार्थसिद्धि - **मनोज्ञो लोकस मतः।**

अर्थ - लोकस मत साधु को मनोज्ञ कहते हैं।

2. त वार्थ राजवार्तिक -**अभिरूपो मनोज्ञ इत्यभिधीयते।। 12।।**

अथवा **विद्वान् वाग्मी महाकुलीन इति लोकस्य स मतः स मनोज्ञः, तस्य ग्रहणं प्रवचनस्य लोके गौरवोत्पादनहेतुत्वात्।। 13।।**

अथवा, **असंयतस यग्दृष्टिर्मनोज्ञ इति गृह्यते संस्कारोपेतरूपत्वात्।। 14।।**

अर्थ - अभिरूप (सुन्दर) मनोहर को मनोज्ञ कहते हैं।। 12।। अथवा जो विद्वान् मुनि वाक्पटुता, महाकुलीनता आदि गुणों के कारण लोक में प्रसिद्ध हैं, वे मनोज्ञ हैं। ऐसे लोगों का संघ में रहना, लोक में प्रवचनगौरव का कारण होता है।। 13।। **अथवा संस्कारों में सुसंस्कृत असंयत स यग्दृष्टि को भी मनोज्ञ कहते हैं (योंकि उससे प्रवचन की प्रभावना होती है)।। 14।।**

3. धवला पु.-13, पृष्ठ-63- **आइरियेहिं स मदाणं गिहत्थाणं दि€खाभिमुहाणं वा जं कीरदे तं मणुण्ण वेज्जावच्चं णाम।**

अर्थ - आचार्यों के द्वारा स मत और दीक्षाभिमुख गृहस्थ की वैयावृत्य मनोज्ञ कहलाती है।

4. श्री चामुण्डरायदेव रचित चारित्रसार - **अभिरूपो मनोज्ञः आचार्याणां स मतो वा दीक्षाभिमुखो वा मनोज्ञः, अयं वा विद्वान् वाग्मी महाकुलीन इति यो लोकस्य स मतः स मनोज्ञस्तस्य ग्रहणं प्रवचनस्य लोके गौरवोत्पादनहेतुत्वादसंयत स यग्दृष्टिर्वा संस्कारोपेतरूपत्वान्मनोज्ञः।**

अर्थ - जो सुंदर हों, उन्हें मनोज्ञ कहते हैं। अथवा जो विद्वान् हों, वक्ता हों, महाकुलीन हों, इस प्रकार लोक में जो मान्य हों उन्हें मनोज्ञ कहते हैं। मनोज्ञ ग्रहण करने का यह भी अभिप्राय है कि संसार में जो अपने मत का गौरव उत्पन्न करने का कारण हो, ऐसा स यग्दृष्टि भी मनोज्ञ कहलाता है अथवा जो संवेगादिक संस्कार सहित हैं उन्हें ाी मनोज्ञ कहते हैं।

5. वीरनन्दी सिद्धान्तचक्र वर्ती कृत आचारसार (अधिकार 6 / 89-90)-

चिरप्रव्रजितः साधुर्यतिः शेषो हि संयमी।
दीक्षोन्मुखो मनोज्ञा योऽसंयतो वा सुदर्शनः॥
विद्याजात्यादिवि यातो मिथ्यादृग्वाऽस्य संग्रहः।
जिन प्रवचनस्यायं लोके गौरवकारकः॥

अर्थ - दीक्षाभिमुख श्रावक को मनोज्ञ कहते हैं। अथवा लोक में जो विद्वान् हैं, वाग्मी हैं, महाकुलीन आदि जाति से प्रसिद्ध हैं, जिनका संघ में रहना प्रवचन गौरव का कारण हैं, उनको मनोज्ञ कहते हैं। अथवा जो संस्कार सहित सुसंस्कृत असंयत स यग्दृष्टि हैं, वे भी मनोज्ञ हैं। **इस ग्रन्थ में विद्या, जाति आदि से वि यात जिनधर्म की प्रभावना करने वाले भद्र परिणामी मिथ्यादृष्टि को भी मनोज्ञ में ग्रहण किया है।** (टीका पू. आर्यिका सुपार्श्वमति जी)। उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार लोकप्रसिद्ध सुन्दर साधु को तो मनोज्ञ कहते ही हैं, दीक्षाभिमुख अथवा **लोकप्रसिद्ध असंयतस यग्दृष्टि अथवा जिनधर्म प्रभावक भद्र परिणामी मिथ्यादृष्टि को भी मनोज्ञ कहा है।**

अ टूबर, 2006

159. मुनिराजों की गोचरीवृ ा आदि का स्वरूप

जिज्ञासा— मुनियों के गोचरीवृ िा आदि पाँच विशेषणों को समझाइये ?

समाधान— उपर्युक्त प्रश्न का समाधान श्री चारित्रसार रचयिता चामुण्डरायदेव के आधार से लिखा जाता है-

क. **गोचार अथवा गोचरीवृ + जिस प्रकार गाय को यदि कोई युवती लीलापूर्वक आभूषण पहनकर घास डालने को आवे, तो भी गाय उस युवती की सुन्दरता नहीं देखती, किन्तु घास खाने पर ही अपना लक्ष्य रखती है, तथा जिसप्रकार वह गाय अनेक देश की घास, लता आदि को खाती है, और जैसी मिलती है, जितनी मिलती है, उसे ही खाती है, वह किस तरह डाली गई है, किसने डाली है आदि बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं रखती, उसी प्रकार मुनि भी भिक्षा देनेवाले पुरुषों की कोमलता, सुन्दरता, वेष और विलास आदि देखने में कभी इच्छा नहीं रखते, और न सूखा-पतला आहार आदि की विशेष योजना को देखते हैं, जो सामने आ जाता है, उसे ही खा लेते हैं। इसलिए गाय के समान भोजन करने से इसे गोचरीवृ ा कहते हैं।

ख. **अक्षम्रक्षण—** जिस प्रकार कोई वैश्य रत्नों से भरी गाड़ी को घी-तेल आदि चिकनाहट से धुरा और पहियों को ठीक कर योग्य स्थान पर पहुँचता है, उसी प्रकार मुनिराज भी गुणरूपी रत्नों से भरी हुई इस शरीर रूपी गाड़ी को निर्दोष भिक्षारूपी थोड़ी सी चिकनाहट लगाकर आयु रूपी धुरी-पहियों को ठीककर अपने पहुँचने योग्य समाधि रूपी नगर में पहुँचाते हैं। इसे अक्षम्रक्षणवृ िा कहते हैं।

फ. **उदराग्नि प्रशमन—** जिस प्रकार किसी भण्डार में आग लग जाये, तो गृहस्थ उसे पवित्र जल से अथवा अपवित्र जल से बुझाता है, उसी प्रकार मुनिराज भी सरस अथवा नीरस जैसा कुछ भी आहार मिल जाता है, उसी से अपने पेट की अग्नि को शान्त कर लेते हैं, यह उदराग्नि- प्रशमन वृ ा है।

ब. **भ्रमराहार वृ + जिस प्रकार भ्रमर किसी भी फूल को बाधा न देता हुआ रस ग्रहण करता है, उसी प्रकार मुनिराज भी दाता को बाधा न पहुँचाते हुए आहार ग्रहण करते हैं। इसे भ्रामरीवृ िा भी कहा जाता है।

भ. **गर्तपूरण—** जिसप्रकार किसी गड्ढे को अच्छी- बुरी मिट्टी से भरकर पूरा कर देते हैं, उसीप्रकार मुनिराज भी स्वादिष्ट अथवा बेस्वाद किसी तरह के भी आहार से अपनी पेटरूपी खाई को भर लेते हैं। इसको श्वभ्रपूरण भी कहते है।

यह प्रकरण राजवार्तिक -/म तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा फ-- की टीका आदि स्थानों पर भी उपलZध होता है।

वास्तव में दिग बर साधु की भिक्षावृ िा तो उपर्युक्त प्रकार ही होनी चाहिए, परन्तु वर्तमान में अधिकांश मुनिराजों की आहारवृ ा इससे मेल नहीं खाती है **आजकल बहुत से मुनि एक ही चौके में मनचाहा आहार बनवाकर लेने लगे हैं। कोई मुनि तो (आगरा के निकट के एक स्थान पर चातुर्मास कर रहे मुनि) बिना पड़गाहन किसी भी श्रावक के घर में प्रवेश कर जाते हैं, और मनचाहा आहार बनवाते हैं। इन सब कार्यों में मु य भूमिका उस संघ के ब्रह्मचारी भाई एवं ब्रह्मचारिणी बहिनों की होती है। वे श्रावक को तरह-तरह के जूस, आइसक्रीम, हलुवा, पा ायों के साग एवं चटनी, प ा गोभी की स जी आदि बनाने को बार-बार यह कहकर मजबूर करते हैं, कि महाराज को ये चीजें बहुत पसंद हैं।**

जरूर बननी चाहिए। श्रावक के एक दिन के आहार कराने में सैकड़ों रुपये खर्च हो जाते हैं। पर मजबूरी में या करे ?यदि उपर्युक्त वृ ा से सभी साधु आहार लेने लगें, तो आगम की आज्ञा का पालन भी हो और श्रावक भी निर्विकल्प हो जाये।

दिस बर, 2007

160. अष्टप्रवचनमातृका का स्वरूप

जिज्ञासा— अष्टप्रवचनमातृका का स्वरूप या है ?

समाधान— भगवती-आराधना गाथा—क्क्त्भ्-की टीका में इस प्रकार कहा है—

एवं पञ्चसमितय: तिस्रोगुप्तयश्च प्रवचनमातृका:।

अर्थ— तीन गुप्ति और पाँच समितियों को प्रवचन-मातृका कहते हैं।

श्री मूलाचार गाथा ख्-स्त्र में इस प्रकार कहा है—

पणिधाण जोग जुǍो पंचसु समिदीसु तीसु गुǍीसु।
एस चरिǍाचारो अट्ठविहो होइ णायव्वो॥

अर्थ— पाँच समिति और तीन गुप्तियों में शुभ मन, वचन, काय की प्रवृǍि रूप यह चारित्राचार आठ प्रकार का अष्टप्रवचनमातृका है, ऐसा जानना चाहिए।

इनको मातृका यों कहा है ? इसके बारे में भगवती आराधना गाथा क्क-- में इस प्रकार कहा है—

एदाओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरिǍं।
र€खंति सदा मुणिणो मादा पुǍं व पयदाओ॥

अर्थ— ये अष्टप्रवचन माता मुनि के ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सदा ऐसे रक्षा करती हैं जैसे कि पुत्र का हित करने में सावधान माता दु:खों से उसको बचाती है। (ठीक ऐसा ही वर्णन मूलाचार गाथा फ्फ्म्-में भी पाया जाता है) इसी कारण इनको मातृका कहा गया है।

जनवरी, 2008

161. मुनिराजों को तीन सन्ध्याकालों में सामायिक आवश्यक

जिज्ञासा— €या मुनिराजों को तीन काल सामायिक करने का विधान शास्त्रों में पाया जाता है ?

समाधान— उपर्युक्त प्रश्न के समाधान में मुनियों के आचार के प्ररूपण करनेवाले मूलाचार ग्रन्थ के नि न प्रमाण द्रष्टव्य हैं-

क. मूलाचार भाग-क, पृ. फ-भ् गाथा भ्क्त्त की टीका-

''यस्मिन काले सामायिकं करोति, सकाल: पूर्वाह्-नादि-भेदभिन्ना: कालसामायिकं।''

अर्थ- जिस काल में सामायिक करते हैं, पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न आदि भेदयुक्त काल, काल-सामायिक है।

सामायिक करने की विधि का वर्णन मूलाचार / 538 में इस प्रकार कहा है-

पडिलिहियअंजलिकरो, उवजुǍो उट्ठिऊण एयमणो।
अव्वाखि ो वु ो करेदि सामाइयं भि खू॥

अर्थ- प्रतिलेखन सहित अजंलि जोड़कर उपयुक्त हुआ, उठकर एकाग्रमन होकर मन को विक्षेपरहित करके मुनि सामायिक करता है।

आचार्यवृ ।-जिन्होंने पिच्छी को लेकर अंजलि जोड़ ली है, जो सावधान बुद्धिवाले हैं, वे मुनि खड़े होकर एकाग्रमन होते हुए आगमकथित विधि से सामायिक करते हैं। अथवा पिच्छी से प्रतिलेखन करके शुद्ध होकर, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव शुद्धि को करके प्रकृष्ट रूप से अंजलि को कमलाकार बनाकर अथवा पिच्छिका सहित अंजलि जोड़कर सामायिक करते हैं। मूलाचार गाथा ख्त्र के अनुसार कालाचार के वर्णन में कहा गया है कि सूर्योदय के एक मुहूर्त पहले से एक मुहूर्त बाद तक, मध्याह्न के एक मुहूर्त पहले से एक मुहूर्त बाद तक, सूर्यास्त के एक मुहूर्त पहले से एक मुहूर्त के बाद तक तथा अर्धरात्रि के एक मुहूर्त पहले से एक मुहूर्त बाद तक का काल स्वाध्याय के अयोग्य माना गया है। इसका भी यही कारण प्रतीत होता है कि सामायिक के इन चार कालों में स्वाध्याय करना उचित नहीं है, इन कालों में सामायिक करनी चाहिये।

वर्तमान में कुछ मुनिराज ऐसा कहते हुऐ दिखते हैं, कि हमको सामायिक करने के लिए कोई निश्चित काल नहीं है, हमारे तो सामायिक चारित्र ख्ब घण्टे रहता है। इसलिये हम सुबह, दोपहर एवं सायंकाल सामायिक नहीं करते हैं। ऐसे मुनिराजों को पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज का नि नलिखित प्रसंग अवश्य ध्यान देने योग्य है-

एकबार पूज्य आचार्यश्री के दर्शन एवं चर्चा करने हेतु एक प्रदेश की मु यमंत्री आनेवाली थीं। मु यमंत्री महोदया ने दोपहर क्ब बजे से क बजे तक का समय कार्यकर्ताओं को बताया। जब कार्यकर्ताओं ने पूज्य आचार्यश्री से मु यमंत्री महोदया का दर्शन एवं चर्चा करने हेतु आने का समय बताया, तो पूज्य आचार्यश्री ने कहा कि यह तो हमारे सामायिक का काल है। हम सामायिक कैसे छोड़ सकते हैं? पूज्य आचार्य श्री ने समयानुसार अपनी सामायिक प्रार भ कर दी। मु यमंत्री महोदया सामायिक के दौरान आईं और दर्शन करके चली गईं।

पूज्य आचार्यश्री का उपर्युक्त प्रसंग इस बात का ज्ञापक है कि परिस्थिति कुछ भी हो, साधु को सामायिक के उपर्युक्त कालों में सामायिक करना परम आवश्यक है।

फरवरी, 2008

162. चारित्रशुद्धि के 1234 व्रत कैसे

जिज्ञासा- चारित्रशुद्धि के 1234 व्रत करने का €या तात्पर्य है?

समाधान- मुनिराज पाँच महाव्रत, पाँच समिति तथा तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार के चारित्र के धारी होते हैं। इस तेरह प्रकार के चारित्र में प्रमादवश दोष लगा करते हैं। जब तक उन दोषों का निवारण न किया जाय, तब तक चारित्र शुद्ध नहीं होता। वे दोष 1234 होते हैं। इन दोषों को निवारण करने की भावना से चारित्र-शुद्धिव्रत पालन के लिये 1234 उपवास किये जाते हैं। इसी उद्देश्य से चारित्रशुद्धि विधान में 14 व्रतों का पूजन तथा 1234 अर्घ होते हैं। वे 1234 दोष इस प्रकार हैं-

1. **अहिंसामहाव्रत** - चौदह जीवसमास की दया में, मन, वचन, काय तथा कृत-कारित अनुमोदना, इन नव कोटि से दोष लगना = 14×9=126

2. **सत्यमहाव्रत** - सत्य के आठ दोष (भिक्षा, स्वपक्षग्रहण, परपक्षनिवारण, चुगली, क्रोध, लोभ, आत्मप्रशंसा, परनिंदा) = 8 × 9 नवकोटि = 72।

3. **अचौर्यमहाव्रत**- ग्राम, जंगल, खलिहान, एकांत, गुफा, कोटर आदि परिग्रह, विना आज्ञा वस्तुग्रहण, बलप्रयोग द्वारा वस्तुग्रहण =8×9 = 72।

4. **ब्रह्मचर्यमहाव्रत**- देवी, मनुष्यनी, तिर्यंचनी, पुतली =4 × पांच इन्द्रियाँ × नवकोटि = 180।

5. **परिग्रहत्यागमहाव्रत**- अंतरंगपरिग्रह 14 + बाह्यपरिग्रह 10 = 24 × नवकोटि 216।

6. **रात्रिभोजनत्यागव्रत**- नवकोटि से + अनिच्छापूर्वक =10।

7. **तीन गुप्ति**- 3 गुप्ति × नवकोटि = 27।

8. **समिति में**- ईर्या, आदान-निक्षेपण, प्रतिष्ठापना = 3×9 (नवकोटि) =27।

9. **भाषासमिति**- सत्य के 10 भेद × नव कोटि =90।

10. **एषणा समिति**- 46 दोष × नवकोटि = 414।

कुलयोग (समस्त दोष) = 1234।

अगस्त, 2008

163. अपहृत संयम और उपेक्षा संयम में अन्तर

जिज्ञासा- अपहृत संयम और उपेक्षा संयम में या अंतर है ?

समाधान- कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा-399 की टीका में इसप्रकार कहा है- 'संयम के दो भेद हैं- उपेक्षा संयम और अपहृत संयम। उनमें तीन गुप्तियों का पालक मुनि कायोत्सर्ग में स्थित होकर जो रागद्वेष का त्याग करता है, उसके उपेक्षा संयम होता है। उपेक्षा का मतलब उदासीनता अथवा वीतरागता है।'

अपहृत संयम के तीन भेद हैं-

1. अपने उठने-बैठने के स्थान में यदि किसी जीव-जन्तु को बाधा पहुँचती हो, तो वहाँ से स्वयं हट जाना उत्कृष्ट अपहृतसंयम है।

2. कोमल मयूर पिच्छिका से उस जीव को हटा दे, तो मध्यम अपहृत संयम है।

3. लाठी तिनके वगैरह से उस जीव को हटाये, तो जघन्य अपहृत संयम है।

अपहृतसंयमी मुनि को पाँच समितियों का पालन करना ही होता है।

अ टूबर, 2008

164. मुनिराजों द्वारा अपनी जन्म जयन्ती मनाना उचित नहीं

जिज्ञासा- या मुनियों को अपनी जन्मजयन्ती मनाना उचित है ?

समाधान- योगसारप्राभृत, अधिकार 8 के श्लोक नं. 18 में इसप्रकार कहा हैं-

भवाभिनन्दिनः केचित् सन्ति संज्ञा-वशीकृताः।
कुर्वन्तोऽपि परं धर्मं लोक-पङ्क्ति-कृतादराः॥

अर्थ- कुछ मुनि परम धर्म का अनुष्ठान करते हुए भी भवाभिनन्दी होते हैं, जो कि संज्ञाओं के वशीभूत हैं और लोगों के आराधने-रिझाने आदि में रुचि रखते हुये प्रवृ । होते हैं।

उपर्युक्त श्लोकार्थ की व्या या करते हुए **पं0 जुगल किशोर जी मु तार** ने लिखा है कि आहारसंज्ञा के वशीभूत मुनि बहुधा ऐसे घरों में भोजन करते हैं, जहाँ अच्छे रुचिकर एवं गरिष्ठ स्वादिष्ट भोजन के मिलने की अधिक स भावना होती है, उद्दिष्ट भोजन के त्याग की तथा आगमोक्त दोषों के परिवर्जन की कोई परवाह नहीं करते, भोजन करते समय अनेक बाह्य क्षेत्रों से आया हुआ भोजन भी ले लेते हैं, जो स्पष्ट आगमाज्ञा के विरुद्ध होता है। भय-संज्ञा के वशीभूत मुनि अनेक प्रकार के भयों से आक्रान्त रहते हैं, परीषहों से घबराते तथा वनवास से डरते हैं, जबकि स यग्दृष्टि सप्त प्रकार के भयों से रहित होता है। मैथुन संज्ञा के वशीभूत मुनि ब्रह्मचर्य महाव्रत को धारण करते हुए भी गुप्त रूप से उसमें दोष लगाते हैं और परिग्रह संज्ञावाले साधु अनेक प्रकार के परिग्रहों की इच्छा को धारण किये रहते हैं, पैसा जमा करते हैं, पैसे का ठहराव करके भोजन करते हैं, अपने इष्टजनों को पैसा दिलाते हैं, पुस्तकें छपा-छपाकर बिक्री करते-कराते रुपया जोड़ते हैं, तालाबन्द बॉ€स रखते हैं, बॉ€स की ताली कमण्डलु आदि में रखते हैं, पीछी में नोट छिपाकर रखते हैं, अपनी पूजाएँ बनवाकर छपवाते हैं और **अपनी जन्मगाँठ का उत्सव मनाते हैं।** ये सब लक्षण उक्त भवाभिनन्दियों के हैं, जो आजकल अनेक मुनियों में लक्षित भी होते हैं।

उपर्युक्त संदर्भ के अनुसार मुनियों द्वारा अपनी जन्मजयन्ती मनाना कदापि उचित नहीं है। मुनियों को मुनिदीक्षा के समय द्विजन्मा कहा जाता है। अर्थात् उनका नवीन जन्म माना जाता है और तदनुसार उनका नाम भी नवीन रखा जाता है। अत: असंयम अवस्था के जन्म को स्मरण करना कैसे उचित माना जाय? पू. आचार्य विद्यासागर जी महाराज, कभी भी अपनी पर्याय का जन्म दिवस नहीं मनाते हैं।

अ टूबर, 2008

165. आगमोक्त चर्यावाले मुनिराज ही वन्दनीय

जिज्ञासा- किन्हीं साधु का बाहरी आचरण अच्छा हो और उनके अन्तरङ्ग को हम जानते नहीं, तो हमें उनकी वन्दना करनी चाहिये या नहीं?

समाधान- आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित दर्शनपाहुड / गाथा 26 की टीका में पं0 जयचन्द जी ने उपर्युक्त विषय पर प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है-

प्रश्न- यहाँ कोई पूछे कि बाह्य वेश शुद्ध हो, निर्दोष आचार का पालन करनेवाले के अ यन्तर भाव में कपट हो, तो उसका निश्चय कैसे हो, तथा सूक्ष्मभाव केवलीग य है, मिथ्यात्व हो उसका निश्चय कैसे हो, निश्चय बिना वन्दन करने की या रीति?

उ ार- ऐसे कपट का जब तक निश्चय नहीं हो, तब तक आचार शुद्ध देखकर वन्दना करे, उसमें दोष नहीं है। कपट का किसी कारण से निश्चय हो जाए, तब वन्दना नहीं करे। केवलीग य मिथ्यात्व की व्यवहार में चर्चा नहीं है, छद्मस्थ के ज्ञानग य की चर्चा है। जो अपने ज्ञान का विषय ही नहीं, उसका बाध-निर्बाध करने का व्यवहार नहीं है, सर्वज्ञ भगवान् की भी यही आज्ञा है। व्यवहारी जीव को व्यवहार का ही शरण है।''

उपर्यु€त कथन के अनुसार किसी भी साधु के अ यन्तर भाव का निर्णय करना, हमारी शि€त से बाहर है। इसलिए हमको तो उनका आगम के अनुसार आचरण देखकर वन्दना करनी चाहिए। यदि किसी प्रकार अन्तरङ्ग मिथ्यात्व जानकारी में आ जाए, तब वन्दना नहीं करनी चाहिए।

जुलाई, 2010

166. काल के कारण स्वयं को शिथिलाचारी बनाना उचित नहीं

जिज्ञासा- वर्तमान काल ठीक नहीं है। शरीर कमजोर है, सर्दी-गर्मी सहन करना स भव नहीं है, अत: मुनि अवस्था धारण नहीं करना ही श्रेष्ठ है। शिथिलाचारी साधु बनकर शास्त्रविरुद्ध आचरण उचित नहीं। आपकी या राय है ?

समाधान- आपके प्रश्न का उ ार आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने समयसार गाथा 290 के विशेषार्थ में बहुत अच्छी तरह दिया है। उसी को यहाँ लिखा जाता है-

शङ्का- फिर आजकल तो मुनि नहीं बनना चाहिये। योंकि इस समय तो निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती है। ऐसा सुना जाता है।

समाधान- कौन कहता है कि आजकल निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती है ? विकल्प भी दो प्रकार के होते हैं- 1. ध्येय-ध्याता आदि रूप विकल्प 2. इष्ट-अनिष्टादि रूप विकल्प। जहाँ मैं ध्यान करनेवाला हूँ और अमुक अर्हन्तादिक का ध्यान कर रहा हूँ, इस प्रकार का ध्याता और ध्येय आदि का विकल्प न हो, जैसा कि छहढाला में लिखा हुआ है-

जहँ ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वच भेद न जहां।
चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता चेतना किरिया तहां॥
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध उपयोग की निश्चल दशा।
प्रगटी जहाँ दृग ज्ञान व्रत ये तीनधा एकै लसा॥

ऐसा एकाकार ध्यान, जिसको आगम भाषा में शु लध्यान कहते हैं, वह तो उ ाम संहननवाले के ही होता है, अत: इस समय नहीं हो सकता। किन्तु जहाँ पर यह मेरा है, यह पराया है, यह अच्छा है या बुरा है, इस प्रकार के आर्ा रौद्रभावात्मक संकल्प-विकल्प न होने पावें, ऐसा धर्मध्यान तो हो ही सकता है। जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं-

अज्जवि तिरयण सुद्धा, अप्पाझाऊण जांति सुरलोए।
लोयंतियदेवर्ा, तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति।। (मोक्षपाहुड / 77)

अर्थ- आज भी ऐसे जीव हैं जिनका स यग्दर्शन, स यग्ज्ञान और स य€चारित्ररूप रत्नत्रय निर्दोष व शुद्ध है। अत: वे अपनी आत्मा का ध्यान करके, उसके बल पर यहाँ से ब्रह्म स्वर्ग में जाकर लौकान्तिक देव हो जावें और वहाँ से आकर मनुष्य हो मुनि बनकर निर्वाण को प्राप्त कर लें।

इस प्रकार शुद्ध रत्नत्रय को पालन करने की एवं सीधा यहाँ से लौकान्तिक पद पाने जैसी योग्यता मुनि बनने पर ही हो सकती है। अत: आज भी मुनि बनना निरर्थक नहीं है। **सार्थक ही है, यदि वह समाधि के लिये है तो।''**

निष्कर्ष यह है कि अपनी शारीरिक शक्ति एवं उत्साह के अनुसार क्षुल्लक, ऐलक दीक्षा या मुनि दीक्षा लेनी चाहिये। यश अथवा मान के लिये, पंचमकाल की बलिहारी करते हुए **शिथिलाचारी बनकर मुनिपने का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये, जो आजकल बहुतायत से हो रहा है।** ऐसे शिथिलाचारी साधुओं के लिये संयमप्रकाश उ ारार्ध / भाग 2 / पृष्ठ 657, शुद्धश्रावकधर्मप्रकाश / पृष्ठ 358 व धर्मविलास आदि ग्रन्थों

में नि न गाथा दी गई है, जो अत्यन्त विचारणीय है-

भरहे पंचमकाले जिणमुद्दा धार गंथ सव्वस्से।
साढे सात करोर, जाइये निगोय मज्जि म॥

अर्थ- इस भरतक्षेत्र में पंचमकाल में जिनमुद्रा को धार (शिथिलाचारी होकर) साढ़े सात करोड़ साधु निगोद में जायेंगे।

सित बर, 2010

167. मुनिराज पंखा, कूलर, ए.सी. का प्रयोग नहीं करते हैं

जिज्ञासा- □ या मुनि या आर्यिका, पंखा, कूलर, ए.सी. का प्रयोग करते हुए अहिंसा महाव्रत का पालन कर सकते हैं ?

समाधान- इस जिज्ञासा के समाधान में सर्वप्रथम अहिंसा महाव्रत की परिभाषा जान लेना चाहिये। अहिंसा महाव्रत की परिभाषा मूलाचार / 289 में इस प्रकार कही है-

एइंदियादिपाणा पंचविहावज्जभीरुणा स मं।
ते खलु ण हिंसिदव्वा मणवचिकायेण सव्वत्थ॥

अर्थ- एकेन्द्रिय आदि जीव पाँच प्रकार के हैं। पापभीरु को स यक् प्रकार से मन-वचन-कायपूर्वक उन जीवों की निश्चितरूप से हिंसा नहीं करना चाहिये। **आचार वृ□** ाएक इंद्रिय है जिनकी, वे एकेन्द्रिय हैं। यहाँ प्राण शŽद से जीवों को लिया है। वे कितने हैं ? पाँच प्रकार के हैं। पापभीरु मुनि को स्पष्टतया, स यक् विधान से, उनकी हिंसा नहीं करना चाहिये। मन-वचन-काय से सर्वत्र अर्थात् सर्वकाल में सर्वदेश में अथवा सभी भावों में इन जीवों को पीड़ित नहीं करना चाहिये, न कराना चाहिये और न करते हुये की अनुमोदना ही करना चाहिये। यह अहिंसा महाव्रत है।

उपर्युक्त संदर्भानुसार यदि कोई महाव्रती (मुनि या आर्यिका) पंखे का प्रयोग करते हैं, तो निश्चित रूप से बादर वायुकायिक जीव तथा छोटे-छोटे त्रस जीवों की हिंसा होती ही है। कूलर चलाने में बादर वायुकायिक जीव, जलकायिक जीव तथा त्रसजीवों का वध होता ही है। ए.सी. चलाने में, वायुकायिक बादरजीव, अग्निकायिक जीव तथा त्रसजीवों का वध होता ही है। इन सब जीवों की हिंसा हमको प्रत्यक्ष दिखाई देती है। अत: इन सुविधाओं का प्रयोग करनेवाले साधु या आर्यिका को अहिंसा महाव्रत पालन होना कदापि संभव नहीं है।

इसके अतिरिक्त शरीर की सुविधा या गर्मी दूर करने के लिये इन सुविधाओं का प्रयोग करने पर 'स्पर्शन इन्द्रियजय' नामक मूलगुण कैसे सुरक्षित रह सकता है ? कदापि नहीं रह सकता। महाव्रती को इलैि€ट्रक प्रयोग भी वर्जित है। अत: यह भी दोष लगता ही है।

वर्तमान में देखा जाता है कि कुछ साधु या आर्यिकायें स्वयं तो इन साधनों का प्रयोग नहीं करते अर्थात् स्वयं पंखा-कूलर आदि नहीं चलाते हैं, पर अन्य गृहस्थों के द्वारा चलाये जाने पर उसके नीचे या सामने जाकर बैठ जाते हैं, यह भी उचित नहीं है। उनको उनके नीचे या सामने नहीं बैठना चाहिये। या तो वह स्थान छोड़ देना चाहिये या गृहस्थ को कहकर पंखा आदि बंद करवा देना चाहिये। अन्यथा अनुमोदना का दोष लगने पर

अहिंसा महाव्रत नहीं रह पायेगा। आजकल कुछ क्षेत्रों या मंदिरों में ऐसे ध्यान कक्ष बना दिये गये हैं जो वातानुकूलित हैं। यदि उनमें बैठकर सामायिक आदि किया जाता है, तो भी अनुमोदना का दोष लगने से अहिंसा महाव्रत तथा स्पर्शन इंद्रियजय मूलगुण कैसे रह सकेंगें ? उपर्युक्त मूलाचार की परिभाषा में तो कृत-कारित-अनुमोदना तथा मन-वचन-काय से छहकाय के जीवों की रक्षा का विधान है। □ या ऐसी सुविधायें लेना, इस परिभाषा में आ पायेगा ?

वर्तमान में कुछ साधु-आर्यिकाओं ने, तो अपने रहने के कमरे वातानुकूलित ही बनवा रखे हैं। वे जहाँ चातुर्मास करते हैं वहाँ इन साधनों की व्यवस्था कहकर पहले ही करवा लेते हैं। □ या यह महान् शिथिलाचार नहीं है ? मैं अ ी एक स्थान पर गया था। वहाँ के श्रावकों ने बताया कि यहाँ एक मुनि आये थे। उन्होंने पंखा प्रयोग किया। हमने मना किया तो उन्होंने कहा कि गर्मी लगती है। तब हमने कहा कि आप मुनि हैं। आपको यह प्रयोग उचित नहीं। अन्यथा हम व्यवस्था नहीं कर सकेंगे। वे मुनि वहाँ से विहार कर गये। हम श्रावकों को चाहिये कि मुनि के 28 मूलगुणों को अच्छी प्रकार समझें और उनका पालन करनेवाले साधुओं की ही व्यवस्था करें। पू. चा.च.आ. शांतिसागर जी महाराज की आज्ञानुसार, शिथिलाचारी साधुओं की उपेक्षा करें। अन्यथा इस बढ़ते हुये शिथिलाचार पर अंकुश लगाना कैसे संभव हो सकेगा ? आशा है सभी साधर्मी भाई तथा सभी समाज के कार्यकर्ागण, उपर्युक्त आगमानुसार भावना बनाते हुये आगम की मर्यादा के अनुसार ही साधुसेवा करने का संकल्प लेंगे, मर्यादा का उल्लंघन करते हुये शिथिलाचार के पोषण में सहभागी नहीं बनेंगे।

नोट- इसी प्रकार शीत ऋतु में हीटर, अंगीठी या हैलोजन बल्व की गर्मी लेना भी बिलकुल आगम-स मत नहीं है।

सित बर, 2008

168. मुनि खड़े होकर ही आहार करते हैं

जिज्ञासा- मुनिराज खड़े होकर ही भोजन □ यों करते हैं, तथा भोजन करते समय पैरों की स्थिति कैसी रहनी चाहिए, बतायें ?

समाधान- दिग बर साधु के आहार के स बन्ध में श्री मूलाचार / 34 में इसप्रकार कहा है-

अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइ विवज्जणेण समपायं।
पडिसुद्धे भूमिट्ठिाए असणं ठिदि भोयणं णाम॥

अर्थ- दीवाल आदि का सहारा न लेकर जीव-जन्तु से रहित तीन स्थान की भूमि में समान पैर रखकर खड़े होकर दोनों हाथों की अंजली बनाकर भोजन करना स्थितिभोजन नाम का व्रत है।

इसकी आचारवृ□ ा में कहा है कि दीवाल का भाग या खंभे आदि का सहारा न लेक**रपैरों में चार अंगुल प्रमाण का अन्तर** रखकर खड़े होकर अपने कर पात्र में आहार लेना स्थितिभोजन है।

प्रश्न- किसलिए स्थिति भोजन का अनुष्ठान किया जाता है ?

उ□ ार-यह दोष नहीं है, □ योंकि**जब तक मेरे हाथ-पैर चलते हैं, तब तक ही आहार ग्रहण करना योग्य है, अन्यथा नहीं,** ऐसा सूचित करने के लिए मुनि खड़े होकर आहार ग्रहण करते हैं। बैठकर दोनों हाथों

से या बर्तन में लेकर या अन्य के हाथ से मैं भोजन नहीं करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा के लिए ाी, खड़े होकर आहार करते हैं। दूसरी बात यह भी है कि **अपना पाणिपात्र शुद्ध रहता है तथा अन्तराय होने पर बहुत सा भोजन छोड़ना नहीं पड़ता है,** अन्यथा थाली में खाते समय अन्तराय हो जाने पर, भोजन से भरी हुई पूरी थाली को छोड़ना पड़ेगा, इससे दोष लगेगा। इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम का परिपालन करने के लिए भी स्थिति-भोजन मूलगुण कहा गया है।

यशस्तिलकच पूगत उपासकाध्ययन में इस प्रकार कहा है-

न स्वर्गाय स्थितेर्भुक्तिर्न श्वभ्रायास्थितेः पुनः।
किं तु संयमिलोकेऽस्मिन्सा प्रतिज्ञार्थमिष्यते॥ 133॥
पाणिपात्रं मिलत्येतच्छ€तश्च स्थितिभोजने।
यावǍावदहं भुञ्जेहा याहारमन्यथा ॥ 134॥

अर्थ- बैठकर भोजन करने से स्वर्ग नहीं मिलता और न खड़े होकर भोजन करने पर नरक में जाना पड़ता है। किन्तु मुनिजन प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए ही खड़े होकर भोजन करते हैं। मुनि भोजन प्रार भ करने से पूर्व यह प्रतिज्ञा करते हैं कि— 'जब तक मेरे दोनों हाथ मिले हैं और मेरे खड़े होकर भोजन करने की शक्ति है, तब तक मैं भोजन करूँगा, अन्यथा आहार को छोड़ दूँगा। इसी प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए मुनि खड़े होकर भोजन करते हैं'॥ 133-134॥

श्री श्रावकाचारसारोद्धार ग्रन्थ में भी इस प्रकार कहा है— 'ज्ञान नेत्रवाले संयमीजनों की यह प्रतिज्ञा होती है कि जब तक मेरे दोनों हाथ परस्पर मिले हुए रहें और जब तक खड़े होकर भोजन करने की सामर्थ्य है, तब तक ही मैं भोजन की क्रिया करूँगा, अन्यथा सामर्थ्य के अभाव में परलोक की सिद्धि के लिए मैं भोजन की क्रिया को छोड़ दूँगा। ॥ 312-313॥

विशेष- वर्तमान में कुछ दिग बर साधु, दोनों पैरों के बीच चार अंगुल से अधिक अन्तर रखकर आहार करते हुए देखे जाते हैं। इस प्रकार आहार करना उपर्युक्त श्री मूलाचार के कथनानुसार उचित नहीं है।

जनवरी, 2009

169. साधु का लश की लैट्रिन में शौच जाना उचित नहीं

जिज्ञासा- €या दिग बर मुनि या आर्यिका, लश की लैट्रिन में शौच के लिए जा सकते हैं ? या ऐसा करने पर अहिंसाव्रत का पालन हो जाता है ?

समाधान- वर्तमान में कुछ साधु या आर्यिकाओं के द्वारा प्रतिष्ठापना समिति के पालन को बिल्कुल अनावश्यक समझ लिया गया है। **ये साधु या अर्यिकाएँ अपने ठहरने के स्थान पर ही बनी हुई सुविधा युक्त लश की लैट्रिनों में लघुशंका या शौच के लिए निःसंकोच जाने लगे हैं, जबकि आगमदृष्टि इसका बिल्कुल भी समर्थन नहीं करती।** कुछ आगम प्रमाण इस प्रकार है-

1. श्री मूलाचार / 321 में इस प्रकार कहा है-

वणदाहकिसिमसिकदे थंडिल्लेणुप्परोध वित्थिण्णे।
अवगदजंतु विवि ो उच्चारादी विसज्जोज्जो॥

अर्थ -दावानल से, हल से या अग्नि आदि से दग्ध हुए, बंजरस्थान, विरोधरहित, विस्तीर्ण, जन्तुरहित और निर्जन स्थान में मलमूत्र आदि का विसर्जन करें।। 321।।

आचारवृ ा -दावानल को वनदाह कहते हैं। हल से अनेक बार भूमि का विदारण होना कृषि है। श्मशान प्रदेश, अंगारों के प्रदेश और अग्नि आदि से जले प्रदेश को मषि कहते हैं। कृत शŸद का प्रत्येक के साथ स बन्ध करना चाहिए। अर्थात् जहाँ दावानल (अग्नि) लग चुकी है ऐसा प्रदेश, जहाँ हल चल चुका है ऐसा प्रदेश, तथा श्मशान भूमि, अंगारों से अग्नि आदि से जला हुआ प्रदेश, स्थण्डिलीकृत-ऊसर प्रदेश, जिसे बंजर भी कहते हैं अर्थात् जहाँ पर घास नहीं उगती है ऐसी कड़ी भूमि का प्रदेश, जहाँ पर लोगों का विरोध नहीं है ऐसा प्रदेश, विशाल खुला हुआ बड़ा स्थान, जहाँ पर दो इन्द्रिय आदि जन्तु नहीं हैं, ऐसा निर्जतुंक स्थान और विविक्त अर्थात् विष्ठा तथा कूड़ा कचरा आदि रहित स्थान या जनरहित स्थान, इन उपर्युक्त प्रकार के स्थानों में मुनि, मल मूत्रादि का त्याग करें अर्थात् उचित भूमि प्रदेश में शौचादि के लिए जावें ऐसा स बन्ध कर लेना चाहिए।

2. श्री मूलाचार प्रदीप में इस प्रकार कहा है -

एकान्ते निर्जने दूरे संवृते दृष्ट्यगोचरे।
विलादिरहितेऽचि ोऽविरोधे जन्तुवर्जिते।। 588।।
प्रदेशे क्रियते यत्स्वोच्चार प्रस्रवणादिकम्।
दृष्टिपूर्वं प्रतिष्ठापनिका सा समितिर्मता।। 589।।

अर्थ - मुनि लोग जो मल-मूत्र करते हैं, वह ऐसे स्थान में करते हैं, जो एकान्त हो, दूर हो, ढँका हो अर्थात् आड़ में हो, दृष्टि के अगोचर हो, जिसमें बिल आदि न हों, जो अचि ा हो, विरोधरहित हो अर्थात् जहाँ किसी की रोक टोक न हो और जिसमें जीवजन्तु न हों, ऐसे स्थान में देख-शोध कर वे मुनिराज मल-मूत्रादिक करते हैं, इसको प्रतिष्ठापना समिति कहते हैं।। 588-589।।

3. श्री आचारसार में इस प्रकार कहा है -

दूरगूढविशालाविरुद्धशुद्धमहीतले।
उत्सर्गसमितिर्विण्मूत्रादीनां स्याद्विसर्जनम्।। 26।।

अर्थ - दूर (ग्राम के बाहर का स्थान), गूढ़ (छिपा हुआ स्थान), विशाल (बिल तथा छेद रहित चौड़ा स्थान), अविरोधी (लौकिक जनों के विरोध से रहित स्थान), ऐसे जीवादि से रहित शुद्ध स्थान में मल-मूत्र आदि करना प्रतिष्ठापना (उत्सर्ग) समिति है।

उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार, साधु के ठहरने के स्थान पर ही निकट में जो लैट्रिन आदि बना दी जाती है, उसका साधु या आर्यिका के द्वारा प्रयोग करना, किसी भी प्रकार आगमस मत नहीं है। ऐसा करने से अहिंसा महाव्रत, प्रतिष्ठापना समिति आदि मूलगुणों का नाश होता है। जिसका फल श्री मूलाचारप्रदीप में इस प्रकार कहा है-

आसां ये शिथिलाः प्रपालनविधौ निद्यं प्रमादं सदा।
कुर्वत्यत्र दयादयो व्रतगुणास्तेषां प्रणश्यन्ति भोः।।

तन्नाशाच्च महाघमात्महतकं तत्पाकतो दुर्गतौ।
घोरं स्यादसुखं ह्यमुत्र परमं चांतातिगासंसृतिः।।

अर्थ – जो मुनि इन पाँचों समितियों के पालन करने में शिथिलता करते है, तथा निंदनीय प्रमाद करते हैं, उनके दया आदि व्रत और गुण सब नष्ट हो जाते हैं। व्रतों के नष्ट होने से आत्मा का घात करने वाला महापाप उत्पन्न होता है, उस महापाप के उदय से परलोक में दुर्गतियाँ प्राप्त होती हैं, उन दुर्गतियों में महाघोर दुःख उत्पन्न होते हैं और अनन्त संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है।

अतः उपर्युक्त प्रमाणों को ध्यान में रखते हुए सभी श्रावकों का यह परम कर्त्तव्य होता है कि वे आये हुए मुनिराज को, ठहरने के स्थान से दूर एवं उपर्युक्त आगमानुसार जीव-जन्तु रहित स्थानों पर ही शौचादि निवृत्ति की व्यवस्था एवं निवेदन करें तथा मुनि या आर्यिका के ठहरने के स्थान के निकट उनके लिए लैट्रिन आदि कदापि निर्माण न करावें। मुनिराज के चातुर्मास की व्यवस्था करने वाली समिति के सभी सदस्यगण यदि मुनिचर्या की थोड़ी जानकारी कर लेवें, तो साधु शिथिलाचार पर तुरंत रोक लग सकती है तथा साधु भी, उपर्युक्त श्री मूलाचार के प्रमाणानुसार, महान् पापों से बच सकता है। **साधु को उन शहरों या स्थानों पर जाना उचित नहीं है, जहाँ उसके मूलगुणों का ही नाश हो जाये।**

अक्टूबर, 2006

170. साधु को शिथिलाचारी दीक्षागुरु की भी वन्दना का निषेध

जिज्ञासा– यदि दीक्षा गुरु (आचार्य) शिथिलाचारी हो गया हो तो साधु उनकी वंदना करे, प्रवचन से पूर्व उनकी जय बोले या न बोले। कृपया शास्त्रीय प्रमाण से समझायें।

समाधान– साधुओं के आचरण को बताने वाला प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रंथ मूलाचार माना जाता है। इस मूलाचार/594 में, उपर्युक्त प्रश्न के समाधान में इस प्रकार कहा है-

णो वंदिज्ज अविरदं, मादा पिदुगुरु णरिंद अण्णतित्थं व।
देसविरद देवं वा, विरदोपासत्थपणगं वा॥

अर्थ– अविरत माता-पिता व गुरु की, राजा की, अन्य तीर्थ की, देशविरत की, अथवा देवों की या पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के मुनि की वह विरत मुनि वंदना न करे।

आचारवृत्ति :असंयत माता-पिता की, असंयत गुरु की अर्थात् **यदि दीक्षागुरु चारित्र में शिथिल भ्रष्ट है या श्रुत गुरु यदि असंयत है अथवा चारित्र में शिथिल है तो संयत मुनि उनकी वंदना न करे।** वह राजा की, पाखंडी साधुओं की, शास्त्रादि से प्रौढ़ भी देशव्रती श्रावक की या नाग, यक्ष, चन्द्र, सूर्य इन्द्रादि देवों की वंदना न करे तथा पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के मुनि, जो कि निर्ग्रंथ होते हुये भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र में शिथिल हैं, उनकी भी वंदना न करे। विरत मुनि मोहादि से असंयत माता-पिता आदि की या अन्य किसी की स्तुति न करे। भय से या लोभ आदि से राजा की स्तुति न करे। **ग्रहों की पीड़ा आदि के भय से सूर्य आदि की पूजा न करे।** शास्त्रादि ज्ञान के लोभ से अन्य मतावल बी पाखण्डी साधुओं की, स्तुति न करे। आहारादि के निमित्त श्रावक की स्तुति न करे एवं स्नेह आदि से पार्श्वस्थ आदि मुनियों की स्तुति न करे **तथैव अपने गुरुजी यदि हीन चारित्र हो गये हैं तो उनकी भी वंदना न करे।** अन्य भी जो अपने उपकारी हैं, किन्तु असंयत हैं, उनकी भी वंदना न करे। मार्च, 2008

171. मुनिराज स्थावर हिंसा का भी निर्देश नहीं देते हैं

जिज्ञासा- □ या मुनिराज पेड़-पौधे उखाड़ने का, जमीन खोदने का, धर्मशाला आदि बनाने का निर्देश दे सकते हैं ? चरणानुयोग के ग्रन्थों के अनुसार सप्रमाण उǯार दीजिए।

समाधान- उपर्युक्त क्रियाओं का निर्देश तो आर भत्यागप्रतिमा नामक आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक भी नहीं दे सकता, फिर अहिंसामहाव्रतधारी मुनियों का तो प्रश्न ही नहीं है। कुछ आगमप्रमाण इस प्रकार हैं-

1. श्री मूलाचार गाथा 35 की टीका में इस प्रकार कहा है- **'सावद्ययोगे यः आत्मनो गोपनं गुप्तिः। सा च मनोवा€कायक्रियाभेदात्त्रिप्रकाराः।'**

अर्थ- सावद्य अर्थात् पापयोग से आत्मा का गोपन अर्थात् रक्षण करना गुप्ति है। इसके मन-वचन और काय की क्रिया के भेद से तीन भेद हो जाते हैं। अर्थात् सावद्य परिणामों से मन को रोकना मनोगुप्ति है, सावद्य वचनों को नहीं बोलना वचन-गुप्ति है और सावद्य काययोग से बचना कायगुप्ति है।

2. श्रीमूलाचारप्रदीप में इस प्रकार कहा है- **'शिलादि-------योगैराद्यव्रताप्तये।'** (श्लोक नं. 56 से 60)

अर्थ- शिला, पर्वत, धातु, रत्न आदि में बहुत से कठिन पृथ्वीकायिक जीव रहते हैं तथा मिट्टी आदि में बहुत से कोमल पृथ्वीकायिक जीव रहते हैं तथा उनके स्थूल-सूक्ष्मादि अनेक भेद हैं। इसलिए मुनिराज अपने हाथ से, पैर से, अंगुली से, लकड़ी से, सलाई से या खप्पर से पृथ्वीकायिक जीवसहित पृथ्वी को न खोदते हैं, न ुादवाते हैं, न उस पर लकीरें करते हैं न कराते हैं, न उसे तोड़ते हैं, न तुड़वाते हैं, न उस पर चोट पहुँचाते हैं, न चोट पहुँचवाते हैं तथा अपने हृदय में दयाबुद्धि धारण कर न उस पृथ्वी को परस्पर रगड़ते हैं, न उसको किसी प्रकार की पीड़ा देते हैं। यदि कोई अन्य भ□ त पुरुष उस पृथ्वी को खोदता है, या उस पर लकीरें करवाता है, उस पर चोट मारता है, रगड़ता है या अन्य किसी प्रकार से उन जीवों को पीड़ा पहुँचाता है, तो वे योगी उसकी अनुमोदना भी नहीं करते। इस प्रकार वे मुनिराज अहिंसा महाव्रत को प्राप्त करने के लिए उन पृथ्वीकायिक जीवों की विराधना कभी नहीं करते।

इसी प्रकार वनस्पतिकायिक जीवों के संबंध में **'हरितांकुर---पापधीः'** (श्लोक नं. 85 से 90) में इस प्रकार कहा है-

'मुनिराज मन-वचन-काय की शुद्धता धारण करने के कारण हरित-अंकुर, बीज, पत्र, पुष्प आदि के आश्रित रहनेवाले वनस्पतिकायिक जीवों का छेदन, भेदन, पीड़न, वध, बाधा, स्पर्श और विराधना आदि न तो स्वयं करते हैं और न दूसरों से कराते हैं। मुनियों को गमन-आगमन आदि के करने में काई और फूलन आदि में रहनेवाले अनन्तकायजीवों की हिंसा भी कभी नहीं करनी चाहिए। वनस्पति का समार भ करने से, वनस्पतिकायिक जीव और वनस्पतिकाय के आश्रित रहनेवाले जीवों की हिंसा अवश्य होती है। इसलिए अर्हन्-मुद्रा अथवा जिनलिंग को स्वीकार करनेवाले मुनियों को अपने जीवनपर्यन्त मन-वचन-काय से उन दोनों प्रकार की वनस्पति का समार भ नहीं करना चाहिए। जो मुनि वनस्पति में प्राप्त हुए इन जीवों को नहीं मानता, उसे जिनधर्म से बाहर मिथ्यादृष्टि और पापी समझना चाहिए।

इसी प्रकार जलकायिक, वायुकायिक और अग्निकायिक जीवों की विराधना से मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से दूर रहना अहिंसा महाव्रत में आता है।

3. कार्तिकेयानुप्रेक्षा में **हिंसार भो---ध मो।** (गाथा नं0 406) की टीका का अर्थ इस प्रकार कहा है- 'देवपूजा, चैत्यालय, संघ और यात्रा वगैरह के लिए मुनियों का आर भ करना ठीक नहीं है। तथा गुरुओं के लिए वसतिका बनवाना, भोजन बनाना, सचिž जल-फल-धान्य वगैरह का प्रासुक करना आदि आर भ भी मुनियों के लिए उचित नहीं हैं, €योंकि ये सब आर भ, हिंसा के कारण हैं। वसुनन्दी आचार्य ने मुनि के आचार बतलाते हुए लिखा है- 'निर्ग्रन्थ मुनि पाप के भय से अपने मन-वचन और काय को शुद्ध करके जीवनपर्यन्त के लिए सावद्ययोग का त्याग कर देते हैं तथा मुनि हरिततृण-वृक्ष-छाल-पत्र-कोंपल-कन्दमूल-फल-पुष्प और बीज वगैरह का छेदन-भेदन न स्वयं करते हैं और न दूसरों से कराते हैं। मुनि पृथ्वी को खोदना, जल से सींचना, अग्नि को जलाना, वायु को उत्पन्न करना और त्रसों का घात न स्वयं करते हैं, न दूसरों से कराते हैं और यदि कोई करता हो, तो उसकी अनुमोदना भी नहीं करते।

'देवगुरुण णिमिžं---अलियं' (गाथा-407) की टीका में इस प्रकार कहा है, **भावार्थ-** गृहस्थी बिना आर भ किये नहीं चल सकती और ऐसा कोई आर भ नहीं है, जिसमें हिंसा न होती हो, अत: गृहस्थ के लिए आर भी हिंसा का त्याग करना श€य नहीं है। किन्तु मुनि गृहवासी नहीं होते, अत: वे आर भी हिंसा का भी त्याग कर देते हैं। वे केवल अपने लिए ही आर भ नहीं करते, बल्कि देव और गुरु के निमिžा से भी न कोई आर भ स्वयं करते हैं, न दूसरों से कराते हैं और न ऐसे आर भ की अनुमोदना ही करते हैं।

4. प्रश्नोžारश्रावकाचार श्लोक नं. 104 से 106 में आर भत्याग नामक अष्टम प्रतिमा के धारी का स्वरूप बताते हुए इस प्रकार कहा है- ''आर भत्यागप्रतिमा को धारण करनेवाले धीर-वीर व्रती पुरुषों को अपने आर भ का त्याग करने के लिए मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से पृथ्वी खोदना, कपड़े धोना, दीपक मसाल आदि का जलाना, वायु करना, वनस्पतियों को तोड़ना, काटना, छेदना, गेहूँ, जौ आदि बीजों को, कूटना-पीसना— आदि निन्द्य आर भों का बहुत शीघ्र त्याग कर देना चाहिए।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि मुनिराज अहिंसा महाव्रत के पालन के लिए पाँचों प्रकार के स्थावर जीवों की हिंसा के मन-वचन-काय एवं कृत-कारित-अनुमोदना से त्यागी होते हैं।

मार्च, 2009

172. चातुर्मास कलश स्थापना का नियम है या नहीं

जिज्ञासा- चातुर्मास के प्रारंभ में साधु द्वारा कलश स्थापना करना €या आगम स मत है ? प्रमाण दें।

समाधान- चातुर्मास के प्रारंभ में साधुओं द्वारा कलश स्थापना करने के संबंध में सत्यता यह है कि साधु इस संबंध में कुछ नहीं कहते। शास्त्रों में भी इस तरह कलश स्थापना करवाने के संबंध में कोई चर्चा नहीं है। आजकल साधु के चातुर्मास करवाने में समाज बहुत अर्थ व्यय करती है। अत: समाज के द्वारा धन संग्रह करने के लिये यह एक युक्ति आयोजित की जाती है। साधु इसमें रंचमात्र भी रुचि नहीं लेते हैं।

कलश के संबंध में, समाज में ऐसी चर्चा भी सुनने में आने लगी है कि जिन महाराज के चातुर्मास स्थापना के कलश की बोलियाँ, जितनी अधिक राशि की होती हैं वे महाराज उतने बड़े माने जाते हैं। पर यह

चर्चा विलकुल उचित नहीं है। अन्यथा जो साधु, कलश स्थापना ही नहीं करवाते या कलश स्थापना की बोलियाँ नहीं लगने देते हैं, उनके लिये हम या कहेंगे ? अत: ऐसी चर्चा नहीं होनी चाहिए।

यह भी हमें ध्यान रखना चाहिये कि ये कलश, नमोऽस्तु करने, पूजा करने या अर्घ चढ़ाने के योग्य नहीं होते। ये तो मात्र चातुर्मास स्थापना के संकल्प रूप कलश हैं। अत: इनकी पूजा करना बिलकुल उचित नहीं है।

मार्च, 2010

173. साधु का आहार तय होना अनुचित है

जिज्ञासा- वर्तमान में बहुत से आचार्य और मुनि, श्रावक के यहाँ तय करके आहार लेते हुए देखे जा रहे हैं ? या ऐसा करना आगम के अनुसार उचित है ?

समाधान- आपकी दर्द भरी जिज्ञासा बिल्कुल उचित है। साधु-संस्था का शिथिलाचार समुद्र के ज्वार-भाटे की तरह बढ़ता ही जा रहा है। पिछले वर्ष तो एक सज्जन ने अखबार में ही यह विज्ञापन दिया था कि दिनांक — को आचार्य — का आहार हमारे यहाँ होगा। जो भी साधर्मी भाई आचार्य — को आहार देने के भाव रखते हों, वे हमारे यहाँ 9 बजे तक पधारें।

जुलाई 2009 में हमारे कुछ साथियों के पास एक सज्जन का फोन आया था कि परसों आचार्य —— आहार के लिए हमारे यहाँ आयेंगे। आप सादर आमंत्रित हैं।

कुछ आचार्यों की तो आहार देनेवालों की सूची एक सप्ताह पूर्व ही तय हो जाती है। जब आचार्यों का ऐसा आचरण देखा जा रहा है, तब मुनियों की €या चर्चा की जाये ?

आचार्य शुभचन्द्र द्वारा विरचित, 'संस्कृत श्रेणिक पुराणम्', सर्ग-10 का नि नलिखित प्रकरण, हम आपकी जिज्ञासा के समाधान में दे रहे हैं, इसे पढ़कर आप स्वयं निर्णय करें कि ऐसे आचार्य या मुनियों का इस प्रकार आहार लेना आगमस मत है या नहीं-

भूप: पुनर्जगौ वा यं नो चेन्मम वच: कुरु।
ममाहारकृते गेह्या गंतव्यं यथा तथा॥ 58॥

अर्थ- हे मुनिनाथ! यदि आप तप छोड़ना नहीं चाहते, तो कृपा कर आप मेरे गृह में भोजनार्थ जरूर आयें। राजा के ये वचन भी मोह परिपूर्ण जान मुनिवर सुषैण ने कहा-

राजन्निति न युक्तं मे कृताहारग्रहादिकम्।
यतीनां योगयु तानां तप: कृतविवर्जनम्॥ 59॥
मनोवचनकायैश्च यत्कृतं कारितं पुन:।
अनुमोदितमेवात्र हेयं हेयं च भोजनम्॥ 60॥
प्रासुकं यत्स्वयं जातं गेहिनां धा न निश्चितं।
अनुद्दिष्टं समादेयं जेमनं यतिभि: सदा॥ 61॥
तिथि र्न विद्यते येषां येषामामंत्रणं न च।
कथ्यंतेऽतिथयस्तत्र निघस्त्रे तिथिवर्जिते॥ 62॥

कृतकारितसंमौदैन्यादं गृह्णन्ति ये शठाः।
यतयो नात्र चोच्यंते रसनाहतमानसाः॥ 63॥
अत इत्थं न व€तव्यं भूप! भिक्षादिहेतवे।
अन्यद्यद्रोचते तु यं कथ्यमानं करोमि तत्॥64॥

अर्थ- हे राजन्! मैं इस काम को करने के लिए सर्वथा असमर्थ हूँ। दिग बर मुनियों को इस बात की पूर्णतया मनाई है। वे संकेत पूर्वक आहार नहीं ले सकते। आप निश्चय समझिये, जो भोजन मन-वचन-काय द्वारा स्वयं किया, एवं पर से कराया गया, व पर को करते देख 'अच्छा है' इत्यादि अनुमोदना पूर्वक होगा, दिग बर मुनि उस भोजन को कदापि न करेंगे। उनके योग्य वही भोजन हो सकता है, जो प्रासुक होगा तथा उनके उद्देश्य से न बना होगा तथा विधिपूर्वक होगा। दिग बर मुनि अतिथि हुआ करते हैं। उनके आहार की कोई तिथि निश्चित नहीं रहती। मुनि निमंत्रण-आमंत्रणपूर्वक भी भोजन नहीं कर सकते। आप विश्वास रखिए, जो मुनि निश्चित तिथि में निमंत्रणपूर्वक आहार करनेवाले हैं, कृत, कारित, अनुमोदना का कुछ भी विचार नहीं रखते, वे मुनि नहीं हैं, जिह्वा के लोलुपी हैं एवं वज्र मूर्ख हैं। यदि मेरे योग्य जैनशास्त्र के अनुसार कोई कार्य हो तो मैं कर सकता हूँ॥ 59-64॥ (टीकाकार- आचार्य अभिनंदनसागर महाराज)

सर्वार्थसिद्धि (7/21) की टीका में इस प्रकार कहा गया है- ''संयम का विनाश न हो, इस विधि से जो आता है वह अतिथि है या जिसके आने की कोई तिथि नहीं, उसे अतिथि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसके आने का कोई काल निश्चित नहीं है उसे अतिथि कहते हैं।''

उपर्युक्त आगम-कथनानुसार किसी भी मुनि को निमंत्रणपूर्वक नहीं जाना चाहिए तथा किसी भी दाता को निमंत्रण देने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

सित बर, 2009

174. जो साधु भावलिंगी नहीं, वह किसी भी गति में जा सकता है

जिज्ञासा- यदि कोई द्रव्य से निर्ग्रन्थ हो तथा भावों में कुछ गिरावट आ जाये, तो या वह नीच गतियों में जा सकता है?

समाधान- शास्त्रों में ऐसे बहुत से प्रमाण मिलते हैं, जिनके अनुसार भावलिंग रहित साधुओं की नीच गति भी कदाचित् संभव है। कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं-

1. श्री भावपाहुड गाथा 74 में इसप्रकार कहा है-

भावो वि दिव्वसिवसु€खभायणो भाववज्जिओ सवणो।
क ममलमलिणचिŽो तिरियालयभायणो पावो॥

अर्थ- भाव तथा द्रव्य दोनों लिङ्गों का धारक मुनि स्वर्ग और मोक्ष स बन्धी सुखों का भाजन होता है तथा भावलिङ्ग से रहित पापी मुनि कर्मरूपी मल से मलिन चिŽा होता हुआ तिर्यंच गति का पात्र होता है।

2. श्री सूत्रपाहुड़ ग्रंथ में इसप्रकार कहा है-

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमिŽां ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तŽो पुण जाइ णिग्गोदं॥ 18॥

अर्थ- नग्न-मुद्रा के धारक मुनि तिलतुष मात्र भी परिग्रह अपने हाथों में ग्रहण नहीं करते। यदि थोड़ा बहुत ग्रहण करते हैं, तो निगोद जाते हैं।

3. श्री भावपाहुड़ ग्रंथ में इसप्रकार कहा है-

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइ सो€खाइं।
दु€खाइं दव्वसवणा णरतिरिकुदेवजोणीए॥ 98॥

अर्थ- भाव मुनि, कल्याणों की पर परा से युक्त सुखों को प्राप्त होते हैं अर्थात् तीर्थंकर होकर गर्भ जन्मादि कल्याणकों से युक्त परम सुख को प्राप्त होते हैं और द्रव्य मुनि मनुष्य, तिर्यंच तथा कुदेव योनि में दु:खों को प्राप्त होते हैं।

4. श्री सागारधर्मामृत के आठवें अध्याय की गाथा 53 में इसप्रकार कहा है-

€वापि चेत्पुद्गले सक्तो म्रियेथास्तद् ध्रुवं चरेः।
तं कृमीभूय सुस्वादुचिर्भटासक्तभिक्षुवत्॥ 53॥

अर्थ- हे क्षपकराज! यदि तू किसी भी भोजनोपयोगी पदार्थ में आसक्ति रखकर मरेगा, तो निश्चय से स्वादिष्ट खरबूजे में आसक्ति रखकर मरनेवाले संन्यासोन्मुख भिक्षुक के समान, उसी पदार्थ में कीट होकर उत्पन्न होगा।

भावार्थ- हेमसेन नामक मुनिराज का आयु का अन्तिम समय चल रहा था। उस दिन उस चैत्यालय में भगवान् की प्रतिमा के सामने एक पका हुआ खरबूजे का फल चढ़ाया हुआ रखा था। खरबूजा इतना पका हुआ था कि उसकी सुगन्ध मुनिराज के पास तक पहुँची और उनका मन उस फल की ओर ललचा गया। इस फलप्राप्ति की आर्ा चिन्ता में ही विचारे मर गए और मरकर तत्क्षण उस फल के अन्दर कीड़े की पर्याय में उत्पन्न हो गए।

अ टूबर, 2009

175. पुलाकादि मुनि भावलिङ्गी ही होते हैं

जिज्ञासा- €या पुलाक आदि पाँचों मुनि भावलिंगी होते हैं, ऐसा कोई आगम प्रमाण है?

समाधान- श्री राजवार्तिक / अध्याय 9 / 46 के वार्तिक नं0 9 में इस प्रकार कहा हैं- **स यग्दर्शनं निर्ग्रन्थरूपं च भूषावेशायुधविरहितं तत्सामान्ययोगात् सर्वेषु हि पुलाकादिषु निर्ग्रन्थशर्ददो युक्तः।**

अर्थ- भूषा, वेश और आयुध से रहित निर्ग्रन्थ रूप और शुद्ध स यग्दर्शन के कारण पुलाक आदि सभी मुनियों में निर्ग्रन्थता समान है अर्थात् सभी स यग्दृष्टि हैं और भूषा, वेश, आयुध से रहित हैं अत: इन सबके लिए निर्ग्रन्थ श द का प्रयोग उचित है।

राजवार्तिक 9 / 46 के 11वें वार्तिक में इस प्रकार कहा गया है- **यदि रूपं प्रमाणमन्यस्मिन्नपि सरूपे निर्ग्रन्थ व्यपदेशः प्राप्नोतीति, तन्न, किं कारणम्? दृष्ट्यभावात्। दृष्ट्या सह यत्र रूपं तत्र निर्ग्रन्थव्यपदेशः न रूपमात्र इति।**

अर्थ- प्रश्न- यदि भग्नव्रत में निर्ग्रन्थ शर्दद का प्रयोग होता है, वस्त्रादि नहीं होने से, तब तो किसी भी नग्न मिथ्यादृष्टि में भी निर्ग्रन्थ श द का प्रयोग करना चाहिए? उ ार- जिस किसी नग्न में निर्ग्रन्थ श द का

प्रयोग नहीं किया जा सकता, €योंकि उनमें स यग्दर्शन नहीं पाया जाता है। जिनमें स यग्दर्शन सहित निर्ग्रंथपना है, वही निर्ग्रन्थ है। केवल नग्न रूप मात्र ही निर्ग्रन्थ नहीं है।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थों के जो पुलाक, बकुश आदि पाँच भेद हैं, वे सभी स यग्दृष्टि भावलिंगी होते हैं।

नव बर, 2009

176. पार्श्वस्थ आदि साधुओं के लक्षण

जिज्ञासा- पार्श्वस्थादि पाँच प्रकार के भ्रष्टाचारी साधुओं की या परिभाषा है?

समाधान- पार्श्वस्थादि साधुओं के श्री मूलाचार / 595 में पाँच भेद इस प्रकार कहे हैं-

पासत्थो य कुसीलो संसžोसण्ण मिगचरिžो य।
दंसणणाणचरिžो अणिउžा मंदसंवेगा॥

अर्थ- पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अपसंज्ञक और मृगचरित्र ये पाँच प्रकार के साधु, दर्शन-ज्ञान और चारित्र के अनुष्ठान से शून्य रहते हैं एवं तीर्थ और धर्म आदि में हर्ष भावरूप मंद संवेगवाले हैं। इनकी परिभाषा, टीका में इस प्रकार कही गई हैं-

1. जो वसतिकाओं में आसक्त हैं, उपकरणों को बनाते रहते हैं, मोह की बहुलता वाले हैं, असंयत जनों की सेवा करते हैं और संयमीजनों से दूर रहते हैं, वे पार्श्वस्थ कहलाते हैं।

2. जो क्रोधादि कषायों से कलुषित रहते हैं, व्रत- शील और गुणों से हीन हैं, संघ के साधुओं की निन्दा करने में कुशल रहते हैं, वे कुशील कहे जाते हैं।

3. जो अच्छी तरह से असंयत गुणों में आस€त हैं, वैद्य शास्त्र, मंत्र शास्त्र और ज्योतिष शास्त्र में कुशल होने से उनमें आसक्ति रखते हैं अर्थात् हमेशा इन्हीं के प्रयोग में लगे रहते हैं और राजा आदिकों की सेवा करते हैं, उनको संसक्त मुनि कहते हैं।

4. जो जिनवचनों को नहीं जानते हुए चारित्ररूपी धुरा को छोड़ चुके हैं, ज्ञान और आचरण से भ्रष्ट हैं, तेरह प्रकार की क्रियाओं में आलसी हैं, जिनका मन सांसारिक सुखों में लगा हुआ है, वे अपसंज्ञक कहलाते हैं।

5. जो आचार्य के संघ को छोड़कर एकाकी विहार करते हैं, जिनवचनों की निन्दा करते हैं, आचार्यों का उपदेश नहीं मानते हैं, स्वच्छन्द आचरण करते हैं, तप और श्रुत की विनय नहीं करते हैं तथा धैर्यरहित होते हैं, वे मृगचरित्र मुनि कहलाते हैं।

ये पाँचों ही प्रकार के मुनि हमेशा ही वंदना करने योग्य नहीं हैं, ऐसा समझना चाहिए।

अप्रैल-मई, 2010

177. तीर्थङ्करों के छेदोपस्थापना चारित्र नहीं होता है

जिज्ञासा- तीर्थंकरों के छेदोपस्थापना चारित्र होता है या नहीं?

समाधान- तीर्थंकर प्रभु के छेदोपस्थापना चारित्र नहीं होता है। श्री उžारपुराण पर्व 74/314 में इसप्रकार कहा है-

चतुर्थज्ञाननेत्रस्य, निसर्गबलशालिनः।
तस्माद्यमेवचारित्रं, द्वितीयंतुप्रमादिनाम्॥ 314॥

अर्थ- मनःपर्यय ज्ञानरूपी नेत्र को धारण करने वाले और स्वाभाविक बल से सुशोभित, उन तीर्थंकर प्रभु के पहला सामायिक चारित्र ही था, €योंकि दूसरा छेदोपस्थापना चारित्र प्रमादी जीवों के होता है।

2. श्री आदिपुराण 20/171 में भी कहा है:-

अप्रतिक्रमणे धर्मे जिनाः सामायिका ह्वये।
चरन्त्येकयमे प्रायश्चतुर्ज्ञान विलोचनाः॥ 171॥

अर्थ- मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करने वाले तीर्थंकर परमदेव प्रायः प्रतिक्रमण रहित एक सामायिक नाम के चारित्र में ही रत रहते हैं।

भावार्थ:- तीर्थंकर भगवान् के मुनि अवस्था में किसी प्रकार का दोष नहीं लगता। इसलिये उनको छेदोपस्थापना चारित्र धारण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती ।वे केवल सामायिक चारित्र ही धारण करते हैं।

सित बर, 2007

178. यथा यात चारित्र की पूर्णता कहाँ

जिज्ञासा- तेरहवें गुणस्थान में होनेवाला यथा यात चारित्र पूर्ण होता है या उसमें कुछ कमी रहती है?

समाधान- आपकी उपर्युक्त जिज्ञासा को हमें दो तरह से समझना होगा। 1. यथा यातचारित्र पूर्ण है तो किस दृष्टि से? 2. उसमें अपूर्णता है तो किस दृष्टि से?

1. 11वें से 14 वें गुणस्थान तक होनेवाले यथा यातचारित्र में चारित्रमोहनीय का अभाव होने के कारण कोई जघन्य या उत्कृष्ट भेद नहीं होता है, जैसा कि श्री षट्खण्डागम 7 / 2 में कहा है-

जहा€खादबिहारसुद्धिसंजदस्स अजहण्ण-अणु€क-स्सिया चरिŽालद्धी अणंतगुणा॥174॥
कषायाभावेण बड्ढिहाणिकारणाभावादो। तेणेवकारणेण अजहण्णा अणु€कस्सा च।

अर्थ- यथा यातविहारशुद्धिसंयत की अजघन्यानुत्कृष्टचारित्रलŽध अनन्तगुणी है। कषाय का अभाव हो जाने से उसकी वृद्धि-हानि के कारण का अभाव हो गया है। इसी कारण वह अजघन्यानुत्कृष्ट भी है। अर्थात् 11वें गुणस्थान से 14वें गुणस्थान तक इसमें जघन्य व उत्कृष्ट भेद नहीं होता।

2. श्रीधवल पु06, पृष्ठ-286 पर इसप्रकार कहा है- **'एदं जहा€खादसंजमट्ठाणं उवसंत-खीण-सजोगि-अजोगीणमे€कं चेव जहण्णु€कस्सवदिरिŽं होदि, कसायाभावादो।'**

अर्थ- यह यथा यात संयमस्थान उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली, इनके एक ही स्थान जघन्य व उत्कृष्ट भेदों से रहित होता है, €योंकि इन सबके कषायों का अभाव है।

3. श्री राजवार्तिक 9/18/14 में इसप्रकार कहा है-

'ततो यथा यातचारित्रस्य विशुद्धिः स पूर्णः प्रकर्षा-प्रकर्षविरहिता अनन्तगुणा।'

अर्थ- यथा यात चारित्र की पूर्ण विशुद्धि सर्व चारित्रों की अपेक्षा अनन्तगुणी है। इस चारित्र में जघन्य और उत्कृष्ट भेद नहीं है अर्थात् यह प्रकर्षाप्रकर्ष विभाव से रहित है।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों से स्पष्ट है कि 11वें गुणस्थान से 14वें गुणस्थान तक कषायों का उपशम अथवा क्षय होने के कारण उत्पन्न यथा यातचारित्र एकसा है, स पूर्ण है और भेदरहित है। अब दूसरी दृष्टि से विचार करते हैं-

बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 23 की टीका में इसप्रकार कहा है- ''यहाँ शिष्य पूछता है कि केवलज्ञान की उत्पत्ति होने पर मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रय की परिपूर्णता हो गई, तो उसी क्षण मोक्ष होना चाहिए। अत: सयोगी और अयोगी जिन नामक दो गुणस्थानों का काल नहीं रहता है। इस शंका का उत्तर देते हैं- 'यथा यातचारित्र तो हुआ परन्तु परमयथा यातचारित्र नहीं है। यहाँ दृष्टान्त है- जैसे कोई मनुष्य चोरी नहीं करता है, तो भी उसे चोर के संसर्ग का दोष लगता है। उसी प्रकार सयोग केवलियों के चारित्र का नाश करनेवाले चारित्रमोह के उदय का अभाव होने पर भी निष्क्रिय शुद्धात्म-आचरण से विलक्षण तीन योग का व्यापार, चारित्र में दोष उत्पन्न करता है तथा तीन योग का जिसको अभाव है, उस अयोगी जिन को, चरम समय के अतिरिक्त, शेष चार अघाति कर्मों का तीव्र उदय चारित्र में दोष उत्पन्न करता है। चरम समय में मंद उदय होने पर चारित्र में दोष का अभाव होने से, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।''

2. श्लोकवार्तिक 1/85-86 में भी इस प्रकार कहा है- ''यथा यातचारित्र क्षायिकपने से पूर्ण है, तथापि अघाति कर्मों को सर्वथा नष्ट करके मुक्ति रूप कार्य को उत्पन्न करने की अपेक्षा अपूर्ण है, वह शक्ति 14 वें गुणस्थान में समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान से उत्पन्न होती है।

इस प्रकार यथा यातचारित्र की पूर्णता तथा अपूर्णता के संबंध में उपर्युक्त दोनों प्रकार की अपेक्षाओं से विचार करना उचित है।

अगस्त, 2009

179. आचार्य आदि भी भगवान् हैं

जिज्ञासा — क्या हम आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठी को भगवान् कह सकते हैं ?

समाधान — क. श्री धवला पुस्तक क्क पृष्ठ फ्ब पर भगवान् का लक्षण इस प्रकार कहा है- **'ज्ञानधर्ममाहात्म्यानि भग:, सोऽस्यास्तीति भगवान्।'**

अर्थ - ज्ञान, धर्म के माहात्म्यों का नाम भग है, वह जिनके है, वह भगवान् कहलाते हैं।

ख. मूलाचार गाथा क्म में इस प्रकार कहा है-

भिक्खं वक्कं हिययं सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।
एसो सुट्ठिद साहू भणिओ जिण सासणे भयवं॥ क्म॥

अर्थ - जो आहार, वचन और हृदय का शोधन करके नित्य ही आचरण करते हैं, वे ही साधु हैं। जिन शासन में सुस्थित साधु भगवान् कहे गये हैं।

फ. संस्कृत के सर्वमान्य आप्टे शब्दकोष में भगवत् शब्द के अर्थ में यशस्वी, प्रसिद्ध, स मानित, श्रद्धेय, दिव्य, पवित्र आदि विशेषण कहे गये हैं।

भगवान् शब्द के उपर्युक्त लक्षणों को दृष्टि में रखते हुए आचार्य, उपाध्याय एवं साधुपरमेष्ठी को भगवान् कहना उचित है।

फरवरी, 2008

180. ध्याता तो वास्तव में मुनि ही होते हैं, गृहस्थ नहीं

जिज्ञासा- हमारा मन जाप आदि देने में नहीं लगता है। अच्छा ध्याता बनने के लिए हमें या करना चाहिये?

समाधान- आप गृहस्थ अवस्था में हैं। गृहस्थ अवस्था में ध्यान का अ यास तो किया जा सकता है पर ध्यान नहीं हो पाता है। इस स बन्ध में आचार्यों ने इस प्रकार कहा है-

1. श्री ज्ञानार्णव में इस प्रकार कहा है-

खपुष्पमथवा शृंगं खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे॥ 4/17॥

अर्थ- आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते हैं। कदाचित् किसी देश व काल में इनका होना स भव हो सकता है, परन्तु **गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि होनी तो किसी देश व काल में स भव नहीं है।**

2. श्री भावसंग्रह (श्री वामदेव विरचित) में इस प्रकार कहा है-

ये वदन्ति गृहस्थानामस्ति ध्यानं निराश्रयम्।
जैनागमं न जानन्ति दुर्धियः ते स्ववंचकाः॥ 625॥

अर्थ- जो गृहस्थों के निराश्रय ध्यान कहते हैं, वे दुर्बुद्धि अपने आपको ठगनेवाले हैं तथा जैनागम को नहीं जानते हैं।

इसका मु य कारण यह है कि गृहस्थी को हमेशा घर तथा व्यापार के सैकड़ों विकल्प लगे रहते हैं। अतः वह जब भी ध्यान करने बैठता है, तब वे सब विकल्प सामने आते जाते हैं। जिस कारण उसे ध्यान नहीं हो पाता।

आचार्यों ने ध्यान करनेवाले (ध्याता) के गुणों के स बन्ध में इस प्रकार कहा है-

1. श्री द्रव्यसंग्रह गाथा की टीका में कहा है-

वैराग्यं त ववज्ञानं, नैर्ग्रन्थ्यं समचि ाता।
परीषहजयश्चेति पंचैते ध्यानहेतवः।।

अर्थ- वैराग्य, तǎवों का विशेष ज्ञान, निर्ग्रन्थपना, समता परिणाम तथा परीषहों को विजय करना ये पाँच ध्यान के हेतु हैं। अर्थात् इन पाँच हेतुसहित श्रेष्ठ ध्यान स भव होता है।

2. श्री ज्ञानार्णव में इस प्रकार कहा है-

मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शांतचिǎो वशी स्थिरः।
जिताक्षः संवृतो धीरो, ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते॥ 4/6॥

अर्थ- जो मोक्षप्राप्ति का इच्छुक हो, संसार से विरक्त हो, शान्तचि ा हो, मन को वश में करनेवाला हो, जिसका शरीर व आसन स्थिर हो, जितेन्द्रिय हो, चि ा संवर युक्त हो अर्थात् विषयों में उलझा हुआ न हो, धीर अर्थात् उपसर्ग सहने की शक्तिवाला हो, ऐसे ध्याता की शास्त्रों में प्रशंसा की गई है।

उपर्युक्त ध्याता के गुणों का सद्भाव मुनिराज के ही स भव है। गृहस्थ अवस्था में अच्छा ध्यान लगाने के लिये जिनाज्ञा पर श्रद्धान का होना, साधु का गुण कीर्तन करनेवाला, दान, श्रुत, शील, संयम में तत्पर, प्रसन्नचिŠा, शुभयोगी, शास्त्रा यासी, स्थिरचिŠा, वैराग्य की भावना से युक्त, निरोग शरीर, विषयों की लंपटता तथा निष्ठुरता का अभाव आदि गुणों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है।

अ टूबर, 2010

181. गृहस्थों को आत्मध्यान नहीं होता

जिज्ञासा— €या गृहस्थों के आत्मा का ध्यान नहीं होता?

समाधान— क. उपर्युक्त प्रश्न के समाधान में आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित मोक्षपाहुड़ की गाथा नं. ख अत्यंत उपयोगी एवं विचारणीय है जो इस प्रकार है—

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं।
वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं॥

अर्थ— अनंत उत्कृष्ट ज्ञान तथा अनंत उत्कृष्ट दर्शन से युक्त, निर्मल स्वरूप उन सर्वज्ञ वीतराग देव को नमस्कार कर मैं परम योगियों के लिए परम पदरूप परमात्मा का कथन करूँगा।

इस गाथा की टीका में श्री श्रुतसागर जी सूरि ने जो कहा है उसका हिन्दी अर्थ इस प्रकार है— ''मैं परम योगियों अर्थात् दिग बर गुरुओं के लिए यह कथन करूँगा, इस प्रतिज्ञा वा€य से यह सूचित होता है कि परमात्मा का ध्यान मुनियों के ही घटित होता है तपे हुए लोहे के गोले के समान गृहस्थों के परमात्मा का ध्यान संगत नहीं होता। उनके लिए तो दान, पूजा, पर्व के दिन उपवास करना, स य€त्व का पालन करना तथा शीलव्रत की रक्षा करना आदि गृहस्थ धर्म का उपदेश ही कार्यकारी होता है। वे आगे लिखते हैं—

''ये गृहस्था अपि सन्तो मनागात्मभावनामासाद्य वयं ध्यानिन इति ब्रुवते ते जिनधर्म विराधका मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्याः। अयत्याचारा गृहस्थधर्मादपि पतिता उभयभ्रष्टा वेदितव्याः।''

अर्थ— जो गृहस्थ होते हुए भी तथा रंचमात्र आत्मा की भावना को न पाते हुए भी यह कहते हैं कि हम तो आत्मा का ध्यान करते हैं वे जिनधर्म की विराधना करने वाले मिथ्यादृष्टि हैं। ऐसे जीव मुनियों के आचार से तो रहित हैं ही, गृहस्थ धर्म से भी पतित होकर उभयभ्रष्ट (दोनों से भ्रष्ट) होते हुए पापी हो जाते हैं।

ख. आचार्य शुभचंद्र ने भी ज्ञानार्णव में इस प्रकार कहा है—

खपुष्पमथवाशृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे॥ ब-क्त्र॥

अर्थ— आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते हैं। कदाचित् किसी देश व काल में इनके होने की प्रतीति हो सकती है, परन्तु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि होनी तो किसी देश व काल में संभव नहीं है।

फ. श्री देवसेनसूरि विरचित भावसंग्रह में इस प्रकार कहा है—

जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहत्थाणणिच्चलंझाणं।
सुद्धं च णिरालंवं ण मुणइ सो आयमो जइणो॥ फ्त्ख॥

अर्थ— गृहस्थियों के निश्चल, शुद्ध एवं निरालंब धर्मध्यान होता है ऐसा जो कहता है वह आगम को नहीं मानता।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि गृहस्थों के आत्मध्यान मानना आगम स मत नहीं है।

जनवरी, 2008

182. आतापन योग वर्तमान में स भव नहीं

जिज्ञासा- आतापन योग या है ? या वर्तमान में यह किया जा सकता है ?

समाधान- श्री अनगारधर्मामृत 7/32 की टीका में इस प्रकार कहा है-

''आतपनमातापनं ग्रीष्मे गिरिशिखरेऽभिसूर्यमवस्थानम्।''

अर्थ- ''गर्मी में पर्वत के शिखर पर सूर्य के सामने खड़े होकर ध्यान करना आतापन नामक काय लेश तप है।'' चतुर्थकाल में तो आतापनयोग में स्थित साधुओं के बहुत से प्रमाण प्रथमानुयोग के शास्त्रों में उपलŹध होते हैं। इस पंचमकाल में ी चा.च.आ.शान्तिसागर जी महाराज आदि के द्वारा भी आतापनयोग किये जाने की कथाएँ चरित्र-ग्रन्थों में पाई जाती हैं। श्री भगवतीआराधना में आतापन योग के अतिचारों का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है - ''उष्ण से पीड़ित होने पर ठण्डे पदार्थों के संयोग की इच्छा करना, यह मेरा संताप कैसे नष्ट होगा ऐसी चिन्ता करना, पूर्व में अनुभव किये गये शीतल पदार्थों का स्मरण होना, कठोर धूप से द्वेष करना, शरीर को बिना झाड़े ही शीतलता से एकदम गर्मी में प्रवेश करना तथा शरीर को पिच्छी से स्पर्श करके ही धूप से शरीरसंताप होने पर छाया में प्रवेश करना इत्यादि आतापनयोग के अतीचार हैं।

अप्रैल, मई, जून, 2006

183. केशलोंच सिर, दाढ़ी व मूँछ के बालों का ही होता है

जिज्ञासा- या केशलोंच के समय मुनिराज शिर, दाड़ी एवं मूँछ के अलावा अन्य स्थान के बाल भी नोंच सकते हैं या नहीं ?

समाधान- केशलोंच के संबंध में श्री मूलाचार गाथा 29 में इस प्रकार कहा है-

वियतियचउ€कमासे लोचो उ€कस्समज्झिमजहण्णो।
सपडि€कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो॥

अर्थ- प्रतिक्रमण सहित दिवस में, दो, तीन, चार मास में उŹाम, मध्यम, जघन्यरूप से केशलोंच उपवास-पूर्वक ही करना चाहिए।

इसकी टीका में आ0 वसुनंदि ने इस प्रकार कहा है-

हस्तेन मस्तककेशश्मश्रूणामपनयनं जीवस मूर्च्छ-नादिपरिहारार्थं रागादिनिराकरणार्थं स्ववीर्य-प्रकटनार्थं सर्वोत्कृष्ट-तपश्चरणार्थं लिंगादिगुणज्ञापनार्थं चेति।

अर्थ- स मूर्च्छनादि जीवों के परिहार के लिये अर्थात् जूँ आदि उत्पन्न न हो जावें इसलिए, शरीर से रागभाव आदि को दूर करने के लिए, अपनी शक्ति को प्रकट करने के लिए, सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण के लिए और निर्ग्रन्थ मुद्रा आदि के गुणों को बतलाने के लिए, हाथ से मस्तक तथा दाड़ी, मूँछों के केशों का उखाड़ना लोंच कहलाता है।

श्री भगवती आराधना गाथा 89 में इस प्रकार कहा है—

प्रादक्षिणावर्तः केशश्मश्रूविषयः हस्ताङ्गुलीभिरेव संपाद्य ....॥

अर्थ— मस्तक, दाढ़ी, मूँछ के केशों का लोंच हाथों की अंगुलियों से करते हैं। दाहिने बाजू से आरंभ कर बायें तरफ आवर्तरूप करते हैं।

श्री अनगारधर्मामृत अध्याय 9/86 में भी इसी प्रकार कहा है-

उपर्युक्त सभी प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि केशलोंच में, मस्तक, दाढ़ी एवं मूँछ के बालों का ही लोंच किया जाता है अन्य का नहीं।

फरवरी, 2009

184. दीक्षा के उपरान्त अन्तर्मुहूर्त में मोक्षप्राप्ति स भव

जिज्ञासा- €या दीक्षा लेकर परम ध्यान के प्रताप से अंतर्मुहूर्त में ही निर्वाण प्राप्ति संभव है ?

समाधान- पू. आ. विद्यासागर जी महाराज अपने प्रवचनों मेंं बहुतबार श्री धवला जी के अनुसार उपदेश देते हैं कि एक जीव को मोक्षप्राप्ति से पूर्व द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, तथा ग्यारहवें गुणस्थान में जाना आवश्यक नहीं है। कोई एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव **मोक्ष जाने से अंतर्मुहूर्त पूर्व ही प्रथम गुणस्थान से सीधा सप्तम में आकर,** हजारों बार छठे- सातवें गुणस्थान में अवरोहण-आरोहण करके, अपने वेदक स य€त्व को क्षायिक बनाकर, क्षपक श्रेणी मांड़कर **अंतर्मुहूर्त मात्र काल में मोक्ष प्राप्त कर सकता है।**

1. श्री भगवती आराधना गाथा 2022 में भी इस प्रकार कहा है-

सोलस तित्थयराणं, तित्थुप्पण्णस्स पढ़म दिवसं म।
सामण्णणाण सिद्धी, भिण्णमुहुॅोण संपण्णा॥

अर्थ- भगवान् ऋषभदेव से शांतिनाथ तीर्थंकर तक सोलह तीर्थंकरों के तीर्थ की उत्पॅा होने के प्रथम दिन ही बहुत से साधु दीक्षा लेकर एक अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान को प्राप्त कर मुक्त हुये।

2. श्री परमात्म प्रकाश में भी कहा है-

अप्पाझायहि णि मलउ, किं बहुएँ अण्णेण।
जो झायंतहँ परमपउ, लॅभइ ए€क-खणेण॥ 1/97॥

अर्थ- अब और अधिक कहने से €या ? एक निर्मल आत्मा का ध्यान करो, जिससे ध्यान करनेवाले को एकक्षण में परमपद की प्राप्ति हो जाती है।

इसकी टीका में ब्रह्मदेव सूरि लिखते हैं-

''समस्त शुभाशुभ संकल्प विकल्प रहितेन स्वशुद्धात्मतॅव ध्यायेनान्तर्मुहूर्तेन मोक्षो ल यते।''

अर्थ- समस्त शु ा-अशुभ संकल्प-विकल्प रहित निज शुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यान करने से अंतर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

अगस्त, 2007

185. आर्यिकाओं को वन्दामि कहकर प्रणाम करना उचित है

जिज्ञासा- €या शास्त्रों में आर्यिकाओं को विनय से 'वन्दामि' करने का उल्लेख मिलता है ?

समाधान- शास्त्रों में आर्यिकाओं की वन्दना करते समय 'इच्छाकार' तथा 'वन्दामि' इन दोनों शŽदों का उल्लेख मिलता है। संस्कृत भावसंग्रह (आ. वामदेव) तथा सु ापाहुड़ (आ. कुन्दकुन्द) में आर्यिकाओं को 'इच्छाकार' करने का विधान पाया जाता है जबकि 'वन्दामि' करने के भी निम्न प्रमाण उपलŽध होते हैं।

1. सागारधर्मामृत (अध्याय 6/12) में पं. आशाधर जी ने 'ततश्चावर्जयेत् ..... ' इस श्लोक की स्वोपज्ञटीका करते हुए लिखा है -

''यथा हि-यथायोग्य प्रतिपत्या। तत्र मुनीन् 'नमोऽस्तु' इति।
आर्यिका 'वन्दे' इति। श्रावकान् 'इच्छामि' इत्यादि प्रतिपत्या।।''

अर्थ- वहाँ मुनियों को नमोऽस्तु' आर्यिका को 'वन्दे' तथा श्रावकों को 'इच्छामि' इत्यादि कहकर।

2. 'नीतिसार समुच्चय' (श्री इन्द्रनंदिसूरि) में इस प्रकार कहा है -

निर्ग्रन्थानां नमोस्तु स्यादार्यिकाणाञ्च वन्दना।
श्रावकस्यो ामस्योच्चैरिच्छाकारोऽभिधीयते॥ 51॥

अर्थ- मुनियों को 'नमोऽस्तु', आर्यिकाओं को 'वन्दामि' तथा उ ाम श्रावकों को 'इच्छाकार' अथवा टीकास्वोपज्ञ के अनुसार इच्छामि कहना चाहिये।

3. सिरिवालचरिउ (कविवर नरसेनदेव) में पृष्ठ 4 पर इस प्रकार कहा है -

गणहरणिग्गथहँ पणवेप्पिणु अज्जियाहँ वदणय करेप्पिणु।
खुल्लय इच्छायारु करेप्पिणु, सावहाणु सावय पुंछेप्पिणु॥

अर्थ- मुनियों, गणधरों, और निर्ग्रन्थों को प्रणाम कर, आर्यिकाओं को वंदना कर, क्षुल्लकों को इच्छाकार कर और सावधान होकर श्रावकों से पूंछकर।

इनके अतिरिक्त 'धर्मरत्नाकर' (आ. जयसेन) में भी आर्यिका को 'विनयक्रिया' का भी उल्लेख है।

नव बर, 2006

186. आर्यिका को एकल विहार करने की अनुमति नहीं

जिज्ञासा- €या आर्यिका का अकेली विहार करना आगम स मत है ?

समाधान- इस प्रकरण में आगम के नि न प्रसंग विचारणीय हैं-

क. मूलाचार प्रदीप में इस प्रकार कहा है-

यतो यथात्र सिद्धान्नं भोक्तुं सुखेन श€यते।
तथा चास्वामिकां नारीं स्वाश्रमे स्वयमागताम्॥ ख्फ्फ॥
अतो जातु न विद्येत €वचित्काले निजेच्छया।
एकाकिन्यार्यिकायाश्च विहारो गमनादिकः॥ ख्फ्ब॥

अर्थ- जिस प्रकार पकाया हुआ भात आसानी से खाया जा सकता है, उसी प्रकार बिना स्वामी की स्त्री यदि स्वयं अपने आश्रम में या घर में आ जाय, तो वह आसानी से भोगी जा सकती है। इसलिये **अकेली**

आर्यिका को अपनी इच्छानुसार किसी भी समय विहार और गमन आदि कभी नहीं करना चाहिये।

ख. श्री आचारसार में इस प्रकार कहा है-

द्व्याद्याः समं वसन्त्यार्या गृहस्थासंकराश्रये।
तद्गृहानतिदूरातिसमीपेऽवद्यवर्जिते॥ ख/त्त्ख॥

अर्थ- गृहस्थों के घर से अत्यन्त निकट भी नहीं और अत्यन्त दूर भी नहीं, सावद्यरहित गृहस्थों से अमिश्रित गृह में दो आदि के साथ आर्यायें रहती हैं।

भावार्थ- जो असंयमीजनों के आवास से रहित हो, श्रावकों के घर से अत्यंत दूर ाी नहीं और अत्यन्त समीप भी नहीं हो तथा जो सर्वसावद्य से रहित हो, ऐसे स्थान में दो तीन आदि आर्यिकाएँ मिलकर रहें। अकेली नहीं रहें। आर्यिकाओं का अकेला रहना, आगम में निषिद्ध है। (टीका आ. सुपार्श्वमती जी)।

फ. श्री मूलाचार में इस प्रकार कहा है-

तिण्णि व पंच व सट्ठा व अज्जाओ अण्णमण्णर€खाओ।
थेरीहिं सहंतरिदा भि खाय समोदरंति सदा॥ क-ब॥

अर्थ- तीन या पाँच या सात आर्यिकाएँ आपस में रक्षा में तत्पर होती हुईं वृद्धा आर्यिकाओं के साथ मिलकर हमेशा आहार के लिये निकलती हैं। **आचारवृट्टिा का तात्पर्य**-तात्पर्य यह है कि आर्यिकाएँ देववंदना, गुरुवंदना, आहार-विहार-नीहार आदि किसी भी प्रयोजन के लिये बाहर जावें, तो दो-चार आदि मिलकर तथा वृद्धा आर्यिकाओं के साथ होकर ही जायें। (टीका आ. ज्ञानमति जी)

उपर्युक्त स ाी आचारग्रंथों के अनुसार आर्यिका का अकेला रहना या अकेले विहार करना आगमस मत नहीं है।

दिस बर, 2006

189. आर्यिकाओं का गुणस्थान, पात्रपना, भक्तियाँ और चारित्र

जिज्ञासा- आर्यिकाओं का गुणस्थान, पात्रपना, भक्तियाँ तथा चारित्र कौन सा होता है ? स्पष्ट कीजिये ?

समाधान- आपकी जिज्ञासा का उ ार (आर्यिकाओं के संबंध में) इस प्रकार है-

(1) गुणस्थान- आर्यिकाओं का पाँचवा गुणस्थान होता है।

(2) पात्र- वे मध्यम पात्र की कोटि में आती हैं।

(3) भक्तियाँ- आहार के समय इनके लिये नवधा भक्ति आवश्यक नहीं होती। पाद-प्रक्षालन तथा पूजन को छोड़कर शेष 7 भक्तियाँ होती हैं। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि आर्यिका माताजी का अपने शहर में प्रवेश हो रहा हो, विहार हो रहा हो तो उनका पाद-प्रक्षालन या उनकी आरती उतारना आगम स मत नहीं है। यदि आर्यिका माताजी तखत आदि पर विराजमान हैं तो उनके समक्ष अर्ध्य बोलना, सामग्री चढ़ाना, आरती करना भी उचित नहीं है। इन सब बातों को समझकर आगम की मर्यादा जानकर, विवेक से कार्य करना चाहिये। यथायोग्य भक्तियों से अधिक भक्ति करके, आगम का अपलाप उचित नहीं है।

(4) चारित्र- आर्यिकाएँ संयमासंयम अर्थात् देश चारित्र की धारी होती हैं। सकलचारित्र धारी का गुणस्थान छठवाँ तथा सातवाँ होता है। इनका गुणस्थान पांचवाँ है, अतः ये देश चारित्र की धारी होती हैं।

अप्रैल, 2008

188. आर्यिकाओं को सल्लेखना के समय भी वस्त्र नहीं त्यागना चाहिये

जिज्ञासा- आर्यिका माताजी सल्लेखना के अन्त समय में दिग बर अवस्था धारण कर सकती हैं या नहीं?

समाधान- इस स बन्ध में श्री भगवती-आराधना की नि नलिखित गाथा उल्लेखनीय है-

इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा।
तं तत्थ होदि हु लिंगं परिॅामुवधिं करेंतीए॥ 80॥

अर्थ- स्त्रियों के भी जो लिंग औत्सर्गिक अथवा अन्य आगम में कहा है, वही लिंग अल्पपरिग्रह करती हुई के भक्तप्रत्या यान में होता है॥

टीकार्थ- स्त्रियों के आगम में जो लिंग कहा है, तपस्विनी स्त्रियों के औत्सर्गिक और श्राविकाओं के आपवादिक, वही लिंग उनके भक्तप्रत्या यान में भी होता है अर्थात् तपस्विनी स्त्रियों के औत्सर्गिक लिंग होता है और शेष के पुरुषों की तरह जानना। अर्थात् यदि स्त्री किसी ऐश्वर्यशाली परिवार से स बद्ध है या लज्जाशील है अथवा उसके परिवारवाले विधर्मी हैं, तो उसे एकान्त स्थान में सकल परिग्रह के त्यागरूप उत्सर्ग लिंग दिया जा सकता है। प्रश्न होता है कि स्त्रियों के उत्सर्ग लिंग कैसे स भव है? तो उसका उॅार यह है कि परिग्रह अल्प कर देने से स्त्री के उत्सर्ग लिंग होता है।

इस गाथा के विशेषार्थ में पं0 कैलासचन्द जी सिद्धान्ताचार्य ने लिखा है- ''सारांश यह है कि तपस्विनी स्त्री मृत्यु के समय वस्त्रमात्र को भी छोड़ देती है। अन्य स्त्री यदि योग्य स्थान होता है तो वस्त्र त्याग करती है। यदि वह धन-स पन्न, या लज्जाशील या मिथ्यादृष्टि परिवार से स बद्ध है, तो पुरुषों की तरह वस्त्रत्याग नहीं करती।

श्री भगवती-आराधना पर उदयपुर (राज0) में आयोजित राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी सन् 2006 में हुई थी। उसमें डॉ0 रमेशचन्द जी जैन, बिजनौर ने अपना 'उत्सर्ग और अपवाद मार्ग' आलेखवाचन किया था, जिसकी समीक्षा करते हुए पूज्य मुनि श्री सुधासागर जी महाराज ने कहा था कि इस गाथा का जो उपर्युक्त भावार्थ कहा गया है (पं0 कैलासचन्द जी सिद्धान्ताचार्य द्वारा) वह उचित प्रतीत नहीं होता। **आर्यिकाएँ आदि भी सल्लेखना के अन्तिम समय में दिग बर मुद्रा को धारण नहीं कर सकती हैं।** इस गाथा की विजयोदया टीका में श्री अपराजित सूरी ने परिग्रह अल्प कर देने के लिए तो लिखा है, परन्तु वस्त्ररहित करने के लिए नहीं लिखा। इससे यह स्पष्ट होता है कि आर्यिका आदि को भी अन्तिम समय में वस्त्ररहित नहीं करना चाहिए।

नव बर, 2010

189. वस्त्रधारी की आरती उचित नहीं है

जिज्ञासा— पंचपरमेष्ठी की आरती में ''छट्ठी ग्यारह प्रतिमाधारी, श्रावक वन्दों आनन्दकारी'' यह बोलना उचित है या नहीं ?

समाधान— पंचपरमेष्ठी की आरती में, पाँचों परमेष्ठियों की आरती करना उचित है। ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक को पंचपरमेष्ठी की आरती में कैसे समाविष्ट कर लिया गया, यह प्रश्न वास्तव में विचारणीय है।

पंचपरमेष्ठी में अरिहन्त एवं सिद्ध तो वीतरागता एवं विज्ञानता की उत्कृष्ट दशा को प्राप्त हो चुके हैं,

अत: वे तो परमपूज्य हैं ही। आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठी भी वीतरागता एवं विज्ञानता के आराधक होने तथा उनको एक देश प्राप्त कर लेने के कारण पूज्य की कोटि में आते हैं, परन्तु ग्यारह प्रतिमाधारी, ऐलक, क्षुल्लक तथा क्षुल्लिका, जिन्होंने अभी तक पाँचों पापों का भी पूर्णत: त्याग नहीं किया है, पूज्य की कोटि में कैसे आ सकते हैं ?

हमारे द्वारा पूज्य नवदेवता होते हैं। कहा भी है—

अरहंत सिद्ध साहू तिदयं जिण ध म वयण पडिमाहू।
जिणणिलया इदिराए णवदेवा दिन्तु मे बोहि॥

अर्थ- अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनधर्म, जिनवाणी, जिनप्रतिमा तथा जिनालय, ये नवदेवता हैं। वे मुझे रत्नत्रय की पूर्णता प्राप्त कराएँ।

उपर्युक्त नवदेवता ही हमारे द्वारा पूजा एवं आरती करने योग्य हैं, अन्य नहीं। ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक, इन नवदेवताओं में नहीं आते। अत: वे पूजा या आरती के योग्य नहीं हैं। 'आरती' इस श द का अर्थ संस्कृत-हिन्दी आप्टे कोश में 'प्रतिमा के समाने दीपदान या कपूर-दीपक घुमाना, आरती उतारना' लिखा है, अर्थात् प्रतिमा के सामने सायंकाल के समय दीपदान करते हुए गुणानुवाद करना आरती कहलाता है। ऐसी दशा में वीतरागता एवं अनन्तचतुष्टय से परिपूर्ण जिनप्रतिमा के समक्ष ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक की आरती उतारना कैसे उचित कहा जा सकता है ?

आचार्य कुन्दकुन्द ने दर्शनपाहुड़ की ख्वीं गाथा में **'असंजदं ण वन्दे'** कहा है, जिसका अर्थ है कि असंयमी को नमोस्तु नहीं करना चाहिए। ऐलक, आर्यिका, क्षुल्लक एवं क्षुल्लिका ये सभी संयमासंयम नामक पंचम गुणस्थानवर्ती हैं। ये संयमी भी नहीं हैं €योंकि आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि अध्याय - / क की टीका में असंयम तीन प्रकार का कहा है, अनन्तानुबन्धी का उदय, अप्रत्या यानावरण का उदय, प्रत्या यानावरण का उदय। उपर्युक्त क्क प्रतिमाधारियों को प्रत्या यानावरण कषाय का उदय होने के कारण असंयमी कहा जाता है। ऐसे असंयमी पूजा या आरती के योग्य नहीं होते। जिनवाणी-संग्रह आदि पूजा की किताबों में इनकी पूजा या आरती दृष्टिगोचर नहीं होतीं। इनको मोक्षमार्गी भी नहीं कहा जाता, €योंकि आचार्य कुन्दकुन्द ने सूत्रपाहुड़ गाथा-ख्क में **'णग्गो विमो€खमग्गो, सेसा उ मग्गया सव्वे' अर्थ—** नग्न वेश ही मोक्षमार्ग है, शेष सब उन्मार्ग है, ऐसा कहा है। ग्यारह प्रतिमाधारी उपर्युक्त सभी वस्त्रधारी होने के कारण मोक्षमार्गी नहीं हैं। अत: पूजा, आरती आदि के योग्य भी नहीं हो सकते।

उपर्युक्त सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए, विज्ञजनों को पंचपरमेष्ठी की आरती करते समय 'छट्ठी ग्यारह प्रतिमाधारी, श्रावक वन्दों आनन्दकारी' नहीं बोलना चाहिए। उसके स्थान पर, छट्ठी आरती श्री जिनवाणी... बोलना चाहिए। यही उचित मार्ग है।

दिस बर, 2008

190. मुनि या आर्यिका को गृहस्थ के घर में ठहरना उचित नहीं

जिज्ञासा- या मुनिराज या आर्यिका गृहस्थ के घरों में ठहर सकते हैं ?

समाधान- उपर्युक्त जिज्ञासा के संदर्भ में श्री मूलाचार / 357 में इसप्रकार कहा है-

तेरिि्खय माणुस्सिय सविगारियदेवि गेहि संसट्ठो।
वज्जेंति अप्पमट्ठा णिलए सयणासणट्ठाणे॥

अर्थ- अप्रमादी मुनि सोने, बैठने और ठहरने में तिर्यंचिनी, मनुष्य-स्त्री, विकार सहित देवियों और **गृहस्थों से सहित मकानों को छोड़ देते हैं।**

श्रमणाचार के उत्कृष्ट ग्रन्थ मूलाचार की उपर्युक्त गाथा के अनुसार, मुनिराज या आर्यिकाएँ उन मकानों में नहीं ठहरते हैं, जो गृहस्थों से सहित होते हैं। [] योंकि ऐसी बसतिकाओं में रहने से निर्बाध ब्रह्मचर्य का पालन, स्वाध्याय, ध्यान की सिद्धि तथा राग-द्वेष रूप परिणामों से बचना संभव नहीं हो पाता।

वर्तमान में बहुत से साधु एवं आर्यिकाएँ उपर्युक्त नियमों का उल्लंघन करते हुए देखे जा रहे हैं। वे सुविधाभोगी होने के कारण श्रावकों के बैडरूप आदि में एयरकंडीशनर आदि लगे होने से, ठहरना पसंद करते हैं। कुछ वर्ष पूर्व आगरा में कर्नाटक प्रान्त की एक आर्यिका आई थीं। उनको ठहरने के लिए मंदिर के निकट में बने हुए संत निवास को दिखाया गया, जो उन्होंने देखते ही मना कर दिया। वे आर्यिका मंदिर के पड़ौस में गईं और एक गृहस्थ के ए.सी. लगे हुए बैडरूप में, उनको बाहर हटाकर, रात्रि में ठहरीं। इसप्रकार ठहरना आगमस मत नहीं कहा जा सकता। मुनि या आर्यिका को तो सूने घर, पहाड़ी की गुफा, वृक्ष का मूल, आने-जाने वालों के लिए बनाया गया घर या धर्मशाला, शिक्षाघर आदि एकान्त स्थानों में ही ठहरना उचित कहा गया है।

जुलाई, 2009

191. व्रत प्रतिमा में प्रतिदिन स बन्धी सत्रह नियम

जिज्ञासा- दूसरी प्रतिमाधारी को भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अंतर्गत क्त्र नियम प्रतिदिन लेने होते हैं। उनको बताइये।

समाधान- भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अंतर्गत प्रतिदिन नि न क्त्र नियम लेने चाहिये -

क. आज में इतनी बार खाऊँगा।
ख. आज इतने रस ग्रहण करूँगा।
फ. पीने की वस्तु कौन-कौन और कितनी बार लूँगा।
ब. चंदन आदि का उबटन इतनी बार लगाऊँगा।
भ. फूलमाला आदि का इतनी बार प्रयोग करूँगा।
म. इलायची आदि इतनी बार खाऊँगा।
त्र. इतने गीत आदि सुनूँगा।
त्त. इतनी बार वाद्ययंत्र बजाऊँगा या सुनूँगा।
-. ब्रह्मचर्य इस प्रकार पालूँगा।
क. इतनी बार स्नान करूँगा।
क्क. इतने आभूषण पहिनूँगा।
क्ख. इतने वस्त्र पहिनूँगा।

क्फ. इतनी सवारियों का प्रयोग करूँगा।
क्ब. सोने में इतने पलंग, गद्दा आदि का प्रयोग करूँगा।
क्भ. इतने मेज कुर्सी आदि का प्रयोग करूँगा या नहीं।
क्म. फल स जी केवल इतनी लूँगा।
क्त्र. अन्य वस्तु इतने प्रकार की रखूँगा।

जनवरी, 2007

192. जहाँ व्रत पालन न हो, ऐसे स्थान पर न जावें

जिज्ञासा- मैं अपने पुत्र के साथ रहती हूँ। मैंने पूज्य आचार्यश्री से पाँच प्रतिमा ले रखी हैं। मेरे पुत्र का ट्रांसफर ऐसे स्थान पर हो गया है, जहाँ न तो मंदिर है और न कुँआ। अब मुझे या करना चाहिए?

समाधान- आपने पूज्य आचार्यश्री से जो प्रतिमा के व्रत ग्रहण किए हैं, उनका उसी रूप में पालन करना आपका क व्य हो जाता है। श्री धर्मसंग्रहश्रावकाचार में इस प्रकार कहा है—

व्रतभङ्गोऽथवा यत्र देशे न जिनशासनम्॥
€वचिद्यात्र न गन्तव्यं तदपीदं व्रतं भवेत्॥ 38॥
यत्र देशे जिनावासः सदाचारा उपासकाः।
भूरिवारीन्धनं तत्र स्थातव्यं व्रतधारिणा॥ 40॥

अर्थ- जहाँ अपना व्रतभङ्ग होता हो तथा जिस देश में जिनधर्म न हो, उस देश में कभी नहीं जाना चाहिए। इसे भी देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहते हैं॥ 38॥ जिस देश में जिनालय हो, उद्यम आचरण के धारक श्रावक हों, तथा जल एवं ईंधन की जहाँ प्रचुरता हो, उसी देश में व्रती पुरुषों को रहना चाहिए॥ 40॥

उपर्युक्त शास्त्राज्ञा के अनुसार आप यदि लिखे अनुसार स्थान पर जाती हैं, तो आपका व्रत कैसे रह पायेगा? आपको या तो जहाँ अभी रह रहीं हैं, वहाँ ही रहना चाहिए अथवा किसी महिलाश्रम में रहना उचित है। ली हुई प्रतिज्ञा को भंग करने में तो महान् दोष है। धर्मसंग्रहश्रावकाचार में कहा है—

धार्मिकः प्राणनाशेऽपि व्रतभङ्गं करोति न।
प्राणनाशः क्षणे दुःखं व्रतभङ्गश्चिरं भवे॥ 87॥

अर्थ- धर्मात्मा पुरुषों को अपने ग्रहण किये हुए व्रत का भंग कभी नहीं करना चाहिए, चाहे प्राणों का नाश ही €यों न हो जाये। €योंकि प्राणों के नाश होने से तो उसी समय दुःख होता है, परन्तु व्रतभंग होने पर चिरकाल पर्यन्त संसार में असहनीय दुःख उठाने पड़ते हैं॥ 87॥

जनवरी, 2009

193. रसों का वार से त्याग : शास्त्रों में उल्लेख नहीं है

जिज्ञासा- आजकल कुछ वृद्ध महिलाएँ एवं पुरुष किसी दिन या वार के हिसाब से क्रमपूर्वक रसों को त्याग कर भोजन करते हुये देखे जाते हैं, €या इस विधि का चरणानुयोग के शास्त्रों में उल्लेख मिलता है?

समाधान- सागारधर्मामृत, पद्मकृत श्रावकाचार, तथा दौलतरामकृत क्रियाकोष में दूध—दही, मीठा—नमक तथा घी—तेल को रस के रूप में कहा गया है, परंतु ऐसा वर्णन किसी भी शास्त्र में नहीं है कि इस दिन

यह रस छोड़कर भोजन करना चाहिए। यद्यपि इस प्रकार (जैसे रविवार को नमक नहीं खाना आदि) भोजन करना इन्द्रियों को वश में करने के लिए उचित है, परंतु इस प्रकार का उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि व्रती लोग अलग-अलग दिन भिन्न-भिन्न रसों का त्याग करेंगे तो कहीं सामूहिक भोजन के स्थान पर बड़ी असुविधा रहेगी अर्थात् उस दिन कोई नमक नहीं खायेगा और कोई घी आदि। अत: सुविधा के लिए रविवार को नमक नहीं खाना आदि व्यवस्था की एकरूपता, समाज ने स्वयं बना ली हो। यदि ऐसा भी है, तो भी इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता।

फरवरी, 2009

194. भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार किस प्रतिमाधारी के लिए

जिज्ञासा- भोगोपभोग-परिमाणव्रत के अतिचार (तǯवार्थसूत्र स्त्र/फ्भ्-सचिǯासंबंध —ˉ) में सचिǯाभक्षण को अतिचार कहा है, जब कि सचिǯाभक्षण का त्याग तो पाँचवी प्रतिमा में होता है। दूसरी प्रतिमाधारी को ये अतिचार यों कहे हैं?

समाधान- तǯवार्थसूत्र (स्त्र/फ्भ्) में भोगोपभोगपरिमाण व्रत के अतिचार इस प्रकार कहे हैं-

'सचितस बन्धसंमिश्राभिषवदु:प€वाहारा:'

अर्थ- सचि ाहार, सचि ासंबंधाहार, सचि ा-संमिश्राहार, अभिषव-आहार तथा दु:प वाहार, ये भोगोपभोगपरिमाणव्रत के पाँच अतिचार हैं। सामान्य से इनका अर्थ इस प्रकार किया जाता है- सचिǯा वस्तु खाना, सचिǯा से संबंधित वस्तु खाना, सचिǯा से मिली हुई वस्तु का भक्षण करना, गरिष्ठ आहार करना तथा अधपके अथवा अधिक पके पदार्थ का भक्षण करना, ये पाँच अतिचार हैं। इस सामान्य अर्थ को दृष्टि में रखकर ही प्रश्नकǯार्ा ने अपनी जिज्ञासा भेजी है, जो सर्वथा उचित है। इस संबंध में विभिन्न प्रमाणों के आधार से चर्चा करते है-

क. पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने तǯवार्थसूत्र की जो टीका लिखी है, उसके अंत में पं. फूलचंद जी सिद्धांतशास्त्री द्वारा भ्- प्रश्नोǯार दिये गये हैं। उपर्युक्त प्रश्न के समाधान में उन्होंने लिखा है- 'मेरे याल से एक तो जिस श्रावक के सचिǯा आहार का त्याग भी गर्भित है, उसकी प्रमुखता से ये अतिचार गिनाये हैं। दूसरे, श्रावक के घर अतिथि भी आते हैं। अत: यदि श्रावक आहार बनाते समय ये दोष उत्पन्न करता है, तो भी ये अतिचार हो जाते हैं, €योंकि इन दोषों के कारण वह आहार अतिथि के योग्य नहीं रहता।

ख. श्री राजवार्तिक में इस सूत्र की टीका करते हुये कहा है- ''जीवसहित द्रव्य को सचिǯा कहते हैं। उस जीव सहित सचि ा द्रव्य से संबंधित वस्तु को सचि ा संबंध कहते हैं। सचि ा और अचि ा दोनों मिलकर एकमेक हो जायें, परस्पर भेद नहीं रहे, वह सचि ा संमिश्र कहलाता है।

प्रश्न- सचिǯासंबंध और सचिǯासंमिश्र में कोई विशेषता नहीं है, अत: इन दोनों में एक का ही ग्रहण होना चाहिए?

उ ार-ये दोनों एक नहीं हैं, €योंकि संबंध में केवल संसर्ग मात्र की अपेक्षा है। तथा सचिǯासंमिश्र में सूक्ष्म जंतुओं से आहार ऐसा मिला होता है, जिसका विभाग करना श य नहीं है, तथा नानाजातीय द्रव्यों का समूह सूक्ष्म जन्तुओं से मिला हुआ आहार जिसमें गर्भित है, वह सचिǯासं मश्र है।

प्रश्न- उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रतवाले की सचिŽासंमिश्र में प्रवृŽि कैसे हो सकती है ?

उ रः-प्रमाद तथा मोह के कारण क्षुधा, तृषा से पीड़ित व्यक्ति की जल्दी-जल्दी में सचिŽा आदि के खाने-पीने आदि में प्रवृ ा हो जाती है।''

उपर्युक्त टीका से स्पष्ट होता है कि सचिŽा से तात्पर्य जीव सहित से है। अर्थात् जैसे- घी के डिŽबे में कोई चींटी आदि मरी पड़ी हो, उसे हटाकर (इस घी को कैसे फेंका जाय इस प्रकार लोभवशात्) प्रयोग करना, आटे आदि की मर्यादा निकल गई हो, फिर भी ख्-ब घंटे बाद तक उसका प्रयोग कर लेना, उस आटे को अन्य ताजा आटे के साथ मिलाकर भक्षण करना, इत्यादि प्रकरणों का घटित होना, प्रमाद या मोहवश संभव है। अतः दूसरी प्रतिमाधारी को इन अतिचारों का अर्थ इस तरह स्पष्ट लगा लेना चाहिये।

फ. श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गाथा फ्भ्) की टीका में भी इसी प्रकार 'सूक्ष्म प्राणी से मिला हुआ' वर्णन है।

ब. श्री आचारसार में भी इसी प्रकार कहा गया है।

भ. पं. फूलचन्द्र जी सिद्धांतशास्त्री द्वारा लिखित तŽवार्थसूत्र की टीका में भी ऐसा ही स्पष्ट लिखा है।

म. तŽवार्थसूत्र की टीका (पं. सुखलाल संघवी, श्वेता बर विद्वान् द्वारा रचित) में ''चीटी, कुंथु आदि से मिश्रित वस्तु को खाना'' इस तरह स्पष्ट लिखा है।

इस प्रकार अर्थ लगाने से दूसरी प्रतिमाधारी श्रावक के लिये ाी इन अतिचारों का औचित्य स्पष्ट हो जाता है।

मई, 2007

195. प्रतिमाधारी की वस्त्ररहित सामायिक करना आगमस मत

जिज्ञासा- €या सामायिक प्रतिमाधारी, वस्त्ररहित होकर सामायिक कर सकता है ?

समाधान- उपर्युक्त जिज्ञासा के समाधान में रत्नकरंडकश्रावकाचार का यह श्लोक द्रष्टव्य है-

चतुरावर्तत्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी॥ 139॥

अर्थ- रत्नकरण्डकश्रावकाचार की 'मानवधर्म' हिन्दी टीका के कŽार्ा पं0 भूरामल जी शास्त्री (आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज) के अनुसार चारों दिशाओं में तीन-तीन आवर्त और चार बार नमस्कार करनेवाला, **यथाजात (नग्न) रूप से अवस्थित,** ऊर्ध्वकायोत्सर्ग और पद्मासन का धारक, तीनों योगों की शुद्धिवाला, तीनों संध्याओं में वन्दना को करनेवाला, सामायिक-प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

प्रथमानुयोग में सेठ सुदर्शन के संबंध में कथा आती है कि वे अष्टमी तथा चतुर्दशी को श्मशान में वस्त्ररहित होकर सामायिक किया करते थे। इससे यह प्रमाणित है कि सामायिकप्रतिमाधारी को नग्न होकर (एकांत में) सामायिक करना आगम स मत है।

जून-जुलाई, 2008

196. क्षुल्लकों का वाहन में बैठना आगमस मत नहीं

जिज्ञासा— ? या क्षुल्लक मोटरकार या ट्रेन आदि सवारी में बैठ सकते हैं ?

समाधान— 20वीं शताŽदी के उच्च कोटि के विद्वान् श्री रतनचन्द्र जी मु तार से, वर्तमान के उद्भट

विद्वान् पं0 जवाहरलाल जी शास्त्री भिण्डर ने यही प्रश्न पूछा था, जिसका उǯार 'पं0 रतनचन्द्र जैन मु तार— व्यक्तित्व और कृतित्व ग्रन्थ' में पृष्ठ 719 पर इस प्रकार दिया गया है, 'क्षुल्लक समस्त परिग्रह का त्यागी होता है। यदि वह सवारी में बैठता है, तो उसके किराये के लिए उसको पैसा अर्थात् परिग्रह रखना पड़ेगा तथा उस पैसे के लिए याचना करनी पड़ेगी। दूसरे, क्षुल्लक के सर्व प्रकार के आर भ का भी त्याग है, अत: यदि वह सवारी का उपयोग करता है, तो उसको आर भस बन्धी दोष लगता है। तीसरे, सवारी में बैठकर सामायिक आदि करने से क्षेत्रपरिमाण नहीं बनता, अत: सामायिक में दोष लगता है। सारत: क्षुल्लक को सवारी में नही बैठना चाहिए।

प्रश्नोǯारश्रावकाचार में तो आठवीं आर भत्याग प्रतिमा को धारण करनेवालों के लिए भी सवारी पर चढ़ना निषेध किया है, कहा है—

रथाद्यारोहणं निन्द्यं स्थूलजीवविघातकम्।
प्राणान्तेऽपि न कर्तव्यं त्यक्तार भै: कदाचन॥ 107॥

अर्थ— आर भत्याग प्रतिमा धारण करनेवाले व्रतियों को, प्राण नष्ट होने पर भी स्थूल जीवों की हिंसा करनेवाले निंद्य रथ आदि सवारियों पर चढ़कर कभी नहीं चलना चाहिए।

आचार्य सूर्यसागर जी महाराज के सान्निध्य में संवत् 2007 में फिरोजाबाद में बहुत भारी उत्सव हुआ था जिसमें मुनिसंघ विराजमान था, तथा बाहर से 70-75 व्रती भी पधारे हुए थे। उस स मेलन की चर्चा क्षुल्लक श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी ने 'मेरी जीवन गाथा' में इस प्रकार लिखी है— ''इस व्रती स मेलन में एक विषय यह आया कि €या क्षुल्लक वाहन पर बैठ सकता है ? महाराज ने कहा कि जब क्षुल्लक पैसे का त्याग कर चुका है, तथा ईर्यासमिति से चलने का अ यास कर रहा है, तब वह वाहन पर कैसे बैठ सकता है ? पैसे के लिए उसे किसी से याचना करनी पड़ेगी तथा पैसों की प्रतिनिधि जो टिकिट आदि है, वह अपने साथ रखनी पड़ेगी। आखिर विचार करो मनुष्य क्षुल्लक हुआ यों ? इसीलिए तो हुआ कि इच्छाएँ कम हों ? यातायात कम हो, सीमित स्थान में विहार हो। फिर क्षुल्लक बनने पर भी इन सब बातों में कमी नहीं आई, तो क्षुल्लक पद किसलिए रखा ? यथार्थ में जो कौतुकभाव क्षुल्लक होने के पहले था, वह अब भी गया नहीं। यदि नहीं गया, तो कौन कहने गया था कि तुम क्षुल्लक हो जाओ ——। लोग कहते हैं कि दक्षिण के क्षुल्लक तो बैठते हैं ? पर उनके बैठने से €या वस्तुतǯव का निर्णय हो जावेगा ? वस्तु का स्वरूप तो जो है, वही रहेगा। दक्षिण और उǯार का प्रश्न बीच में खड़ा कर देना हित की बात नहीं।

उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार क्षुल्लक को किसी भी सवारी में बैठना बिल्कुल उचित नहीं है।

जनवरी, 2009

197. यज्ञोपवीत व्रती पहन सकता है, अव्रती के लिए नियम नहीं

जिज्ञासा – आजकल कुछ साधु बिना यज्ञोपवीत पहिने व्यक्ति से आहार नहीं लेते हैं। या यज्ञोपवीत पहिने हुए व्यक्ति ही पूजा तथा आहार देने के अधिकारी हैं ?

समाधान – सर्वप्रथम हमको यज्ञोपवीत €या है, इस पर विचार करना योग्य है। यदि हम शास्त्रों में इसके संबंध में जानकारी लेते हैं, तो द्रव्यानुयोग, करणानुयोग में तो इसका वर्णन है ही नहीं, चरणानुयोग के

मूलाचार आदि ग्रंथ तथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि किसी भी ग्रंथ में इसका समर्थन नहीं पाया जाता। मात्र प्रथमानुयोग के पद्मपुराण एवं महापुराण में इसका प्रसंग पाया जाता है। इसका प्रारंभ कब से हुआ, इस संबंध में आदि पुराण में इस प्रकार कहा है -

तेषां कृतानि चिह्नानि, सूत्रैः पद्माह्वयान्निधेः।
उपाŠौर्ब्रह्मसूत्राह्वैरेकाद्येकादशान्तकैः॥ 38/21॥
गुणभूमिकृताद्भेदात् €लृप्तयज्ञोपवीतिनाम्।
सत्कारः क्रियते स्मैषामव्रताश्च बहिः कृताः॥ 22॥

अर्थ- पद्म नाम की निधि से प्राप्त हुए एक से लेकर 11 तक की सं या वाले ब्रह्मसूत्र नामक सूत्र से (व्रतसूत्र से) उन सबके चिह्न किये। प्रतिमाओं के द्वारा किये हुए भेद के अनुसार जिन्होंने यज्ञोपवीत धारण किये हैं, ऐसे इन सबका भरत ने सत्कार किया तथा जो व्रती नहीं थे, उन्हें वैसे ही जाने दिया।

उपर्युक्त संदर्भ का प्रकरण यह है कि महाराज भरत ने व्रतियों का स मान करने के लिये, उनकी परीक्षा करने के लिये, मु य गृहस्थों को बुलाया। मार्ग में हरे-भरे अंकुर पुष्प, फल आदि बिछा दिये थे। तब जो हिंसा से बचने के लिये, उस मार्ग से न आकर, प्रासुक मार्ग से आये, उनका महाराज भरत ने उक्त प्रकार स मान किया अर्थात् जिनके जितनी प्रतिमाएँ थीं, उनको उतनी लड़वाला यज्ञोपवीत पहनाया। अर्थात् यह यज्ञोपवीत इस बात का चिह्न माना गया कि किस व्यक्ति की कितनी प्रतिमाएँ हैं। महाराज भरत ने भगवान् आदिनाथ के समक्ष अपने इस कार्य को इस प्रकार निवेदित किया था -

एकाद्येकादशान्तानि दŠान्ये यो मया विभो।
व्रतचिह्नानि सूत्राणि गुणभूमिविभागतः॥ आदिपुराण 41/31॥

अर्थ- हे विभो, मैंने इन्हें 11 प्रतिमाओं के विभाग से व्रतों के चिह्न स्वरूप एक से लेकर ग्यारह यज्ञोपवीत दिये हैं।

अपने इस कार्य को महाराज भरत कैसा समझते थे। इसके संबंध में -

विश्वस्य धर्म सर्गस्य त्वयि साक्षात् प्रणेतरि।
स्थिते मयातिवालिश्यादि दमाचरितं विभो।। 41/32।।

अर्थ- हे प्रभो, समस्त धर्मरूपी सृष्टि को साक्षात् उत्पन्न करने वाले आपके विद्यमान रहते हुए भी मैंने अपनी **बड़ी मूर्खता से यह काम किया है।**

इस यज्ञोपवीत की परंपरा को प्रारंभ करने के संबंध में, भगवान् आदिनाथ ने इस प्रकार कहा था -

पापसूत्रधराः धूर्ता प्राणिमारणतत्पराः।
वर्त्स्यद्युगे प्रवर्त्स्यन्ति सन्मार्गपरिपंथिनः।। 41/53।।

अर्थ - पाप का समर्थन करने वाले, शास्त्र को जानने वाले अथवा **पाप के चिह्न स्वरूप यज्ञोपवीत को धारण करने वाले** और प्राणियों को मारने में सदा तत्पर रहने वाले, ये धूर्त ब्राह्मण, आगामी युग अर्थात् पंचमकाल में समीचीन मार्ग के विरोधी हो जायेंगे।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि किस व्रती ने कितनी प्रतिमा धारण कर रखी हैं, इसकी स्पष्टता के लिये उतनी लड़ का यज्ञोपवीत पहिनाना, चक्रवर्ती भरत ने प्रारंभ किया था, जिसे भगवान् आदिनाथ ने पंचमकाल में 'धर्मविरोधी' कहा था। अर्थात् यह परंपरा गलत प्रारंभ हो गई थी।

आज कुछ श्रावक एवं साधुगण इस प्रकार कहने लगे हैं कि बिना यज्ञोपवीत पहिने, पूजा या आहारदान देने का अधिकारी नहीं है। जबकि ऐसा कहना, आगम के अनुसार बिल्कुल उचित नहीं है। आजकल यज्ञोपवीत की परंपरा का कैसा मजाक बन रहा है, इसका एक सत्य प्रमाण इस प्रकार है -

सांगानेर के मंदिर में 4 मुनियों का संघ पधारा था। श्रमण संस्कृति संस्थान ने भी चौका लगाया। मैं स्वयं तथा कुछ छात्र पड़गाहन को खड़े हुये। सबसे बड़े महाराज को हमने पड़गाह लिया। चरणप्रक्षाल एवं पूजन उपरांत आहार प्रारंभ करने से पूर्व महाराज ने मुझसे इशारे से यज्ञोपवीत के लिये पूछा। मैंने स्पष्ट मना कर दिया और उनके इशारे के अनुसार अलग ाड़ा हो गया। **इतने में एक छात्र नीचे एक दुकान से एक यज्ञोपवीत खरीद लाया और पहनकर आहार देने लगा। महाराज ने आहार ले लिया। महाराज के सामने ही उसी यज्ञोपवीत को अन्य 7-8 छात्रों ने क्रम से अपने -अपने गले में डालकर आहार दे दिया और वे महाराज सब कुछ देखते हुए भी सब छात्रों से आहार लेते रहे। मैं सोचता रहा कि यह सब €या नाटक हो रहा है ?**

कुछ लोग शास्त्रों में आये हुए 'उपनयन' शŸद को यज्ञोपवीत का रूप मानते हैं, जबकि आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के अनुसार उपनयन का अर्थ **'व्याकरणादि विद्याध्ययनस्योप समीपे नयनम् उपनयनम्'।** अर्थात् व्याकरण आदि शास्त्र पढ़ना प्रारंभ करने को उपनयन कहते हैं।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों के अनुसार **जैन धर्म में यज्ञोपवीत का कोई महत्व नहीं है। किसी भी आगमग्रन्थ में ऐसा नहीं लिखा कि इसको नहीं पहनने वाला पूजा या आहारदान का अधिकारी नहीं है।** प्रतिमाधारी श्रावक यदि चाहे तो भले ही पहन ले, पर अव्रतियों को तो पहनना, आगमस मत नहीं है।

नव बर, 2006

198. परविवाहकरण का अर्थ €या है

जिज्ञासा- ब्रह्मचर्याणुव्रत का एक अतिचार 'परविवाहकरण' है। इसे स्पष्ट करें।

समाधान- कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा फ्फ्त की टीका में इस प्रकार कहा है-

''स्वपुत्रपुत्र्यादीन् वर्जयित्वा अन्येषां गोत्रिणां मित्रस्व-जनपरजनानां विवाहकरणं अन्यविवाहकरणं।''

अर्थ - अपने पुत्र-पुत्री आदि को छोड़कर अन्य गोत्रवालों के मित्र, स्वजन, परिजनादिकों के पुत्र-पुत्री आदि का विवाह करना, अन्य (पर) विवाहकरण नामक अतिचार है।

सागारधर्मामृत (ब/भ्त) की टीका में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है- (टीका पं. कैलासचंद्र जी) ''परविवाह करण अर्थात् अपनी संतान से अतिरिक्त दूसरों की संतान का कन्याफल की इच्छा से अथवा पारस्परिक स्नेह के होने से विवाह कराना। जब स्वदारसंतोषी अपनी स्त्री के सिवाय अन्य में मनवचनकाय से मैथुन न करूँगा, न कराऊँगा, ऐसा व्रत लेता है, तब मैथुन का कारण जो अन्यविवाहकरण है उसका प्रतिषेध

हो ही जाता है। किन्तु वह ऐसा समझता है कि मैं तो मात्र विवाह करा रहा हूँ, मैथुन तो नहीं कराता हूँ, इस प्रकार व्रत की सापेक्षता होने से अतिचार है।''

शंका - परविवाहकरण की तरह अपनी संतान का विवाह करने में भी तो उक्त दोष लगता है?

समाधान - आपका कहना तो ठीक है, किन्तु गृहस्थ यदि अपनी कन्या का विवाह न करें, तो कन्या स्वच्छंदचारिणी हो जाये ... किन्तु यदि कुटुंब की चिन्ता करनेवाला कोई भाई वगैरह हो, तो अपनी संतान का भी विवाह न करने का नियम लेना ही श्रेष्ठ है।

उपर्युक्त प्रकरणों से स्पष्ट है कि विवाह कराना, एक प्रकार से विवाह करनेवाले द पÝियों के लिये मैथुन के साधन जुटाना है, इसलिये निषिद्ध है (आ. सुपार्श्वमति जी कृत टीका)। अतः ब्रह्मचर्याणुव्रती को अपने अतिरिक्त अन्यों के विवाहसंबंध तय कराना, उनकी शादी में शामिल होना, उनको आशीर्वाद देना या प्रेरित करना, उचित नहीं है।

दिस बर, 2006

199. असमीक्ष्याधिकरण अतिचार का अर्थ €या है?

जिज्ञासा- तŽवार्थसूत्र में अनर्थदण्डव्रतों के अतिचार में **'असमीक्ष्याधिकरण'** से €या तात्पर्य है ?

समाधान- श्री राजवार्तिककार ने **'असमीक्ष्याधिकरण'** शŽद का अच्छा स्पष्टीकरण किया है, जो इस प्रकार है - बिना प्रयोजन आधि€य करना अधिकरण है। अधिकरण शŽद में 'अधि' का अर्थ 'अधिकरूप' में है और करण का अर्थ अपूर्व प्रादुर्भाव है, अपूर्व के उत्पादन में बिना प्रयोजन आधि€यरूप से प्रवर्तन करना अधिकरण कहलाता है। (4)

मन,वचन और काय के भेद से अधिकरण तीन प्रकार का है। निरर्थक काव्य आदि का चिंतन मानस अधिकरण है। निष्प्रयोजन परपीड़ादायक कुछ भी बकवास करना, अनर्गल प्रलाप करना, वाचनिक अधिकरण है। बिना प्रयोजन चलते हुए, ठहरते हुए, बैठते हुए, सचिŽा एवं अचिŽा पत्र, पुष्प, फलों का छेदन-भेदन, कट्टन, क्षेपण आदि करना, अग्नि, विष, क्षार आदि पदार्थ देना आदि जो क्रियाएँ की जाती हैं, वह कायिक अधिकरण है। ये सर्व असमीक्ष्याधिकरण हैं, अर्थात् मन-वचन-काय की निष्प्रयोजन चेष्टा असमीक्ष्याधिकरण है। (5)

अगस्त, 2006

200. ब्रह्मचारियों को धन एकत्रित नहीं करना चाहिये

जिज्ञासा— €या ब्रह्मचारी भाइयों द्वारा धन एकत्र करना आगम के अनुसार उचित है?

समाधान— पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज के द्वारा प्रवचनों में मैंने कई बार सुना है कि **ब्रह्मचारियों को धन एकत्र नहीं करना चाहिए।** शास्त्रों में भी इसके विभिन्न प्रमाण पाये जाते हैं—

यशस्तिलकच पूगत उपासकाध्ययन (श्लोक 389) में इस प्रकार कहा है,

देह-द्रविण-संस्कार-समुपार्जनवृŽायः।
जितकामे वृथा सर्वास्तत्कामः सर्वदोषभाक् ॥ 389॥

अर्थ- जिसने काम को जीत लिया, उसके द्वारा देह का संस्कार करना, धन कमाना आदि सभी व्यापार व्यर्थ हैं, योंकि काम ही इन दोषों की जड़ है॥

सागारधर्मामृत (अध्याय 6/36) में इस प्रकार कहा है—

स्त्रीतश्चिद्गा निवृद्गां चेन्ननु विद्गां किमीहसे।
मृतमण्डनकल्पो हि स्त्रीनिरीहे धनग्रहः॥ 36॥

अर्थ- हे मन, यदि तू निश्चित ही स्त्री से निवृद्गा हो गया है, तो फिर धन को €यों चाहेगा? €योंकि स्त्री की इच्छा नहीं रहने पर धन को ग्रहण करना अथवा धन की इच्छा करना, मरे हुए मनुष्यों को आभूषण पहनाने के समान व्यर्थ है।

भावार्थ- विषयसुख के लिए धन साधन है। स्त्री विषयसुख का मु य अवल बन है। महल, मकान, बाग-बगीचा आदि विषय सुखों के गौण साधन हैं। अतः विषयसुख का साधन स्त्री मानी गई है। यदि उसकी अभिलाषा से, जिसका अन्तःकरण विमुख हो जायेगा, तो फिर विषयसुख के गौण साधनभूत धनादिक इच्छा की निष्फलता स्वयं हो जाती है। जब साध्य ही नहीं चाहिए तो फिर साधन की या जरूरत है? जैसे मुर्दे को आभूषण पहनाकर सजाना व्यर्थ है, वैसे ही स्त्री से विरक्त पुरुष के लिए धन की इच्छा निरर्थक मानी जाती है। (टीका-आ0 सुपार्श्वमती जी)

जनवरी, 2009

201. गूढ़ ब्रह्मचारी कौन है

जिज्ञासा- गूढ़ ब्रह्मचारी कौन होते हैं ?

समाधान- धर्मसंग्रह श्रावकाचार 6/19-20 में इस प्रकार कहा है -

कुमारश्रमणाः सन्तः स्वीकृतागमविस्तराः।
बान्धवैर्धरणीनाथैर्दुःसहैर्वा परीषहैः॥ 19॥
आत्मनैवाऽथवा त्यक्तपरमेश्वररूपकाः।
गृहवासरता ये स्तुस्ते गूढब्रह्मचारिणः॥ 20॥

अर्थ- जिन्होंने कुमार काल में ही मुनि वेष धारण करके सिद्धान्त का अध्ययन किया है, वे फिर कभी अपने बन्धु लोगों के तथा राजादि के आग्रह से, दुःसह परीषहोपसर्गादि के न सहन होने से अथवा अपने आप ही उस धारण किये हुए जिनरूप (मुनिवेष) को छोड़कर गृहकार्य में लगते हैं उन्हें जिनागम में गूढ़ ब्रह्मचारी कहा है।

सित बर, 2006

202. श्रावक श द के अनेक अर्थ

जिज्ञासा- श्रावक श द का अर्थ या है? इसकी या परिभाषा माननी चाहिये?

समाधान- श्रावक शद्गाद की विभिन्न परिभाषाएँ शास्त्रों में प्राप्त होती हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

1. सर्वार्थसिद्धि 9/45 में इस प्रकार कहा गया है-

''स एव पुनश्चारित्रमोहकर्मविकल्पाप्रत्या यानावरण-क्षयोपशमनिमिद्गापरिणामप्राप्तिकाले विशुद्धिप्रकर्षयोगात् श्रावको।''

अर्थ- वह अविरत स यग्दृष्टि ही चारित्रमोह कर्म के एक भेद अप्रत्या यानावरण कर्म के क्षयोपशमनिमिŽाक परिणामों की प्राप्ति के समय विशुद्धि की वृद्धि होने से श्रावक होता है।

2. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा 13 की टीका में इस प्रकार कहा है-

स पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावको भवति।

अर्थ- पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक होता है।

3. श्रावकधर्मप्रकाश गाथा 2 की टीका में इस प्रकार कहा है-

अ युपेतस य€त्वः प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि प्रतिदिवसं यति यः सकाशात्साधूनामागारिणां च समाचारीं शृणोतीति श्रावकः।

अर्थ- जो स य€त्वी और अव्रती होने पर भी प्रतिदिन साधु से गृहस्थ और मुनियों के आचार धर्म को सुने, वह श्रावक कहलाता है।

4. श्रावकाचार संग्रह ाग 4 की प्रस्तावना में पृष्ठ 59 पर श्रावक धर्म की परिभाषा में यह श्लोक दिया गया है-

श्रद्धालुतां श्राति शृणोति शासनं,
दीने वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
कृतत्वं पुण्यानि करोति संयमं,
तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः।।

अर्थ- जो श्रद्धालु होकर जैन शासन को सुने, दीन जनों को दान दे, स यग्दर्शन को धारण करे, पुण्य के कार्य करे, संयम का आचरण करे, उसे बुद्धिमान पुरुष श्रावक कहते हैं।

5. मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय 8 में कहा है **'श्रावक तो पंचम गुणस्थानवर्ती भये होय है।'**

6. सागारधर्मामृत 1/15 की स्वोपज्ञटीका में इस प्रकार कहा है-

शृणोति गुर्वादि यो धर्ममिति श्रावकः।

अर्थ- जो श्रद्धापूर्वक गुरु आदि से धर्मश्रवण करता है, वह श्रावक है।

7. विद्वानों के द्वारा श्रावक श द का यह अर्थ भी सुनने में आता है-

जो श्रद्धावान् हो (श्र), जो विवेकवान् हो (व) तथा जो क्रियावान् हो (क) उसे श्रावक कहते हैं।

दिस बर, 2010

203. निदान शल्य, निदान आ ध्यान तथा निदानबंध में अंतर

जिज्ञासा- निदानशल्य, निदान आ ध्यान तथा निदानबंध में या अन्तर है?

समाधान- इन तीनों का स्वरूप इस प्रकार है-

1. सर्वार्थसिद्धि 7 / 37 की टीका में इस प्रकार कहा गया है- **''भोगाकाङ्क्षा नियतं दीयते चि ं तस्मिंस्तेनेति वा निदानम्।'' अर्थ**- भोगाकांक्षा से जिसमें या जिसके कारण चिŽा नियम से दिया जाता है वह निदान है। अर्थात् इस भव में या पर भव में मुझे सांसारिक भोगों की प्राप्ति कैसे हो, ऐसा निरंतर चिंतन बना रहना निदान नामक आ ध्यान है।

2. सर्वार्थसिद्धि 7/18 में इसप्रकार कहा गया है- **''निदानं विषयभोगाकाङ्क्षा।'' अर्थ**- भोगों की लालसा निदान शल्य है।

3. भोगों की आकांक्षा के अनुसार आगामी पर्याय का बंध हो जाना निदानबंध कहलाता है। सभी प्रतिनारायण आदि निदानबंध करके ही इस पद को प्राप्त करते हैं।

उपर्युक्त तीनों परिभाषाओं को देखने से यह स्पष्ट है कि ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं, एक नहीं।

नव बर, 2009

204. स्वाध्याय को परम तप कहा है

जिज्ञासा- स्वाध्याय को परम तप यों कहा गया है, जब कि परम तप तो ध्यान को मानना चाहिए?

समाधान- उपर्युक्त जिज्ञासा के संबंध में शास्त्रों के नि न प्रमाण द्रष्टव्य हैं-

1. मूलाचार प्रदीप में श्लोक नं. 1993 से 1997 तक इस प्रकार कहा गया है-

समस्ततपसां—— शिवशर्मणे ॥ 1993-1997 ॥

अर्थ- समस्त तपश्चरणों में विद्वान् पुरुषों को इस स्वाध्याय के समान न तो अन्य कोई तप आज तक हुआ है, न है, और न आगे होगा। इसका भी कारण यह है कि स्वाध्याय करनेवालों के पञ्चेन्द्रियों का निरोध अच्छी तरह होता है तथा तीनों गुप्तियों का पालन होता है और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस स्वाध्याय से ही मुनियों के योगों की शुद्धि होती है तथा महाशु लध्यान प्राप्त होता है। शु लध्यान से घातिया कर्मों का नाश होता है, जिससे केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान के होने से इन्द्र भी आकर पूजा करता है तथा अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार इस स्वाध्याय का सर्वोत्कृष्ट फल समझकर विद्वान् पुरुषों को मोक्षसुख प्राप्त करने के लिए प्रमाद छोड़कर प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिए।

2. आचारसार में इस प्रकार कहा है-

स्वस्मै योऽसौ हितोऽध्यायः स्वाध्यायो वाचनादिकः।
तपो वर्यमतो नान्य पःसु द्वादशस्वपि॥ 95॥
नोर्ध्वमन्तर्मुहूर्ात्सद्ध्यानमध्ययनं पुनः।
सदैनो निर्जराकारि किन्तु न स्यात्कृतात्मनाम्॥ 96॥

अर्थ- जो अपने लिए हितकारी है, वह वाचनादि स्वाध्याय है और 12 प्रकार के तपों में, **स्वाध्याय तप से दूसरा श्रेष्ठ तप कोई नहीं है।**

अन्तर्मुहूर्त के ऊपर सद्ध्यान नहीं है। परन्तु पुण्यात्माओं के पाप का निर्जराकारी स्वाध्याय निरंतर होता है, अर्थात् ध्यान अन्तुर्मुहूर्त से अधिक नहीं हो सकता है परन्तु स्वाध्याय तो निरंतर किया जा सकता है, जो पुण्यात्माओं के पाप की निर्जरा का कारणभूत है।

3. भगवती आराधना (गा.106) में इस प्रकार कहा है-

बारसविहि म य तवे सŐभंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवो क मं॥ 106॥

अर्थ- सर्वज्ञ के द्वारा कहे गये आ यंतर और बाह्य भेद सहित बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय के समान तप क्रिया नहीं है, और न होगी ही।

205. अष्टमी चतुर्दशी को सिद्धान्त ग्रन्थ नहीं पढ़ना चाहिये

जिज्ञासा : धवला पुस्तक 9/257 पर कहा है कि अष्टमी, चतुर्दशी और पर्व के दिनों में शास्त्र स्वाध्याय करना योग्य नहीं है। इसकी या अपेक्षा लगानी चाहिये ?

समाधान : स्वाध्याय के अयोग्य द्रव्य, क्षेत्र एवं काल के ऊपर धवला पुस्तक 9 पृष्ठ 255-257 तक अच्छी तरह प्रकाश डाला गया है। वहाँ अयोग्य काल का वर्णन करते हुए अष्टमी, चतुर्दशी तथा नन्दीश्वर पर्व के दिवसों आदि में अध्ययन करने के लिये मना किया गया है। ऐसी ही चर्चा मूलाचार के पंचाचाराधिकार में गाथा नं. 80 से 82 तक तथा मूलाचारप्रदीप में छठे अधिकार के 32 से 37 श्लोक तक भी पढ़ने को मिलती है। इन गाथा व श्लोकों में बतलाया गया है कि गणधर एवं श्रुतकेवली आदि के द्वारा कहे हुये ग्रन्थों को स्वाध्याय के योग्य काल में ही पढ़ना चाहिये। परन्तु आराधना ग्रन्थ, मृत्यु के साधनों को सूचित करने वाले ग्रन्थ, पंचसंग्रह, प्रत्या यान तथा स्तुति के ग्रन्थ, छह आवश्यक को कहने वाले ग्रन्थ आदि जितने अन्य ग्रन्थ हैं, वे सभी कालों में पढ़ने के योग्य हैं।

उपर्युक्त प्रमाण के अनुसार वर्तमान में भी देखा जाता है कि मुनिसंघों में अष्टमी, चतुर्दशी आदि स्वाध्याय के अयोग्य कालों में, सिद्धान्त ग्रन्थों की(श्री कषायपाहुड, श्री षट्खण्डागम एवं इनकी धवला, जयधवला एवं महाधवला टीकाओं की) वाचना नहीं की जाती है, जबकि दशलक्षण पर्व में अष्टमी और चतुर्दशी के दिन भी तŠवार्थसूत्र की वाचना प्रत्येक स्थान पर होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सिद्धान्त ग्रन्थों का स्वाध्याय तो स्वाध्याय के योग्य कालों में ही करना योग्य है। शेष ग्रन्थों का स्वाध्याय कभी भी किया जा सकता है। यहाँ यह भी जानने के योग्य है कि उपर्युक्त सिद्धान्त ग्रन्थों का पठन-पाठन गृहस्थों को नहीं करना चाहिये।

मार्च, 2006

206. कौनसा शूद्र जिनबि ब दर्शन कर सकता है

जिज्ञासा - वा शूद्र व्यक्ति मंदिर जी में आकर जिनबिंब दर्शन कर सकता है ?

समाधान - शूद्रों के दो भेद कहे गये हैं -

1. स्पृश्य शूद्र - ये वे शूद्र हैं, जिनसे छू जाने पर भी हम को स्नान करना आवश्यक नहीं होता। जैसे- दर्जी, बढ़ई, सुनार आदि।

2. अस्पृश्य शूद्र - ये वे शूद्र हैं, जिनसे छू जाने पर हमको स्नान करना आवश्यक होता है। जैसे - मेहतर, चांडाल, दाई, डोम आदि।

उपर्युक्त में से स्पृश्य शूद्र तो मंदिर में प्रवेश कर सकते हैं, दर्शन तथा प्रवचन श्रवण आदि कर सकते हैं। परन्तु अस्पृश्य शूद्र मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकते । चा.च. आचार्य शांतिसागर जी महाराज के अनुसार इन अस्पृश्य शूद्रों को मंदिर प्रवेश नहीं करके, मानस्तंभ की प्रतिमाओं का दर्शन करना चाहिए।

नव बर, 2006

207. कामसेवन में त्रस जीवों का घात

जिज्ञासा- सूक्ष्मजीव न तो किसी से मरते हैं और न किसी को मारते हैं, फिर कामसेवन में हिंसा यों ?

समाधान- कामसेवन में सूक्ष्मजीवों की हिंसा नहीं होती, बल्कि बादर त्रस जीवों की हिंसा होती है। ये त्रस जीव आँखों से दिखाई नहीं पड़ते, इस दृष्टि से इनको सूक्ष्म कहा है। सूक्ष्म जीवों का कोई आधार नहीं होता, अत: किसी भी वस्तु या पदार्थ में पाये जाने वाले जीव बादर ही होते हैं। आलू की सÅजी बनाने में ी बादर निगोदिया जीवों का ही घात होता है। बिजली का पंखा चलाने पर भी बादर वायुकायिक जीवों का तथा अन्य बादर जीवों का ही घात होता है। हिंसा बादर जीवों की ही होती है, सूक्ष्म जीवों की नहीं। कामसेवन में, रज-वीर्य में पाये जाने वाले तथा सेवन के स्थानों में पाये जाने वाले असं यात त्रस जीवों का घात होता है।

अप्रैल, मई, जून, 2006

208. उपवास के दिन या करें, या नहीं

जिज्ञासा- या उपवास के दिन व्यापार या गृहकार्य करना उचित है या नहीं ? या उस दिन जल भी ग्रहण नहीं करना चाहिये ?

समाधान- श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस प्रकार कहा है -

उववासं कुव्वाणो आरंभं जो करेदि मोहादो।
तस्स किलेसो अपरं क माणं णेव णिज्जरणं॥ 442॥

अर्थ- जो उपवास करते हुए मोहवश आरंभ करता है उसको उपवास करने में कष्ट तो हुआ, किन्तु कर्मों की निर्जरा नहीं हुई।

भावार्थ- जो मनुष्य अथवा स्त्री, मोह अथवा अज्ञान के वशीभूत होकर उपवास के दिन असि, मसि, कृषि, सेवा, व्यापार आदि उद्योगों को तथा पीसना, कूटना, पानीभरना, चूल्हा जलाना, झाड़ू देना, कपड़े धोना, घर लीपना, आदि आरंभ को करता है, वह उपवास करके भूख-प्यास की बाधा से केवल अपने कष्ट को ही बढ़ाता है। जैसा शास्त्रों में कहा है-

कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥

अर्थ- जिसमें विषयकषाय रूपी आहार का त्याग किया जाता है, वही उपवास है। केवल भोजन का त्याग करना तो लंघन है।

श्री धर्मसंग्रहश्रावकाचार 9/170 में इस प्रकार कहा है- **''आरंभादनुपवासः''**

अर्थ- यदि उपवास वाले दिन गृहस बन्धी, व्यापार स बन्धी या नौकरी-स बन्धी कोई भी आरंभ करता है तो उसे उपवास नहीं कहा जा सकता है।

उपवास के दिन तो अन्य शास्त्रों के अनुसार स्नान, अञ्जन आदि का भी त्याग रखना चाहिये। यदि पूजा के लिये आवश्यक हो, तो थोड़े से जल से स्नान करना चाहिये। उपवास वाले दिन समस्त आरंभ को छोड़कर मन्दिर अथवा किसी क्षेत्र की वसतिका में निरन्तर धर्मध्यानपूर्वक अपने समय का सदुपयोग करना चाहिये।

अब आपके अगले प्रश्न पर विचार करते हैं कि उपवास वाले दिन जल लेना चाहिये या नहीं। श्री सागारधर्मामृत 5/35 की स्वोपज्ञ टीका में पं. आशाधर जी ने इस प्रकार कहा है - **''जलवर्जनचतुर्विधाहारत्यागः ईषद् उपवासोऽनुपवासः इति व्युत्पत्तेः।''**

अर्थ- जल को छोड़कर यदि चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है अर्थात् यदि उपवास वाले दिन मात्र जल को ग्रहण करता है, तो उसे उपवास नहीं कहते। उसे ईषत् उपवास या अनुपवास कहा जाता है। अतः उपवास के दिन जलग्रहण नहीं करने से ही उपवास का पूर्ण फल प्राप्त होता है।

जुलाई, 2006

209. आय का कितना अंश दानयोग्य

जिज्ञासा- गृहस्थ श्रावक का कितना धन दान में देना श्रेष्ठ है?

समाधान- इस प्रकरण में श्री 'धर्मरत्नाकर' पृष्ठ 361 पर इस प्रकार कहा है-

तूर्यांशो वा षडंशो वा, दशांशो वा निजार्थतः।
दीयते या तु सा शक्ति तर्वर्या मध्या कनीयसी॥ 1431-25॥

अर्थ- अपनी दैनिक आय में से चतुर्थ भाग (25%) छठा भाग (17%) अथवा दसवें भाग (10%) का जो सत्पात्रदानादि में सदुपयोग किया जाता है, उसे यथाक्रम से उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य शक्ति जानना चाहिये।

इसी ग्रंथ के पृष्ठ 44 पर उपर्युक्त प्रकार ही लिखा है। साथ में यह भी लिखा है कि जो पुरुष लक्ष्मीवान् होकर शक्ति इस प्रतिशत से कम दान देता है उसे धार्मिक जन, दाता लोगों में कुछ शक्ति नहीं गिनते।

जून-जुलाई, 2007

210. पात्र के अनुसार दान के फल में अन्तर

जिज्ञासा— किसी दिगम्बर जैन को दान दें या किसी अन्यमत वाले को दान दें, तो समान फल मिलेगा या अन्तर है?

समाधान— इस संबंध में शास्त्रों के निम्न प्रमाणों पर विचार करना योग्य है-

क. श्री धर्मसंग्रहश्रावकाचार में इस प्रकार कहा है—

एकोऽप्युपकृतो जैनो वरं नाऽन्ये ह्यनेकशः।
हस्ते चिन्तामणौ प्राप्ते को गृह्णाति शिलोच्चयान्॥ 176॥

अर्थ— जैनधर्म के धारक एक भी भव्य पुरुष का उपकार करना अच्छा है, परन्तु हजारों मिथ्यादृष्टियों का उपकार करना अच्छा नहीं है। जैसे जब हाथ में चिन्तामणि रत्न आ जावे, तो फिर ऐसा कौन दुर्बुद्धि होगा जो उसे छोड़कर पत्थरों को स्वीकार करेगा? कोई नहीं करेगा।

स्फुरत्येकोऽपि जैनत्व-गुणो यत्र सतां मतः।
तत्राप्यजैनैः सप्पात्रैर्द्योत्यं खद्योतवद्रवौ॥ 52॥
वरमेकोऽप्युपकृतो जैनो नान्ये सहस्त्रशः।
दलादिसिद्धान् कोऽन्वेति रससिद्धे प्रसेदुषि॥ 53॥

अर्थ— जिस जैन में सज्जनों को प्रिय ऐसा एक भी जैनत्व गुण प्रकट है, उस जैन के सामने ज्ञान और तप से अधिक अजैन पुरुष, सूर्य के सामने जुगनू की तरह प्रकाशित होते हैं।

उपकार किया हुआ एक भी जैन उत्कृष्ट है, जब कि अन्यमतवाले मिथ्यादृष्टि हजार भी अच्छे नहीं हैं। €योंकि रस की सिद्धि करनेवाले पुरुष के प्राप्त हो जाने पर, सार रहित कृत्रिम सुवर्ण बनानेवाले पुरुषों की कौन खोज करता है ?

ख श्री इन्द्रनन्दिसूरि विरचित नीतिसार समुच्चय ग्रन्थ में इसप्रकार कहा है-

तस्मै दानं प्रदातव्यं, यः सन्मार्गे प्रवर्तते।
पाखण्डि यो ददद्दानं, दाता मिथ्यात्ववर्धकः॥ 48॥

अर्थ— उसी को दान देना चाहिए जो सन्मार्ग (स यग्दर्शन, स यग्ज्ञान एवं स यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग) में प्रवृfिा करता हो। पाखण्डी को , जैनधर्म के विनाशक को दान नहीं देना चाहिए। €योंकि पाखण्डी को, दिग बर धर्म के निन्दक को दान देनेवाला दाता मिथ्यामार्ग का पोषक अथवा वर्द्धक होता है।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि जब भी कोई दान देना हो, तब दिग बर जैन धर्म के प्रचार-प्रसार आदि के लिए ही दें। अन्य मत के लोगों को भोजन कराना, उनके मन्दिर, स्कूल, साधु आदि के लिए दान देना, कदापि उचित नहीं है। उसका फल न के बराबर होता है।

जनवरी, 2009

211. किमिच्छिक दान या है

जिज्ञासा- किमिच्छिक दान या होता है और इसे कौन कैसे देता है ?

समाधान- किमिच्छिक दान चक्रवर्ती के द्वारा दिया जाता है, जो वह कल्पद्रुम पूजा के अवसर पर देता है। सागारधर्मामृत ख/ख्त में इस प्रकार कहा है-

किमिच्छकेन दानेन जगदाशाः प्रपूर्य यः।
चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञः कल्पद्रुमो मतः॥ ख/ख्त॥

अर्थ- सभी जीवों की इच्छा के अनुसार दान के द्वारा (किमिच्छक दान देकर) जगत की आशा को पूरित करके जो अरहंत भगवान् की पूजा चक्रवर्तियों के द्वारा की जाती है वह कल्पद्रुम पूजा कही जाती है।

भावार्थ- चक्रवर्ती के छहखण्ड की विजय प्राप्त करने के बाद, उनके साम्राज्यपद का अभिषेक होता है। उस समय वे अपने अधीनस्थ सभी राजाओं तथा प्रजा से **''आप या चाहते हैं, ऐसा प्रश्न करते हैं। वे लोग जो-जो माँगते हैं, उनको वह सब देकर उनकी इच्छायें पूर्ण की जाती हैं, अर्थात् उनको किमिच्छक दान देकर संतुष्ट किया जाता है।''** इस प्रकार संतुष्ट करके, जो पूजा चक्रवर्ती के द्वारा की जाती है, उसे कल्पद्रुम पूजा कहा जाता है।

सित बर, 2008

212. सुबह भोजन बनाना कब प्रार भ करें

जिज्ञासा— प्रातःकाल आहार बनाना कब प्रारंभ करना चाहिए।

समाधान— वर्तमान में देखा जाता है कि जिन स्थानों पर मुनिराज आदि का चातुर्मास चल रहा होता है,

वहाँ भक्तगण सूर्योदय से पूर्व ही भोजन बनाने की प्रक्रिया प्रार भ कर देते हैं, अर्थात् उनकी रसोई में गैस का जलना प्रार भ हो जाता है और कुकर की सीटी बोलने लगती है। यह प्रयास उचित नहीं है। श्रावकाचारों के अनुसार सूर्योदय के पश्चात् ही कूटना-पीसना, आग जलाना आदि कार्य होना चाहिए। अन्यथा सूर्योदय से पूर्व उपर्युक्त क्रियाओं से उत्पन्न आहार में रात्रिभोजन का दोष लगता है। घर में भी यदि कोई सदस्य सूर्योदय से पूर्व ही देशान्तर जा रहा हो, तो उसके लिए पहले दिन ही शाम को भोजन बनाकर रखना उचित है। सूर्योदय से पूर्व भोजन बनाकर देना रात्रिभोजन सदृश दोषपूर्ण कहलाएगा।

हमको चातुर्मास आदि के दौरान या अन्य समयों में सर्वप्रथम सूर्योदय के बाद भक्ति-भाव से जिनेन्द्रपूजा करनी चाहिए। तदुपरान्त आहार आदि बनाने की क्रिया या कूटना-पीसना आदि प्रार भ करना चाहिए। कुछ दाताओं का ऐसा भी कहना है कि यदि इतनी जल्दी आहार बनाना प्रार भ न करें, तो आहार की इतनी सारी वैरायटी कैसे बनेंगी? ऐसे महानुभावों से निवेदन है कि साधु को वही सा वक आहार देना चाहिए, जो वे स्वयं करते हों। पूरे दक्षिण भारत में यही पर परा है। रात्रि में भोजन बनाना प्रार भ करके अधिक वैरायटी बनाना किसी भी प्रकार उचित नहीं।

मार्च, 2009

213. अनिष्टशान्ति के लिए किया गया पूजन-विधान निदान नहीं है

जिज्ञासा- €या अनिष्टशांति के लिए पूजा, विधान करना उचित है? आगमप्रमाणसहित उžार दें। यह निदान में आएगा या नहीं?

समाधान- वर्तमान में पूजा-विधान करने के तीन अभिप्राय दृष्टिगोचर होते हैं-

1. इस भव में एवं अगले भवों में मुझे सांसारिक वैभव तथा उत्कृष्ट पदों की प्राप्ति हो।
2. अनिष्ट कार्यों की शान्ति के लिए।
3. देवपूजा आदि स य€त्व को बढ़ानेवाली क्रियायें हैं, अत: आत्मकल्याण के लिए।

उपर्युक्त तीनों कारणों में से प्रथम कारण अर्थात् भोगों की आकांक्षासहित यदि पूजा, विधान आदि किये जाते हैं, तो वे निश्चितरूप से निदान के अन्तर्गत आते हैं, जैसा कि सर्वार्थसिद्धि 7 / 37 में कहा है-

'भोगाकांक्षया नियतं दीयते चि ं तस्मिंस्तेनेति वा निदानम्।'

अर्थ- भोगाकांक्षा से जिसमें या जिसके कारण चिžा नियम से दिया जाता है, वह निदान है।

अनिष्टशांति के लिए या आए हुए कष्ट के निवारणार्थ यदि पूजा-विधान आदि किए जाते हैं, तो वे निदान के अंतर्गत नहीं आते। श्री आदिपुराण 41/84-85 में इस प्रकार कहा है-

ततः प्रविश्य साकेतपुरमाबद्धतोरणम्।
केतुमालाकुलं पौरैः सानन्दमभिनन्दिनः॥ 84॥
शान्तिक्रियामतश्चक्रे दुःस्वप्नानिष्टशान्तये।
जिनाभिषेकसत्पात्रदानाद्यैः पुण्यचेष्टितैः॥ 85॥

अर्थ- तदनन्तर नगर के लोग आनन्द के साथ जिनका अभिनन्दन कर रहे हैं, ऐसे उन महाराज भरत ने जिसमें जगह-जगह तोरण बाँधे गए हैं और जो पताकाओं की पंक्तियों से भरा हुआ है, ऐसे अयोध्या नगर में

प्रवेश कर, देखे हुए 16 खोटे स्वप्नों से होनेवाले अनिष्ट की शांति के लिए जिनेन्द्रदेव का अभिषेक करना, उ ाम पात्र को दान देना आदि पुण्य क्रियाओं से शान्तिकर्म किया।

इससे यह स्पष्ट होता है कि अनिष्टशांति के लिए किए गए पूजा विधान आदि निदान नहीं हैं, उनका करना उपयुक्त है।

अगस्त, 2009

214. गृहस्थ को देवदर्शन और देवपूजा दोनों अनिवार्य हैं

जिज्ञासा- ऐसा सुनते हैं कि शास्त्रों में श्रावकों को देवपूजा करने का उपदेश दिया गया है, देवदर्शन का नहीं। तो या देवदर्शन करना व्यर्थ है ?

समाधान- श्रावकों के षट्कर्म का वर्णन पद्मनंदि महाराज ने पद्मंनदिपंचविंशतिका में किया है। उपर्युक्त प्रश्न के समाधान में हम उपर्युक्त शास्त्र के आधार से देखेंगे। श्री पद्मनंदिपंचविंशतिका में श्रावक के षट्कर्म इस प्रकार कहे हैं-

देव पूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः,
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने-दिने॥ 6/7॥

अर्थ- देवपूजा, गुरु की सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान, ये छह कर्म गृहस्थों के लिये प्रतिदिन करने के योग्य हैं। अर्थात् वे उनके आवश्यक कार्य हैं।

इसी ग्रंथ में देवदर्शन के संबंध में भी इस प्रकार कहा है-

प्रपश्यन्ति जिनं भ€त्या पूजयंति स्तुवंति ये।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये॥ 6/14॥
ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयंति स्तुवंति न।
निष्फलं जीवितं तेषां, तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥ 6/15॥

अर्थ- जो भव्य प्राणी भक्ति से जिन भगवान् के दर्शन, पूजन और स्तुति किया करते हैं, वे तीनों लोकों में स्वयं ही दर्शन, पूजन और स्तुति के योग्य बन जाते हैं। अभिप्राय यह है कि वे स्वयं भी परमात्मा बन जाते हैं। जो जीव भक्ति से जिनेन्द्र भगवान् का न दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं और न स्तुति ही करते हैं, उनका जीवन निष्फल है, तथा उनके गृहस्थाश्रम को धि कार है।

प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम्।
भ€त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः॥ 6/16॥

अर्थ- श्रावकों को प्रातःकाल उठकर भक्ति से जिनेन्द्र देव तथा निर्ग्रन्थ गुरु के दर्शन और वंदना करके धर्म श्रवण करना चाहिए।

भावार्थ- उपर्युक्त प्रकरणों का आशय यह है कि आचार्य ने देवदर्शन को श्रावक के षट्कर्म में नहीं लिखा हैं। श्रावक के षट्कर्म में तो देवपूजा का ही उल्लेख है तथा अन्य आचार्यों ने भी देवपूजा को ही श्रावक का मु य धर्म कहा है। पर यदि देव पूजा कदाचित् न कर पाये तो देवदर्शन तो अवश्य ही करना चाहिये। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि देवदर्शन की अपेक्षा देवपूजा करना श्रेष्ठ है।

मार्च, 2010

215. जिनपूजा खड़े होकर करनी चाहिये

जिज्ञासा – पूजा खड़े होकर करनी चाहिए या बैठकर?

समाधान – पूजा तो खड़े होकर ही करना उचित है। यदि शक्ति न हो या अस्वस्थता हो, तो अलग बात है। भगवान् की विनय तो खड़े होकर पूजा करने में ही है। इस संबंध में कुछ आगम प्रमाण इस प्रकार हैं –

क. श्री आदिपुराण पृष्ठ भ्म्क पर इस प्रकार कहा है–

उत्थाय तुष्ट्या सुरेन्द्राः स्वहस्तैः,
जिनस्याङ्घ्रिपूजां प्रचक्रुः प्रतीताः।

अर्थ – स यग्दृष्टि सुरेन्द्रों ने अत्यन्त प्रमोदपूर्वक खड़े होकर अपने हाथों से भगवान् के चरण कमलों की पूजा की।

ख. श्री मूलाचार में इस प्रकार कहा है –

चउरंगुलंतर पादो पडिलेहिय अंजलीकयपसत्थो।
अव्वाखिŽो वुŽो कुणदि य चउवीसत्थयं भि€खू॥ भ्त्रभ्॥

अर्थ – चार अंगुल अन्तराल से पाद को करके, प्रतिलेखन करके, अंजलि को प्रशस्त जोड़कर एकाग्रमना हुआ भिक्षु, चौबीस तीर्थंकर की स्तुति करता है।

आचारवृ ा-पैरों में चार अंगुल का अंतर रखकर स्थिर अंगकर जो खड़े हुये हैं .... (यहाँ मुनियों को भी खड़े होकर ही वंदना करने का विधान किया है।)

फ. नित्य देवपूजा विनय पाठ पढ़कर प्रारंभ की जाती है। उसमें सर्वप्रथम यह पढ़ा जाता है, ''इह विधि ठाड़ो होय के, प्रथम पढ़ै जो पाठ।''

ब. श्री हजारीलालकृत पूजन-स्तवन में इस प्रकार कहा है–

''मैं स्तवों तुम स मुख ठाड़, यातें पाप सकल परिहरें।''

भ. पुण्यास्रव कथाकोष में इस प्रकार कहा है–

तदा गोपालकः सोऽपि, स्थित्वा श्री मज्जिनाग्रतः।
भो सर्वोत्कृष्ट मे पद्मं, ग्रहाणेदमिति स्फुटम्॥ क्भ्॥

अर्थ– तब उस ग्वाले ने श्री जिनेन्द्रदेव के आगे खड़े होकर एक बड़ा कमल समर्पित किया।

म. श्री धर्म संग्रहश्रावकाचार में कहा है–

स चाद्यं पीठमारुढस्त्रि परीत्य कृतांजलिः।
पूजा द्रव्यमुपानीय, भ€त्या स्तौत्यभिमुखम्॥ फ्फ॥

अर्थ– राजा श्रेणिक आद्य पीठ पर चढ़कर भगवान् की तीन प्रदक्षिणा देकर हाथ जोड़कर सामने खड़े होकर, पूजा का द्रव्य चढ़ाते हुये।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि भगवान् के समक्ष विनयपूर्वक खड़े होकर पूजा करना ही आगमस मत है।

दिस बर, 2006

216. पूजन में पुष्पाञ्जलि क्षेपण €यों किया जाता है

जिज्ञासा- पूजा में पुष्पाञ्जलि क्षेपण €यों किया जाता है ?

समाधान- आपकी जिज्ञासा के समाधान में श्री पद्मनन्दी पंचविंशतिका ग्रन्थ में इस प्रकार कहा गया है-

पूजाविधिं विधिवदत्र विधाय देवे
स्तोत्रं च संमदरसाश्रितचिŽावृŽिः।
पुष्पाञ्जलिं विमलकेवललोचनाय
यच्छामि सर्वजनशान्तिकराय तस्मै।। 19 / 9।।

अर्थ- जिसकी चिŽा की वृŽिा उत्कृष्ट प्रसन्नता रूपी रस से भरी है, ऐसा मैं (पूजक) शास्त्रानुसार भगवान् की भलीभांति पूजा करके तथा अच्छी प्रकार स्तोत्र को भी पढ़कर निर्मल केवलज्ञानरूपी नेत्र के धारण करनेवाले और समस्त जीवों को शान्ति के देनेवाले, उन श्री भगवान् के चरणों में पुष्पों की अञ्जली को समर्पण करता हुआ विश्वशान्ति की कामना करता हूँ।

भावार्थ- पूजा करने के बाद पूजक विश्वशान्ति की कामना से पूजा के अन्त में पुष्पाञ्जलि क्षेपण करता है।

जुलाई, 2010

217. पूजन के अंत में 'आये जो-जो देवगण' बोलना आवश्यक नहीं

जिज्ञासा- नित्यपूजा के अन्त में शान्तिपाठ के बाद विसर्जन-पाठ बोला जाता है। इस विसर्जन-पाठ की अन्तिम पंक्तियाँ 'आये जो-जो देवगण पूजें भक्तिप्रमाण।' बोलना उचित है या नहीं ?

समाधान- किसी भी श्रावकाचार में क्रियाविधियों का उल्लेख नहीं पाया जाता है, अतः प्रामाणिकरूप से आगम का आधार लेकर आपके प्रश्न का उ ार नहीं दिया जा सकता। फिर भी-

1. पूज्य आर्यिका प्रशान्तमति माताजी ने 'शांतिधारा-रहस्य' नामक पुस्तक का अनुवाद करते हुए पृष्ठ 41 पर इस प्रकार लिखा है-

''विश्वशांति की कामना के साथ शांतिपाठ पढ़कर पूजा में होनेवाली अशुद्धियों तथा ज्ञाताज्ञात भाव से की गई गलतियों की क्षमायाचना की जाती है। इसके बाद 'बिन जाने वा जान के रही टूट जो कोय—' आदिरूप विसर्जन-पाठ के अन्त में पूजक यह भी पढ़ते हैं-

आये जो-जो देवगण पूजें भक्तिप्रमाण।
ते अब जावहु कृपाकर अपने-अपने थान॥

परन्तु यह कब पढ़ना चाहिये ? इस बात का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। जैसे प्रतिष्ठाकार्य अथवा विधानादि निर्विघ्नतापूर्वक स पन्न हों, इस उद्देश्य से प्रार भ में ही चतुर्निकाय के देवों को आमन्त्रित किया जाता है और जब प्रतिष्ठाकार्य आदि की पूर्णता हो जाती है, तब उनको स मानपूर्वक वापस ले जाने के लिए 'आये जो-जो देवगण——' कहा जाता है। जैसे जब तुम कोई सामान्य कार्य लोकव्यवहार में करते हो, तो उसकी सुरक्षा हेतु पुलिस या स्वयंसेवक आदि को बुलाते हो और कार्य की पूर्णता हो जाने के पश्चात् सस मान उनको वापस होने के लिए कहते हो। यहाँ प्रतिष्ठा-पूजा आदि में भी यही रूप है। धार्मिक कार्य या बड़े-बड़े

अनुष्ठान पूजा आदि जब कभी किये जाते हैं, तब इन देवों को आमन्त्रित करते हैं। तब तो पूजा के अन्त में 'आये जो-जो देवगण——।' बोलना उचित है। लेकिन नित्य पूजन के समय पूजक उनको कभी आमन्त्रित नहीं करता। **इसलिए नित्यपूजा के अन्त में 'आये जो-जो देवगण——आदि दोनों पंक्तियाँ नहीं बोलना चाहिये।**

2. ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि पुस्तक के प्रार भ में लिखे गये प्रास्ताविक वक्तव्य में डॉ0 ए0 एन0 उपाध्ये तथा पं0 फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने उपर्युक्त विषय पर पृष्ठ 29 पर इस प्रकार लिखा है-

'पंचकल्याणक की समस्त क्रिया मु यतया चतुर्निकाय के देव स पन्न करते हैं, इसलिए पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में उनका आह्वान और स्थापना की जाती है। तथा क्रियाविधि के स पन्न होने पर उनका विसर्जन भी किया जाता है। इसलिए वहाँ पर 'आये जो-जो देवगण—।' बोलने की सार्थकता भी है। देवपूजा में इसकी रञ्चमात्र भी सार्थकता नहीं है।'

उपर्युक्त दोनों लेखकों के अनुसार नित्यपूजा के अन्त में विसर्जन पाठ की अंतिम दोनों पंक्तियाँ बोलना उचित नहीं है।

नव बर, 2010

218. देव, शास्त्र और गुरु में बड़ा कौन

जिज्ञासा- सच्चे देव-शास्त्र और गुरु में, किसको बड़ा मानना चाहिए या तीनों को समान मानना चाहिए?

समाधान- उपर्युक्त प्रश्न का समाधान, विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रकार का हो सकता है। जैसे कोई कहता है कि सबसे बड़े तो अरिहन्त देव ही हैं, €योंकि यदि उनकी वाणी न खिरती, तो जिनवाणी का उद्गम कैसे होता और यदि जिनवाणी का उद्गम न होता, तो मुनिराज, मुनि के योग्य आचरण का अध्ययन और पालन कैसे करते। इसीलिए तो सभी जैनबन्धु सर्वप्रथम 'देव शास्त्र-गुरु' पूजा नित्य प्रातःकाल करते हैं। इसमें भी इसी अपेक्षा से क्रम रखा गया है।

अन्य दृष्टि के अनुसार तीनों को समान भी कहा गया है। जैसा कि पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका 1 / 68 में इस प्रकार कहा है-

संप्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलो€यचूडामणिः,
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिकाः।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समाल बनं,
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः॥ 68॥

अर्थ- वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली भगवान् इस भरतक्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं, तथापि समस्त भरतक्षेत्र में जगत्प्रकाशिनी केवली भगवान् की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधार-स्त भ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी हैं। इसलिए इन मुनियों का पूजन तो सरस्वती का पूजन है तथा सरस्वती का पूजन साक्षात् केवली भगवान् का पूजन है।

सागारधर्मामृत में पं0 आशाधर जी ने इस प्रकार कहा है-

ये यजन्ते श्रुतं भ€त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्।
न किञ्चिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः॥ 44॥

भावार्थ- जो मानव भक्तिपूर्वक जिनवाणी की पूजा करते हैं, वे निश्चय से जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करते हैं। €योंकि गणधरदेव ने जिनवाणी और जिनेन्द्रदेव में कुछ भी अन्तर नहीं कहा है। अर्थात् जो श्रुत है वह देव है, जो देव है वह श्रुत है।

श्री श्रुतसागरसूरि द्वारा लिखित बोधपाहुड़ गाथा 16 की टीका के नि न श्लोक में इस प्रकार कहा गया है-

ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरःसरः।
सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराÊधतरण्डकः॥

अर्थ- जो ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्ड में, शिक्षा और दीक्षा में, ऋषि, यति, मुनि और अनगार इन चार प्रकार के मुनियों के अग्रसर हैं तथा संसाररूपी समुद्र से पार करने के लिये नौका के समान हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी, देव के समान आराधना करने के योग्य हैं।

उपर्युक्त प्रमाणानुसार कथंचित् देव, शास्त्र और गुरु को समान भी कहा जा सकता है।

नव बर, 2008

219. चार-पाँच माह आदि की गर्भवती महिलाएँ पूजन आदि कर सकती हैं

जिज्ञासा- €या 4-5 माह की गर्भवती महिला को पूजा नहीं करनी चाहिए? आगमप्रमाण दें ?

समाधान- उपर्युक्त प्रश्न के संबंध में कोई आगमप्रमाण मेरी दृष्टि में नहीं आया। मैंने उपर्युक्त प्रश्न का उ ार मुनिसंघों और आर्यिकासंघों से पूछा तो समाधान प्राप्त हुआ कि 4-5 माह की गर्भवती महिला को पूजा से दूर करना कदापि उचित नहीं है। गर्भवती महिला के पूजा-स्तवन आदि से गर्भस्थ शिशु पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है, उसमें धार्मिक संस्कार बनते हैं। अतः प्रसूतिवाले दिन तक भी गर्भवती महिला को पूजा करनी चाहिए। मध्यप्रदेश के बहुत से स्थानों में ऐसी पर परा सुनने में आई है कि वे 4-5 माहवाली गर्भवती को आगे पूजा नहीं करने देते हैं, जब कि उ ारप्रदेश आदि में अंतिम दिन तक भी पूजा करने से नहीं रोका जाता, बल्कि ऐसी महिलाओं के साहस तथा गर्भस्थ शिशु के भाग्य की सराहना की जाती है। 4-5 माह की गर्भवती महिला को, मुनि को आहारदान देने से तथा बड़ी पूजा या विधान आदि में बैठने से अवश्य दूर रखा जाता है, जिसका कारण पूछने पर पूज्य आचार्यश्री ने एक बार बताया था कि मुनि आहार के समय में भीड़-भाड़ होने के कारण अथवा बड़ी पूजा आदि के काल में कई घण्टों तक व्यस्त रहने के कारण गर्भस्थ शिशु तथा गर्भवती महिला को असुविधा हो सकती है, जिसके कुछ गलत परिणाम भी हो सकते हैं। अतः आहार देने अथवा पूजा में बैठने से मना किया जाता है। परन्तु जिनपूजा से मना करने का तो प्रश्न ही नहीं है।

पूज्य आचार्यश्री के अनुसार, हमारी जो सामाजिक पर पराएँ आगमस मत न हों और हमें धर्म से दूर रखती हों, उनको बदल देना चाहिए। आशा है जिन स्थानों पर उपर्युक्त पर परा चल रही है, वे उपर्युक्त समाधान के अनुसार बदलने का प्रयत्न करेंगे।

दिस बर, 2009

220. व्रती गृहस्थ का पण्डितमरण नहीं, बालपण्डितमरण होता है

जिज्ञासा- सोलापुर से प्रकाशित 'अर्थप्रकाशिका' की प्रस्तावना में पं0 मन्नूलाल जी सागर ने पं0 सदासुखदास जी के देहत्याग को पण्डितमरण कहा है, जबकि पण्डितमरण तो मुनियों के ही होता है। €या ऐसा कथन करना उचित है ?

समाधान- सोलापुर से प्रकाशित 'अर्थप्रकाशिका' (तǍवार्थसूत्र की टीका, टीकाकार : पं0 सदासुखदास जी) के हिन्दी भाषा टीकाकार पं0 मन्नूलाल जी जैन, सागर ने ग्रन्थ की प्रस्तावना में पृष्ठ 25 पर इस प्रकार लिखा है- ''पण्डित जी का भाद्रपद कृष्ण 11 विक्रम संवत् 1922 को सल्लेखनापूर्वक **पण्डितमरण** हुआ था।'' उन्होंने पृष्ठ 26 पर पुनः लिखा है- **''पं0 सदासुखदास जी का जीवन एक आदर्श स यग्दृष्टि जैन गृहस्थ विद्वान् का जीवन था। उनका मरण भी पण्डितमरण था।**

उपर्यु€त प्रसङ्ग में सर्वप्रथम हमें पण्डितमरण का स्वरूप जानना चाहिये।

1. श्री भगवतीआराधना में पण्डितमरण का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है-

पायोपगमणमरणं भǍापइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडितमरणं साहुस्स जहुǍाचारिस्स।। 28।।

अर्थ- पादोपगमन मरण, भ€तप्रतिज्ञा और इंगिनी मरण, इस प्रकार पण्डितमरण तीन प्रकार का है। वह **शास्त्र में कहे अनुसार आचरण करनेवाले साधु के होता है।** सभी सदाचार वाले मनुष्य, वे संयमी हों या असंयमी, लोक में साधु श द से कहे जाते हैं। इसलिए **संयमी का ग्रहण** करने के लिए 'यथो तचारी' विशेषण दिया गया है।

2. आचार्य अमितगति प्रणीत 'मरणकण्डिका' में इस प्रकार कहा है-

पादोपगमनं भ€त, प्रतिज्ञामिङ्गिणी मृतिं।
वदन्ति पण्डितं त्रेधा, योगिनो यु€तचारिणः॥ 32॥

अर्थ- निर्दोष चारित्र का पालन करनेवाले साधुजनों का पण्डितमरण होता है। उसके तीन भेद हैं- भ€तप्रतिज्ञामरण, इंगिनीमरण और प्रायोपगमनमरण। **यह छठे से ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के होता है।**

3. श्री मूलाचार में इस प्रकार कहा है-

तिविहं भणंति मरणं, बालाणं बालपंडियाणं च।
तइयं पंडियमरणं जं केवलिणो अणुमरंति।। 59।।

अर्थ- मरण को तीन प्रकार का कहते हैं- बालजीवों का मरण, बालपण्डितों का मरण और तीसरा पण्डितमरण। इस पण्डितमरण को केवली मरण भी कहते हैं।

टीका- (आचारवृǍि) अरहन्त भट्टारक और गणधरदेव मरण के तीन भेद कहते हैं- बाल मरण, बालपण्डित मरण और पण्डित मरण। असंयत स यग्दृष्टि जीव बाल कहलाते हैं। इनका मरण बालमरण है। संयतासंयत जीव बालपण्डित कहलाते हैं, €योंकि एकेन्द्रिय जीवों के वध से विरत न होने से ये बाल हैं और द्वीन्द्रिय आदि जीवों के वध से विरत होने से पण्डित हैं, इसलिये इनका मरण बालपण्डित मरण है। पण्डितों का मरण अर्थात् देह-परित्याग अथवा शरीर का अन्यथा रूप होना **पण्डित मरण** है, जिसके द्वारा केवल शुद्ध

ज्ञान के धारी केवली भगवान् मरण करते हैं तथा **संयत मरण करते हैं।** यहाँ **संयत श द से छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक संयत विवक्षित है** योंकि संयम के स्वामी में सामान्यत: भेद नहीं है।

निष्कर्ष- उपर्युक्त तीनों शास्त्रों के अनुसार **पण्डित मरण केवल छठे गुणस्थान या उनके आगे वाले गुणस्थानवर्ती साधुओं** के होता है।

अब इस जिज्ञासा पर विचार किया जाता है कि पं0 सदासुखदास जी, देहत्याग के अवसर पर साधु अवस्था में थे या गृहस्थ अवस्था में। ताकि प्रश्नक र्ा की जिज्ञासा का उ र बन सके। पं0 सदासुखदास जी एक महान् विद्वान् थे। उनकी चिǽावृfिǽ सदाचारिता, आत्मनिर्भरता, अध्यात्म रसिकता, विद्वǽा, सच्ची धार्मिकता, धर्म और धर्मात्माओं के प्रति वात्सल्य, जिनवाणी की सेवा से ओतप्रोत थी। आपमें सन्तोष, सेवाभाव तथा जिनवाणी के प्रति अपार स्नेह था। आपके द्वारा लिखित रचनाओं से आपकी विद्वǽा की स्पष्ट झलक मिलती है। पं0 सदासुख ग्रन्थमाला, अजमेर से प्रकाशित श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आपका जीवन-परिचय अच्छी प्रकार दिया गया है। इस जीवन-परिचय का आलोड़न करने से ज्ञात होता है कि पण्डित जी आगम पर दृढ़ श्रद्धान रखनेवाले थे। परन्तु इस जीवन-परिचय में उनके द्वारा अन्तिम समय तक व्रतग्रहण अर्थात् प्रतिमा धारण अथवा मुनिपद धारण का कोई उल्लेख नहीं मिलता। मरण के भेदों के अनुसार स यग्दृष्टि जीव के मरण को बालमरण, व्रती श्रावक के मरण को बालपण्डित मरण तथा निर्ग्रन्थ साधु के मरण को पण्डित मरण माना गया है। पण्डित जी ने अन्तिम समय में मुनि अवस्था धारण नहीं की थी, अत: उनके मरण को उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार पण्डित मरण कहना कैसे उचित कहा जा सकता है ?

उनके मरण को दृढ़श्रद्धानी होने के कारण बालमरण कहना उचित है अथवा यदि व्रत धारण किये हों तो बालपण्डित मरण कहना आगमदृष्टि से उचित होगा। अगस्त, 2010

221. रात्रि बारह बजे के बाद दूसरा दिन प्रार भ नहीं होता है

जिज्ञासा- हमने अष्टमी व चतुर्दशी को ब्रह्मचर्य से रहने का नियम लिया है। हमको अष्टमी और चतुर्दशी रात के बारह बजे तक (अंग्रेजी प्रचलन के अनुसार) अथवा सूर्योदय तक माननी चाहिये ? कृपया स्पष्ट करें।

समाधान- आपके प्रश्न के समाधान में उपलǽध श्रावकाचारों में कोई वर्णन प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि उस समय अंग्रेजी तारीखों का प्रचलन नहीं था। इस स बन्ध में मुनिराजों से और विभिन्न विद्वानों से चर्चा की गई, तो निष्कर्ष यह प्राप्त हुआ कि अष्टमी और चतुर्दशी के नियम का पालन अष्टमी के प्रात:काल से नवमी के सूर्योदय तक होना चाहिये। यह कथन युक्तिसंगत भी प्रतीत होता है, योंकि यदि अष्टमी का संयम रात के बारह बजे तक ही पाला जाये और उसके बाद असंयमरूप प्रवृfि ा उचित मान ली जाये, तो फिर नियम लेने का औचित्य ही क्या रह जाता है ? अत: रात के बारह बजे तक नियम पालन करने की पद्धति गलत है। और भी, यदि कोई महिला किसी दिन सूर्यास्त के बाद मासिक धर्म की अशुद्धि से सहित होती है, तो उसका वह दिन पहला दिन नहीं माना जाता है। उसके तीन दिन की गणना अगले दिन से प्रार भ होती है। इसी प्रकार मरण या जन्म के सूतक के दिन भी गिनने चाहिये। मरण के सूतक के दिनों की गणना, मृत्यु के दिन की बजाय, जिस दिन मृतदेह का अन्तिम संस्कार हो, उसको पहला दिन मानकर करनी चाहिये।

दिस बर, 2010

222. अष्टांग नमस्कार उचित है या नहीं

जिज्ञासा- €या भगवान् को जैन पद्धति के अनुसार जमीन पर लेटकर दंडवत् प्रणाम करना उचित नहीं है?

समाधान- प्रथमानुयोग में तो भगवान् आदि को नमस्कार करते समय दण्डवत् करने का उल्लेख नहीं मिलता है। मेरी दृष्टि में जहाँ भी प्रणाम के प्रसंग आये हैं, वहाँ घुटने मोड़कर ढोक देने के ही प्रमाण उपलŽध होते हैं। कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं-

1. आदिपुराण भाग 2 पर्व 33 में इस प्रकार कहा है-

रत्यप्रत€र्य माहात यं दूरादालोकयन् जिनम्।
प्रह्वोऽभूत्स महीस्पृष्टजानुरानंदनिर्भरः॥ 123॥

अर्थ- ऐसे अचिन्त्य माहात य के धारक श्री जिनेन्द्र भगवान् को दूर से ही देखते हुये भरत महाराज आनंद से भर गये तथा उन्होंने अपने दोनों घुटने जमीन पर टेककर श्री भगवान् को नमस्कार किया।

2. आदिपुराण भाग 1 सर्ग 23 में इस प्रकार कहा है-

प्रदृश्याथ दूरान्नत स्वोŽामांगाः सुरेन्द्राः प्रणेमुर्मही स्पृष्ट जानु।
किरीटाग्रभाजां स्रजां मालिकाभिर्जिनेन्द्राङ्घ्रियुग्मं स्फुटं प्रार्चयन्तः॥ 99॥

अर्थ- दर्शनकर, दूर से ही जिन्होंने अपने मस्तक नम्रीभूत कर लिये हैं, ऐसे इन्द्रों ने जमीन पर घुटने टेककर उन्हें प्रणाम किया। प्रणाम करते समय वे इन्द्र ऐसे जान पड़ते थे, मानो अपने मुकुटों के अग्रभाग में लगी हुई मालाओं के समूह से जिनेन्द्र भगवान् के दोनों चरणों की पूजा ही कर रहे हों।

3. भावप्राभृत गाथा 1 की टीका में इस प्रकार कहा है-

''आचार्योपाध्यायसर्वसाधून् त्रिविधान् मुनीन् नत्वा, केन उŽामांगेन जानुकूर्परशिरः पंचकेन प्रणिपत्येत्यर्थः।''

अर्थ- आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन तीन प्रकार के मुनियों को दो घुटने, दो कोहनी और शिर इन पाँच अंगों से नमस्कार करके ग्रंथ को कहूँगा।

4. पद्मपुराण पर्व 14 में इस प्रकार कहा है-

जानु यां ुविमाक्र य प्रण य मुनिमादरात्।
अन्यानपि महाशक्ति नियमान् स समार्जयत्॥ 375॥

अर्थ- इसके सिवाय उसने (दशानन ने) पृथ्वी पर घुटने टेक मुनिराज को आदरपूर्वक नमस्कार कर और भी बड़े-बड़े नियम लिये। पद्मपुराण भाग 1 पृष्ठ 21 पर भी इसी प्रकार वर्णन है।

इन सभी प्रमाणों से ज्ञात होता है कि शास्त्रों में दंडवत् प्रणाम का उल्लेख नहीं मिलता है। कुछ साधर्मी भाई अन्य धर्म के लोगों को देखकर मंदिर जी में जो दंडवत् करने लगे हैं, वह प्रथा उचित नहीं है।

मार्च, 2008

223. आचार्य शान्तिसागर जी स्त्री अभिषेक के समर्थक नहीं थे

जिज्ञासा- €या चा.च. आ. शांतिसागर जी महाराज स्त्री-अभिषेक के समर्थक थे ?

समाधान- चा.च. आ. शांतिसागर जी महाराज के दर्जनों जीवनचरित्र अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें अति प्राचीन जीवनचरित्र **'आचार्य श्री शांतिसागर महामुनि का चरित्र'** मुझे प्राप्त हुआ है। यह जीवनचरित्र सखाराम नेमचंद जैन ग्रंथमाला, जिसके ट्रस्टी श्री पार्श्वनाथ दिग बर जैन मंदिर ट्रस्ट, 204-205 कालवादेवी, मुंबई थे, उनके द्वारा सन् 1932 में प्रकाशित किया गया था। इसके लेखक भी सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व. श्री पं. वंशीधर शास्त्री सोलापुर थे। इस चरित्र के पृष्ठ 136 पर इस प्रकार लिखा है-

''संघ शाहपुर चैत्र शु.1 बुधवार संवत् 1986 के दिन आया। यह सागर जिले का गाँव है। जैन-जैनेतर सभी की तरफ से स्वागत हुआ। प्रश्नो रों में एक प्रश्न आचार्य महाराज के सामने यह आया कि **स्त्री जिनमूर्ति का अभिषेक करे या नहीं ? आचार्य महाराज ने उसका निषेध किया।**''

कृपया उपर्युक्त प्रकरण पढ़कर निर्णय करें। यदि आप पत्र लिखेंगी, तो आपको फोटो कापी भेज दी जायेगी।

अगस्त, 2008

224. विधवा स्त्री संयम सहित जीवनयापन करे

जिज्ञासा- विधवा स्त्री का रहन-सहन आदि किस प्रकार होना चाहिए, €या इसका शास्त्रों में कोई वर्णन मिलता है ? यदि मिलता हो तो बताएँ ?

समाधान- श्री शुभचन्द्राचार्य विरचित पाण्डव पुराणम् (भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् प्रकाशन) के पर्व 13, पृष्ठ-283 पर इसप्रकार कहा है-

'विधवा स्त्री सभा में कदापि नहीं शोभती है। विधवा स्त्री को आँखों में अंजन लगाना अर्थात् काजल लगाना, सुरमा से आँखे आँजना आदि शृंगारिक कार्य त्याज्य हैं, लज्जाजनक हैं। ता बूल भक्षण करना भी उसे वर्ज्य ही है, अलंकार के समान अन्य रंगयुक्त वस्त्रधारण करना भी शोभाजनक नहीं है, अर्थात् विधवा स्त्री का अंलकार धारण करना और सुंदर तरह-तरह के चित्र-विचित्र वस्त्र धारण करना भी लज्जाजनक है। उसे सफेद वस्त्र धारण कर, भूषण रहित अवस्था में रहना ही शुभ माना गया है। पति मरने पर अथवा गृह त्यागकर निकल जाने पर स्त्रियाँ संयम धारण करें। तपश्चरण से वह अपना देह क्षीण करें। श्रावक के षट्कर्मों में अपना समय लगावें, स्पर्श आदि विषयों के प्रति गमन करनेवाली इंद्रियाँ क्षीण करें। भोजन, वस्त्र धारण करना, शृंगारिक बातें करने का चातुर्य, जीवों, धन और शरीर के ऊपर स्नेह, ये बातें बिना पति के स्त्रियों के लिए शोभाप्रद नहीं हैं।

अ टूबर, 2009

225. प्यूरीफायर का पानी भी छानकर पीना चाहिये

जिज्ञासा- आजकल बाजार में विभिन्न ब्राण्ड के बहुत प्रकार के वाटर प्यूरीफायर उपलŽध हैं। मैं छना पानी ही पीती हूँ, तो या इन प्यूरीफायर प्लान्टों से निकला हुआ जल बिना कपड़े के छन्ने से छाने पी सकती हूँ या नहीं ?

समाधान- जैन शास्त्रों में पानी छानकर पीने का विधान, उस पानी में पाये जानेवाले त्रस जीवों की रक्षा के लिये कहा गया है। शास्त्रों के अनुसार जिस कुंए से पानी लाया जाए, उसी कुंए में कुण्डेवाली बाल्टी के द्वारा सरलता से पानी छानने के उपरान्त जिवानी का जल क्षेपण करना चाहिये। यदि वह जिवानी का जल ऊपर से डाल दिया जाता है, तो उन जीवों का घात हो जाता है और इससे पानी छानने का वास्तविक अर्थ सिद्ध नहीं होता।

बाजार में जितने भी वाटर प्यूरीफायर हैं, उनमें से किसी में भी ऐसी सुविधा उपल[illegible] ध नहीं है, जिसके द्वारा पानी छानने के बाद जिवानी को सुरक्षित मूल स्थान पर पहुँचाया जा सके। अत: व्रती के द्वारा इन वाटर प्यूरीफायर प्लान्टों से निकला हुआ जल पीने योग्य नहीं रहता। इन प्लान्टों में तो जल में पाये जानेवाले त्रस जीव वहीं मरते और सड़ते रहते हैं, अत: इनमें तो और भी अधिक अशुद्धि रहती है।

यदि यह प्रश्न किया जाए कि इन प्लान्टों से निकले हुये जल में त्रस जीव हैं या नहीं ? तो इसका उŠार यह बनेगा कि इन प्लान्टों में कपड़े के छन्ने से अधिक सूक्ष्म पानी छाननेवाली पद्धति का प्रयोग होने से जो पानी प्लान्ट से निकला है, उसमें त्रस जीव नहीं होने चाहिये। देखा जाता है कि आर. ओ. प्लान्ट से जो जल प्राप्त किया जाता है, उसके एक घड़े भरने में आधा घण्टे से अधिक समय लग जाता है। अत: उस जल में भी एक मुहूर्त के बाद त्रस जीवों की उत्पŠिा मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

वर्तमान में बहुत से साधर्मी भाई बाजार से मिनरल वाटर की बोतल खरीदकर और उसे अच्छा छना हुआ जल मानकर पीने लगे हैं। उनको इस बात पर भी विचार करना चाहिये कि वह बोतल न मालूम कितने दिन पूर्व भरी गई थी ? जैन शास्त्रों के अनुसार तो 48 मिनट बाद उस पानी में त्रस जीवों की उत्पŠिा होनी ही है। अत: **मिनरल वाटर को छना हुआ जल मानकर नहीं पिया जा सकता।**

226. नवनीत की मर्यादा मुहूर्त प्रमाण का घी शुद्ध है

जिज्ञासा - नवनीत को अभक्ष्य कहा है, फिर उससे बना घी भक्ष्य कैसे हो सकता है ?

समाधान - क. नवनीत के संबंध में सागारधर्मामृत में इस प्रकार कहा है-

मधुवन्नवनीतं च, मुंचेŠात्रापि भूरिश:।
द्विमुहूर्तात्परं शश्वत्, संसजन्त्यंगिराशय:॥ ख/क्ख॥

अर्थ - मधु की तरह म[illegible] खन को भी छोड़ना चाहिये, [illegible] योंकि म[illegible] खन में भी दो मुहूर्त के बाद निरंतर बहुत से जीवसमूह उत्पन्न होते रहते हैं।

ख. श्री अमितगति श्रावकाचार (भ-फम) में इस प्रकार कहा है-

यन्मुहूर्तयुगलं परं सदा, मूर्च्छति प्रचुरजीवराशिभि:।
तद् गिलंति नवनीतमत्र ये ते व्रजंति खलु कां गतिं मृता:॥

अर्थ - जिस नवनीत में दो मुहूर्त के पश्चात् प्रचुर जीवराशि सदा उत्पन्न होती रहती है, उस नवनीत को जो लोग यहाँ पर खाते हैं, वे मरकर कौन सी गति में जाते हैं, यह हम नहीं जानते।

फ. सागारधर्मामृत की स्वोपज्ञटीका में पं. आशाधर जी ने एक श्लोक और भी दिया है-

अंतर्मुहूर्तात्परतः, सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः।
यत्र मूर्च्छंति नाद्यं तन्नवनीतं विवेकिभिः॥

अर्थ - जिसमें अंतमुहूर्त के बाद सूक्ष्म जंतुओं का समूह उत्पन्न हो जाता है, ऐसा नवनीत विवेकी जनों को नहीं खाना चाहिए।

उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार यदि म€खन तुरन्त ही खाया जाय या तुरन्त ही घी बनाने में प्रयोग करें, तो मर्यादित कहा गया है। अतः ऐसी विधि से बनाया गया घी भी भक्ष्य की कोटि में आता है।

जनवरी, 2007

227. रात्रिभोजन मांसभक्षण के समान

जिज्ञासा- €या शास्त्रों में रात्रिभोजन करने को मांस भक्षणवत् कहा है या वर्तमान में कुछ साधु तथा विद्वान्, अतिशयोि[] त करते हुये कहते हैं ?

समाधान- श्रावक के आचरण के संबंध में, श्रावकाचार ग्रंथों में भलीप्रकार वर्णन किया गया है। रात्रि भोजन करने में त्रस जीवों की हिंसा भी होती है और त्रस जीवों के खाने में आ जाने से मांसभक्षणवत् दोष भी होता ही है। इस संबंध में शास्त्रों के नि न प्रमाण दृष्टव्य हैं-

(1) श्री सर्वोपयोगी श्लोक संग्रह पृष्ठ 166 पर कहा है-

पतन्ति बहवो जीवा, अन्नभाजनवह्निषु।
मांसदोषस्तथा हिंसा, तस्मात् त्याज्यं निशाशनम्॥ 46॥

अर्थ- रात्रि में अन्न के बर्तन तथा अग्नि आदि में अनेक जीव पड़ते हैं। जिससे **मांस खाने का दोष** तथा हिंसा होती है। अतः रात्रिभोजन छोड़ने के योग्य है। 46।

(2) श्री पद्मकृत श्रावकाचार में रात्रिभोजन के संबंध में पृष्ठ 43 पर इस प्रकार कहा है-

रात्रै भोजन जो कीजीइए, नरेसुआ तो ते जीव हुइ भक्ष।
मांस आहार सम ते सहीए, नरेसुआ दूषण दीसे समक्ष॥

अर्थ- रात्रिभोजन जो करता है वह उन त्रस जीवों को भी खा लेता है। अतः वह रात्रिभोजन **मांस आहार के समान** ही है। उसीतरह का दूषण सामने ही दिखता है।

(3) रात्रिभोजन का वर्णन करते हुये 'दौलतराम कृत क्रियाकोष' में पृष्ठ 382 पर इस प्रकार कहा है-

मांस अहारी सारिखे, निशि भोजी मतिहीन।
जनम-जनम या पाप तैं, लहैं कुगति दुखदीन॥ 98॥

अर्थ- जो बुद्धिहीन पुरुष रात्रिभोजन करते हैं वे **मांसाहारी के समान ही हैं।** इस पाप के कारण वे जन्म-जन्म में दुःखी और दीन होते हुये कुगति को प्राप्त करते हैं।

(4) 'लाटी संहिता' में रात्रिभोजन के संबंध में इस प्रकार कहा है-

म्रियन्ते जन्तवस्तत्र झंपापातात्समक्षतः।
तत्कलेवर सं मश्रं तत्कुतः स्यादनामिषम्॥ 52॥

अर्थ- वह त्रस जीवों का समुदाय जरा सी हवा का झकोरा लगने मात्र से ही अपने देखते-देखते मर

जाता है तथा उनका कलेवर उड़-उड़ कर सब भोज्य में मिल जाता है। ऐसी हालत में रात्रिभोजन का त्याग न करने वालों के मांस का त्याग कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता अर्थात् उनके **मांस भक्षण के समान ही दोष लगता है।**

जैनों के कुलाचार में इसीलिये रात्रिभोजन त्याग कहा गया है। उपरो€त प्रमाणों पर अच्छी तरह गौर करके पढ़ने और चिंतन के बाद, जैन मात्र को रात्रिभोजन का त्याग अवश्य ही करना चाहिये।

जून-जुलाई, 2007

228. राई और नमक मिलाकर खाना अभक्ष्य

जिज्ञासा- □ या राई और नमक मिलाकर खाना अभक्ष्य है ?

समाधान- वर्तमान में राई और नमक मिलाकर खाने का प्रचार बहुत देखा जा रहा है। दक्षिण भारत में जो भी डोसा, इडली आदि खाये जाते हैं या दाल वगैरह में छोंक लगाया जाता है, उन सब में राई और नमक का मिश्रण पाया जाता है। इसके संबंध में किशनसिंह श्रावकाचार में इसप्रकार कहा है-

राई लूण भेल जिहि मांहिं, करे रायता मूरख खांहिं।
राई लूण परै निरधार, उपजै जीव सिताव अपार॥ 112॥
राई लूण मिलो जो द्रव्य, ताहि सर्वथा तजिहै भव्य।

अर्थ- राई और नमक जिसके अन्दर मिले हों, उसका रायता बनाकर मूर्ख लोग भक्षण करते हैं। जहाँ राई और नमक मिलाया जाता है, उसमें अपार जीवों की उत्पŽा होती है। इसलिए जो भव्य जीव हैं वे राई और नमक मिली हुईं जो भी वस्तुएँ हैं, उनका सर्वथा त्याग करते हैं।

जुलाई, 2009

229. आलू को प्रासुक करो, फिर भी सेवनयोग्य नहीं

जिज्ञासा- आलू को हल्दी या सोंठ की तरह वरक बनाकर गर्म पानी में अचि□ ा करके खा सकते हैं या नहीं ?

समाधान- इस प्रश्न का उŽार भी पं0 मु तार जी ने एक बार इस प्रकार दिया था- खाया तो जा सकता है, पर जिस तरह हल्दी तथा सोंठ अत्यन्त कम मात्रा में काम में लाई जाती है, उसी प्रकार यह भी उनके तुल्य ही काम में लाई जाये। ज्यादा नहीं। परन्तु रसना इन्द्रिय की इतनी ल पटता को धि€कार है, जो अनन्तानन्त जीवों की हिंसा करके भी आलू ही खाना चाहते हो।

सित बर, 2010

230. संकल्प और विकल्प में अन्तर

जिज्ञासा- संकल्प और विकल्प में □ या अंतर होता है ?

समाधान- श्री परमात्म प्रकाश गाथा 16 की टीका में श्री ब्रह्मदेवसूरि ने इस प्रकार कहा है-

''बहिर्द्रव्यविषये पुत्रकलत्रादि चेतनाचेतनरुपे ममेद-मिति स्वरूपः संकल्पः, अहं सुखी दुः ीत्यादि चिŽा गतो हर्षविषादादि परिणामो विकल्प इति।''

अर्थ- बहिरंग वस्तु पुत्र, स्त्री आदि चेतन तथा अचेतन के विषय में, 'ये मेरे हैं' ऐसा ममत्व परिणाम

संकल्प कहलाता है तथा मैं सुखी, मैं दु:खी इत्यादि चिŽा में होने वाले हर्ष-विषादादि रूप परिणामों को विकल्प कहा जाता है।

इस प्रकार इन दोनों में अंतर पाया जाता है।

जून-जुलाई, 2007

231. हींग, मिर्च आदि भी भाण्ड हैं

जिज्ञासा- 'भाण्ड' शŽद का €या अर्थ होता है ?

समाधान- बाह्य परिग्रह के दस भेद कहे गए हैं-क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-स्वर्ण, धन-धान्य, दासी-दास, कुप्य और भाण्ड। इनमें से भाण्ड शŽद का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये-

1. मूलाचार गा. 408 की टीका में कहा है- कपास आदि कुप्य कहलाते हैं और हींग, मिर्च आदि को 'भाण्ड' कहते हैं।

2. संस्कृत-हिन्दी आप्टे कोष में भाण्ड का अर्थ इस प्रकार दिया है- पात्र, बर्तन, बासन (थाली, कटोरी, गिलास) औजार या उपकरण तथा मिर्च-मसाले आदि।

उपर्युक्त प्रमाणों से भाण्ड शŽद का अर्थ विभिन्न धातु एवं विभिन्न प्रकार के बर्तन, विविध प्रकार के यंत्र तथा घर के काम में आनेवाले मसाले आदि लेने चाहिए।

अप्रैल, 2009

232. सल्लेखना के ोद

जिज्ञासा- सल्लेखना के भेद अच्छी प्रकार समझाइये ?

समाधान- उपर्युक्त जिज्ञासा का समाधान भगवती आराधना आदि ग्रन्थों के अनुसार यहाँ दिया जा रहा है।

सल्लेखना मरण तीन प्रकार का बताया गया है- 1. भक्तप्रत्या यान 2. इंगिनीमरण 3. प्रायोपगमन

1. भक्तप्रत्या यान- जिस सल्लेखना में अन्न-पान को कम करते हुए धीरे-धीरे छोड़ा जाता है, उसे भक्तप्रत्या यान कहते हैं। इसका न्यूनतम काल अन्तर्मुहूर्त और अधिकतम 12 वर्ष है। इसमें आराधक, आत्मा के अलावा समस्त पर वस्तुओं से रागद्वेष आदि छोड़ता है और अपने शरीर की सेवा स्वयं भी करता है और दूसरों से भी कराता है। जिस दिन बारह वर्ष का काल पूरा होता है, उस दिन के उपरान्त मरण पर्यन्त तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है। इसके दो भेद हैं-

1. **सविचार भक्तप्रत्या यान**- इसमें आराधक अपने संघ को छोड़कर दूसरे संघ में जाकर सल्लेखना ग्रहण करता है। यह सल्लेखना बहुत काल बाद मरण होने तथा शीघ्र मरण न होने की हालत में विचारपूर्वक उत्साह-सहित धारण की जाती है।

2. **अविचार भक्तप्रत्या यान**- जिस आराधक की आयु अधिक नहीं है और शीघ्र मरण होने वाला है, तथा दूसरे संघ में जाने का समय नहीं है और शक्ति भी नहीं है, वह मुनि यह सल्लेखना ग्रहण करता है। इसके तीन भेद कहे गये हैं-

(अ) निरुद्ध- दूसरे संघ में जाने की पैरों में सामर्थ्य न रहे, शरीर थक जाये, अथवा घातक रोग, व्याधि

या उपसर्ग आदि आ जाये और अपने संघ में ही रुक जाए, उस हालत में मुनि इस समाधिमरण को ग्रहण करता है। यदि उसकी सल्लेखना वि यात हो जाती है तो प्रकाश कहलाती है और यदि वि यात नहीं होती है तो अप्रकाश कहलाती है।

(आ) निरुद्धतर- सर्प, अग्नि, व्याघ्र आदि पशु, व्यंतर तथा दुष्ट पुरुषों आदि के द्वारा मरण समय उपस्थित हो जाने पर आयु का अन्त जानकर निकटवर्ती आचार्य आदि के समीप अपनी निन्दा, गर्हा आदि करता हुआ शरीर त्याग करता है, तो उसे निरुद्धतर अविचार भक्तप्रत्या यान समाधिमरण कहते हैं।

(इ) परमनिरुद्ध- सर्प, सिंह आदि के भीषण उपद्रव आने पर वाणी रुक जाये, बोल न निकल सके, ऐसे समय में मन में ही अरहन्तादि पंचरमेष्ठियों के प्रति अपनी आलोचना करता हुआ साधु, शरीर का त्याग करता है, उसे परमनिरुद्ध अविचार भक्तप्रत्या यान सल्लेखना कहते हैं।

(2) इंगिनीमरण- जिस सल्लेखना में क्षपक अपने शरीर की परिचर्या स्वयं तो करता है, पर दूसरों से नहीं कराता है, उसे इंगिनीमरण कहते हैं। इसमें क्षपक स्वयं ही उठता है, स्वयं ही बैठता है, स्वयं ही लेटता है और अन्य समस्त क्रियाएँ स्वयं ही करता है।

(3) प्रायोपगमन- जिस सल्लेखना में क्षपक अपनी सेवा परिचर्या न तो स्वयं करता है, न अन्य से कराता है, उसे प्रायोपगमन कहते हैं। इस सल्लेखना में क्षपक शरीर को लकड़ी की तरह छोड़कर आत्मा की ओर ही लक्ष्य रखता है और निरन्तर आत्मध्यान में रत रहता है। यह सल्लेखना अंतिम अवस्था में पहुँचने पर ही प्रबल संहननधारियों के द्वारा ग्रहण की जाती है।

जून, 2009

233. स य€त्व की भावनाएँ

जिज्ञासा- तŠवार्थ सूत्र में पाँचों व्रतों की 5-5 भावनाओं का वर्णन है। परन्तु स य€त्व की नहीं। तो €या अन्य ग्रंथों में स यग्दर्शन की भावनाओं का वर्णन उपलŠध है या नहीं ?

समाधान- श्री आदिपुराण सर्ग 21 श्लोक नं. 97 में स यग्दर्शन की सात भावनायें इस प्रकार कहीं हैं-

संवेग-प्रशम-स्थैर्यमसंमूढत्वमस्मयः।
आस्ति€यमनुकंपेति ज्ञेयाः स य€त्वभावनाः॥

अर्थ- संसार से भय होना, शांत परिणाम होना, धीरता रखना, मूढताओं का त्याग करना, गर्व नहीं करना, श्रद्धा रखना और दया करना, ये स यग्दर्शन की 7 भावनायें जानने योग्य हैं।

234. जैन शास्त्रों में भी प्राणायाम के प्रसङ्ग

जिज्ञासा- €या जैन शास्त्रों में प्राणायाम का वर्णन मिलता है ? €या प्राणायाम, धार्मिक दृष्टि से ध्यान में सहायक है या नहीं ?

उ ार-जैन शास्त्रों में प्राणायाम का वर्णन मिलता है। प्राणायाम €या है ? श्वास को धीरे-धीरे अंदर खींचना कुंभक है, उसे रोके रखना पूरक है, और फिर धीरे-धीरे बाहर छोड़ना रेचक है। ये तीनों मिलकर प्राणायाम संज्ञा को प्राप्त होते हैं। जैनेतर लोग, ध्यान व समाधि में इसको प्रमुख मानते हैं परंतु जैनाचार्य इसको

इतनी मह॥ नहीं देते। ॥ योंकि चि॥ ा की एकाग्रता हो जाने पर श्वासनिरोध स्वत: होता है। इस संबंध में कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं-

1. श्री राजवार्तिक अध्याय 9 सूत्र नं. 27 की टीका में इस प्रकार कहा है-

प्रश्न- श्वासोच्छ्वास के रोकने को ध्यान कहना चाहिये।

उ॥ ार-नहीं, ॥ योंकि इसमें श्वासोच्छ्वास रोकने की वेदना से शरीरपात होने का प्रसंग है। इसलिये ध्यानावस्था में श्वासोच्छ्वास का प्रचार स्वाभाविक होना चाहिए।

2. श्री आदिपुराण पर्व 21 श्लोक नं. 65-66 में इस प्रकार कहा है-

अतिशय तीव्र प्राणायाम होने से अर्थात् बहुत देर तक श्वासोच्छ्वास के रोक रखने से इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में न करनेवाले पुरुष का मन व्याकुल हो जाता है। जिसका मन व्याकुल हो गया है उसके चि॥ ा की एकाग्रता नष्ट हो जाती है और ऐसा होने से उसका ध्यान भी टूट जाता है। इसलिए शरीर से ममत्व छोड़ने वाले मुनि के ध्यान की सिद्धि के लिये मंद-मंद उच्छ्वास लेना और पलकों के लगने-उघडने आदि का निषेध नहीं है।

3. परमात्मप्रकाश 2/162 की टीका में इस प्रकार कहा है-

पातंजलिमत वाले वायु धारणा रूप श्वासोच्छ्वास मानते हैं। वह ठीक नहीं है। €योंकि वायुधारणा वांछापूर्वक होती है। वांछा तो मोह से उत्पन्न विकल्प रूप है। वांछा मोह का कारण है। वायुधारणा से मुक्ति नहीं होती, €योंकि वायुधारणा शरीर का धर्म है, आत्मा का नहीं। यदि वायुधारणा से मुक्ति होवे तो वायुधारणा करने वालों को इस पंचम काल में मोक्ष €यों न होवे ? अर्थात् वायुधारणा से मुक्ति नहीं होती। इससे देह आरोग्य होता है, सब रोग मिट जाते हैं, शरीर हल्का हो जाता है, परंतु इससे मुक्ति नहीं होती है।

4. ज्ञानार्णव सर्ग 29 व 30 में इस प्रकार कहा है-

प्राणायाम में पवन के साधन से विक्षिप्त हुआ मन स्वास्थ्य को प्राप्त नहीं होता। इस कारण भले प्रकार की समाधि के लिये प्रत्याहार (इन्द्रियों तथा मन को विषयों से हटाकर ध्येय वस्तु पर लगाना) करना श्रेष्ठ है। पवन का चातुर्य शरीर को सूक्ष्म-स्थूलादि करने रूप अंग का साधन है। इस कारण मुक्ति की वांछा करने वाले मुनि के लिये, प्राणायाम प्राय: विघ्न का कारण है। प्राणायाम में प्राणों को रोकने से पीड़ा होती है, पीड़ा से आ॥ र्ध्यान होता है, और उस आ॥ र्ध्यान से त॥ वज्ञानी मुनि अपने लक्ष्य से छूट जाता है। फिर भी मन की एकाग्रता के लिये प्राणायाम कथंचित् इष्ट भी है।

मार्च, 2008

235. पद्मावती के मस्तक पर स्थित पार्श्वनाथ प्रतिमा पूज्य नहीं है

जिज्ञासा- वर्तमान में पद्मावती देवी की बहुत सारी मूर्तियाँ निर्मित हुई हैं, जिनमें पद्मावती देवी के मस्तक पर भ. पार्श्वनाथ विराजमान हैं। तो ॥ या वास्तव में पद्मावती देवी ने भ. पार्श्वनाथ को उपसर्ग के समय अपने मस्तक पर उठाया था ? अथवा ये मूर्तियाँ काल्पनिक हैं ?

समाधान - भ. पार्श्वनाथ का प्राचीनतम जीवनचरित्र वर्णन उŠारपुराण से प्राप्त होता है। उŠारपुराण पर्व 73 पृ.438 पर इस प्रकार कहा गया है - ''तदनन्तर जिस वन में दीक्षा ली थी उसी वन में जाकर तीर्थंकर

पार्श्वनाथ देवदारू नामक एक बड़े वृक्ष के नीचे विराजमान हुए। ..... वे सात दिन का योग लेकर धर्मध्यान को बढ़ाते हुए विराजमान थे। इसी समय कमठ का जीव संवर नाम का असुर आकाश मार्ग से जा रहा था कि अकस्मात् उसका विमान रुक गया। जब उसने विभंगज्ञान से इसका कारण देखा, तो उसे अपने पूर्व भव का सब बैर-बंधन स्पष्ट दिखने लगा। फिर या था, क्रोधवश उसने महागर्जना की, और महावृष्टि करना शुरु कर दिया। इस प्रकार यमराज के समान अतिशय दुष्ट उस दुर्बुद्धि ने सात दिन तक लगातार भिन्न-भिन्न प्रकार के महा उपसर्ग किये। यहाँ तक कि छोटे-छोटे पहाड़ तक लाकर उनके समीप गिराए। (134-138)। अवधिज्ञान से यह उपसर्ग जानकर धरणेन्द्र अपनी पत्नी के साथ पृथ्वीतल से बाहर निकला। उस समय वह धरणेन्द्र, जिस पर रत्न चमक रहे हैं, ऐसे फणारूपी मण्डप से सुशोभित था। **धरणेन्द्र भगवान् को फणाओं के समूह से आवृत कर खड़ा हो गया और उसकी पत्नी मुनिराज पार्श्वनाथ के ऊपर बहुत ऊँचा वज्रमय छत्र तानकर स्थित हो गयी॥ क्फ--क्ब॥**

उपर्युक्त आगम प्रकरण से यह स्पष्ट होता है कि भ. पार्श्वनाथ को धरणेन्द्र ने अपने फणाओं से आवृत किया था और उसकी पत्नी ने भगवान् के ऊपर वज्रमय छत्र ताना था। भ. पार्श्वनाथ की जो प्राचीन मूर्तियाँ छठी शताŽदी से दशवीं शताŽदी तक की प्राप्त होती हैं, उनमें भी धरणेन्द्र की पत्नी को छत्र तानते हुए ही दिखाया गया है। इन प्रकरणों से स्पष्ट होता है कि पद्मावती द्वारा (उŽारपुराणकार ने धरणेन्द्र की पत्नी के रूप में पद्मावती का नाम नहीं लिखा है) भ. पार्श्वनाथ को सिर पर उठाने का प्रसंग आगमस मत नहीं है। अत: ऐसी मूर्तियों को आगमानुसार कैसे माना जाये ?

अगस्त, 2006

236. दि पालों व शासन देवों को अर्घ्य नहीं चढ़ाना चाहिये

जिज्ञासा- या दि पालों अथवा शासन देवों को अर्घ्य चढ़ाना उचित है ?

समाधान- दिग बर जैनधर्म के सिद्धान्तों के अनुसार पूज्यनीय तो ये नव देवता हैं- पांच परमेष्ठी, जिनधर्म, जिन आगम, जिनबि ब और जिन मंदिर। ये शासन देवता या दि€पाल नव देवताओं में नहीं आते। ये हमारे साधर्मी अथवा क्षेत्ररक्षक हैं। इनका किसी पंचकल्याणक विधान आदि के अवसर पर जो आह्वान किया जाता है वह उनकी पूजा के लिये नहीं किया जाता, बल्कि साधर्मी के रूप में 'हमारे साथ आकर पूजा करें' इसप्रकार भक्ति के लिये आमंत्रण के रूप में किया जाता है। पंचकल्याणक प्रतिष्ठा आदि के प्रतिष्ठा ग्रन्थों के अनुसार जिस स्थान पर विधान आदि स पन्न किये जाते हैं वहाँ के शासन देव एवं क्षेत्ररक्षक दि€पाल आदि की आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक होता है। इसी अभिप्राय से इन देवों का आह्वान किया जाता है ताकि वे हमें विधान की निर्विघ्न शान्ति के लिये सहयोगी होते हुए उस अनुष्ठान में सि मलित हों। इसलिये इनका आह्वान करना तो उचित है परन्तु पूजा करना, आरती उतारना, श्रीफल चढ़ाना, पंचपरमेष्ठी की तरह ढ़ोक देते हुए प्रणाम करना या अर्घ्य आदि चढ़ाकर पूजा करना बिल्कुल उचित नहीं है।

अप्रैल, 2007

237. क्षेत्रपाल आदि की स्थापना का उपदेश आगमस मत नहीं है

जिज्ञासा- वर्तमान के कुछ आचार्य, क्षेत्रपाल आदि यक्षों की स्थापना का उपदेश देते हैं उनकी बात मानने योग्य है या नहीं ?

समाधान- आगम में नवदेवताओं की पूजा का विधान मिलता है। वे नवदेवता-पंचपरमेष्ठी, जिनालय, जिनबिंब, जिनवाणी तथा जिनधर्म हैं। इनके अलावा अन्य किसी भी देव की पूजा का विधान शास्त्रों मेंं नहीं आता। जितने भी जिनालय बनाये जाते हैं उनमें इन्हीं नवदेवताओं की पूजा की जाती है। श्रावक देवपूजा रूप प्रथम क[illegible] र्व्य की भावना से जिनमंदिर जाता है वहाँ नवदेवताओं की भक्तिभाव से पूजा करता है। इन जिनमंदिरों को इसी निमिŽा से बनाये जाने की पर परा अनादि काल से है।

सर्वप्रथम यह विचार करें कि इन जिनालयों में क्षेत्रपाल आदि की मूर्ति €यों होनी चाहिये ? इन जिनालयों में श्रावक, वीतरागता प्राप्ति के निमि[illegible] ा आता है। वीतरागियों की पूजा करता है। इन सरागी देवी-देवताओं की पूजा करने से €या वीतरागता की प्राप्ति संभव है ? कभी नहीं। ये स्वयं राग-द्वेष से पूरित हैं। शास्त्रों में इनके संबंध में इस प्रकार कहा है-

1. आचार्य कुंदकुंद ने मोक्षपाहुड़ / 92 में कहा हैं-

कुच्छिय देवं ध मं, कुच्छिय लिंगं च वंदए जो दु।
लज्जाभयगारवदो, मिच्छादिट्ठी हवे सोदु॥

अर्थ- जो सूर्य, चन्द्र, यक्ष आदि खोटे देवों की, खोटे धर्म व खोटे लिङ्ग की वंदना, नमस्कार या अभिवादन लज्जा, भय या गारव के कारण मन-वचन-काय से करता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है।

2. श्री वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 41 की टीका में कहा है-

'' यातिपूजालाभरूपलावण्यसौभाग्यपुत्रकलत्रराज्यादिविभूतिनिमिŽं रागद्वेषोपहताŽर्ारौद्रपरिणत-क्षेत्रपालचंडिकादिमिथ्यादेवानां यदाराधनं करोति जीवस्तद्देवतामूढत्वं भण्यते। न च ते देवाः किमपि फलं प्रयच्छंति।''

अर्थ- जो जीव याति, पूजा, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री, राज्य आदि वैभव के लिये राग-द्वेष से आहत आŽर्ा और रौद्र परिणामवाले क्षेत्रपाल, चंडिका आदि मिथ्यादेवों की आराधना करते हैं उसे देवमूढ़ता कहते हैं। वे देव कुछ भी फल नहीं देते।

इन प्रमाणों से यह निश्चित है कि क्षेत्रपाल आदि देवी-देवता की पूजा-आराधना, देवमूढ़ता अर्थात् गृहीत मिथ्यात्व के अंतर्गत आती है। अतः मंदिरों में इनकी न तो स्थापना ही होनी चाहिये, और न पूजा ही। वर्तमान में जो इनकी पूजा या आरती की जाती है वह मिथ्यात्व को पुष्ट करती है, अतः एकदम गलत है।

सच तो यह है कि कोई भी दिग बर साधु इनकी स्थापना या पूजा के लिये नहीं कह सकता। यदि कहता है तो वह जैन सिद्धांत के विरुद्ध है। फिर भी यदि कोई आचार्य ऐसा उपदेश देते हैं तो उनकी प्रामाणिकता पर प्रश्न चिन्ह लग जायेगा। आज सबसे बडी समस्या यह है कि हम शास्त्रों का अध्ययन नहीं करते। जिसका नतीजा यह होता है कि कौन साधु या आचार्य प्रामाणिक हैं, आगम के अनुसार उपदेश देनेवाले हैं या नहीं, इसका ज्ञान हमें नहीं हो पाता। हम भोले हैं, हम तो नग्न मुद्रा और पीछी कमंडलु देखकर उनकी आज्ञा मान

लेते हैं और मिथ्यात्व का पोषण करने लग जाते हैं। यदि ऐसे ही हम बने रहे, तो अनंत संसार और बढ़ता ही जायेगा, स य€त्व कैसे हो सकेगा? हमें इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को व्यर्थ गंवाना नहीं चाहिये। हमें शास्त्र अध्ययन पूर्वक सच €या है और झूठ €या है? हेय €या है और उपादेय €या है? इसका ज्ञानकर सत्यमार्ग का आश्रय लेना चाहिये। निष्कर्ष यह है कि जो भी साधु या आचार्य, क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि की स्थापना या पूजा का उपदेश देते हैं, यह उनका अपना मत है। आगम में इसका सर्वथा निषेध है। हमें अपने स य€त्व की रक्षा के लिये ऐसे कार्यों से दूर रहना चाहिये।

अगस्त, 2007

238. चाँदी के मेरु पूजनीय नहीं हैं

जिज्ञासा - कुछ साधर्मी भाई वेदी में चाँदी के मेरु आदि विराजमान कर देते हैं, □ या इनका वेदी में विराजमान करना उचित है ? □ या ये चाँदी के मेरु पूजनीय हैं ?

समाधान - अष्टाह्निका पर्व के दिनों में, बहुत से जिनालयों में पंचमेरु के प्रतीक रुप से, चाँदी के पाँच मेरु आदि विराजमान करने की पर परा है। अष्टाह्निका पर्व में सभी श्रावक प्रतिदिन पंचमेरु एवं नन्दीश्वर द्वीप की पूजा करते हैं। अत: पंचमेरु के प्रतीक एवं स्मरण के लिए चाँदी के पाँच मेरु विराजमान किये जाते हैं। **ये पंचमेरु प्रतिष्ठित नहीं होते हैं, इनको सूरिमंत्र देने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। अत: इनको वेदी में भगवान् के साथ विराजमान करना उचित नहीं है। इनको वेदी से अलग नीचे विराजमान किया जाना चाहिए। ये तो प्रतीक मात्र हैं। ये पूजनीय भी नहीं हैं।**

बुन्देलखण्ड के बहुत से जिनालयों में सैकड़ों वर्षों से अष्टधातु के बड़े बड़े मेरुओं को वेदी में विराजमान करने की पर परा है। इनमें छोटे छोटे जिनबि ब भी विराजमान रहते हैं, और इनका अभिषेक आदि भी होता है। ऐसे सभी मेरु प्रतिष्ठित होने के कारण वेदी में विराजमान करने के योग्य भी हैं और पूजनीय भी हैं। इनकी वंदना-पूजा अवश्य करनी चाहिए।

अ□ टूबर, 2006

239. मन्दिर की चौखट चैत्यालय का प्रवेशद्वार है

जिज्ञासा- आजकल बहुत से साधर्मी भाई, मंदिर प्रवेश करते समय मंदिर की चौखट या देहली को छूकर मस्तक से स्पर्श करते है। □ या यह मूढ़ता नहीं है?

समाधान- नहीं, यह मूढ़ता नहीं है। हमारे पूज्य नवदेवता होते हैं- पांच परमेष्ठी, जिनधर्म, जिनवाणी, जिनालय एवं जिनबि ब। ये जिनालय पूज्य होते हैं अत: मंदिर में प्रवेश करते समय नि:सहि बोलते हुये मंदिर की चौखट या देहली का स्पर्श करके मस्तक से लगाते हुये ही प्रवेश करना चाहिये। यह मूढता नहीं, यह तो जिनालय की वंदना का तरीका है। सड़क से गुजरते हुये, यदि रास्ते में जिनालय आता हो तो तुरन्त हाथ जोड़कर तथा सिर झुकाकर वंदना करनी चाहिये। दिन में उस मार्ग से यदि 20 बार आना-जाना पड़े तो हर बार ऐसा करना चाहिये। यदि जिनालय का शिखर दूर से दृष्टिगोचर हो जाये, तब भी तुरन्त वंदना करना चाहिये। यह जिनालय के प्रति बहुमान प्रदर्शित करने तथा वंदना के लिये है। आपको चाहिये कि आज से ही यह शुभकार्य करना प्रारंभ कर दें।

अप्रैल, 2008

240. जिस आसन से चि ा की एकाग्रता हो, वह आसन व काल ठीक है

जिज्ञासा- या ध्यान के लिए आसन और देश काल आदि का नियम नियत है, या किसी भी आसन से और कभी भी ध्यान किया जा सकता है ?

समाधान- महापुराण पर्व 21 के श्लोक नं0 69 से 83 तक उपर्युक्त विषय पर अच्छा विवेचन प्राप्त होता है, जो नि न प्रकार है-

मुनियों को ध्यान के समय मु य रूप से सुखासन लगाना चाहिए। पर्यंकासन (पालथी लगाकर) तथा कायोत्सर्ग (खड़े होकर) ये दो सुखासन हैं। जो मुनि ध्यान के समय ऊँचे-नीचे आसन से बैठता है उसके शरीर में अवश्य पीड़ा होने लगती है, शरीर में पीड़ा होने पर मन में पीड़ा होने लगती है और मन में पीड़ा होने से आकुलता उत्पन्न हो जाती है। आकुलता उत्पन्न होने पर कुछ भी ध्यान नहीं किया जा सकता। इसलिए ध्यान के समय सुखासन लगाना चाहिए। चाहे तो वे बैठकर ध्यान कर सकते हैं, खड़े होकर कर सकते हैं और लेटकर भी ध्यान कर सकते हैं।

आगम में ऐसा भी सुना जाता है कि जिनका शरीर वज्रमयी है और जो महाशक्तिशाली हैं, ऐसे पुरुष सभी आसनों से विराजमान होकर ध्यान के बल से अविनाशी पद को प्राप्त हुए हैं। अतः जो उपसर्ग आदि को सहन करने में अतिशय समर्थ हैं, ऐसे मुनियों के लिए अनेक प्रकार के आसनों को लगाने में दोष नहीं है।

ध्यान करने के इच्छुक धीर-वीर मुनियों के लिए दिन-रात और संध्याकाल आदि काल भी निश्चित नहीं है अर्थात् ध्यान इच्छानुसार सभी समयों में किया जा सकता है। जो मुनि जिस समय, जिस देश में, जिस आसन से ध्यान को प्राप्त हो सकता है, उस मुनि के ध्यान के लिए वही समय, वही देश और वही आसन उपयुक्त माना गया है।

उपर्युक्त विवेचन गृहस्थों के लिये भी यथायोग्य लगा लेना चाहिए।

जुलाई, 2009

241. चढ़ाये हुये श्रीफल पुनः उपयोग में नहीं लेना चाहिये

जिज्ञासा- हमारे यहाँ कुण्डलपुर (बड़े बाबा) में जो भी आर्यिका संघ आते हैं, उनको समर्पित किए गए श्री फलों को कमेटी वाले लोग अपने ही पास रख लेते हैं और बार-बार उन्हीं श्री फलों को समर्पित कराते हैं। या ऐसे श्रीफल निर्माल्य नहीं कहे जाते ? या ऐसा करना उचित है।

समाधान- आर्यिका माताओं के समक्ष यदि किसी व्यक्ति द्वारा कोई श्रीफल समर्पित किया जाता है या कराया जाता है, तो वह श्रीफल निर्माल्य हो जाता है अर्थात् उसको दोबारा समर्पित नहीं कराया जा सकता है। वह कर्मचारियों की स पत्ति हो जाती है। मैंने इस संबंध में मुनिमहाराजों से भी चर्चा की तथा आर्यिकासंघ से भी पूछा। सबका यही कथन है कि इसप्रकार समर्पित श्रीफल, चाहे वे माताजी के समक्ष अर्घ आदि बोलकर न चढ़ाए गए हों, फिर भी, निर्माल्य की कोटि में ही आते हैं। इनको या तो कर्मचारियों को दे देना चाहिए अथवा इनको बेचकर इसका द्रव्य गौशाला आदि में दे देना चाहिए। परन्तु इन श्री फलों में कमेटी का कोई अधिकार नहीं रह जाता है, तथा ये श्रीफल दुबारा समर्पित करने योग्य कभी नहीं रहते। **इनको पुनः पुनः समर्पित कराना कदापि उचित नहीं है।**

नव बर, 2009

242. 'फट् स्वाहा' कहकर जिनालय में श्रीफल फोड़ना संकल्पी हिंसा का रूप है

जिज्ञासा- महाराष्ट्र एवं कर्नाटक में भगवान् के आगे 'फट् स्वाहा' बोलकर नारियल फोड़ने की पर परा है। इसकी वास्तविकता या है ? और यह उचित है अथवा नहीं ?

समाधान- 'स्थूलिभद्र' पत्रिका में इस विषय पर चर्चा की गई है, जिसका सारांश इस प्रकार है-

जैनधर्म में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं माना है और न ही ईश्वर उपहार-भेंट आदि ग्रहण करता है, जबकि अन्य धर्मों में ऐसी मान्यता है कि ईश्वर सृष्टि का कर्ता भी है और उपहार-भेंट आदि भी ग्रहण करता है। देवी-देवताओं के सामने नारियल फोड़ने के पीछे भी बलि दान का ही भाव है। अजैन साधुओं द्वारा यज्ञ में देवी- देवताओं को पशु की बलि चढ़ाई जाती थी। श्रीफल अर्थात् नारियल में भी माथा, चोटी, नाक, तथा दो आँखें होती हैं। भगवान् के आगे नारियल फोड़ना बलिदान का ही प्रतीक है। नवरात्रि के उत्सव पर हिन्दू शास्त्रों के अनुसार दुर्गा, कात्यायनी आदि देवियों के समक्ष पशुबलि देने की पर परा का वर्णन है। वहाँ यह भी लिखा हुआ है कि मैं तो पशु- बलि से ही प्रसन्न होती हूँ, अन्य सामग्री से नहीं। परन्तु जो बलि न देना चाहें, वे प्रतीक रूप में नारियल फोड़ें। इसकी अन्दर की गिरी, माँस का प्रतीक है और इसका जल, खून का प्रतीक माना गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि बलि का प्रतीक होने से यह संकल्पी हिंसा है, जिसका जैनधर्म में स्पष्ट विरोध किया गया है। भगवान् महावीर ने इस प्रथा का विरोध किया था।

जैन-साहित्य के अनुसार तो राजा यशोधर ने अपनी माँ के कहने पर आटे का मुर्गा बनाकर उसकी बलि दी थी, जिसके फलस्वरूप उन्हें दुर्गतियों में अनेक भव धारण करने पड़े। दक्षिण भारत में आज भी कुछ विद्वान् नारियल फोड़ने का उपदेश देते हैं। वे श्रावक, शास्त्र-ज्ञान न होने के कारण यह नहीं समझ पाते कि नारियल फोड़ना उचित यों है और अनुचित यों ? उन सभी भाइयों से हमारा निवेदन है कि वे उपर्युक्त समाधान को अच्छी तरह पढ़ें और समझें। 'जैन शास्त्रों' में नारियल फोड़ने का कोई विधान नहीं है, यह तो तीव्र कषाय का कार्य है। अत: नारियल फोड़ने का तुरंत त्याग कर देना चाहिए। विशेष यह है कि धर्मकार्यों में नारियल या श्रीफल चढ़ाना अनुचित नहीं है, परन्तु फोड़ना अनुचित है। अत: नारियल फोड़ने का त्याग करना उचित है।

अप्रैल-मई, 2010

243. कुर्ता बिल्ली पालना नरकायु के बन्ध का कारण है

जिज्ञासा- मुझे कु ो एवं बिल्ली पालने का शौक है। कुछ लोग इसे गलत बताते हैं जबकि मेरे कु ो, बिल्ली शाकाहारी हैं। इस संबंध में शास्त्र €या कहते हैं, बताइये।

समाधान- कुर्ता, बिल्ली पालने को शास्त्रों में पाप का कारण एवं निषिद्ध कहा है। कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं:-

क. सर्वार्थसिद्धि स्त्र/ख्क में अनर्थदण्ड की परिभाषा बताते हुए इसप्रकार कहा है- **असत्युपकारे पापादान हेतु: अनर्थदण्ड:। अर्थ**- उपकार न होकर जो प्रवृर्ि पाप का कारण है उसे अनर्थदण्ड कहते हैं। अनर्थदण्ड के भेदों में एक भेद हिंसादान भी कहा गया है जिसकी परिभाषा कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इसप्रकार कही है:-

मज्जार-पहुदि धरणं आउह-लोहादि-विक्कणं जं च।
ल€खा खलादि गहणं अणत्थ-दण्डो हवे तुरिओ ॥ फब्त्र॥

अर्थ- बिलावादि हिंसक जन्तुओं का पालना, लोहे तथा अस्त्र-शस्त्रों का देना-लेना और लाख, विष आदि का लेना-देना चौथा हिंसादान अनर्थदण्ड है।

भावार्थ- इस गाथा में बिलाव आदि हिंसक जन्तुओं को पालना अनर्थदण्ड कहा है।

ख. त वार्थसार ब/फ्फ में इस प्रकार कहा है-

मार्जारताम्रचूडादिपापीयः प्राणिपोषणम्।
नैः शील्यं च महार भपरिग्रहतया सह॥

अर्थ- बिल्ली, कुत्ता, मुर्गे इत्यादि पापी प्राणियों का पालना, शीलव्रतरहित रहना और आरंभ तथा परिग्रह को अति बढ़ाना नरकायु के आस्रव के कारण हैं।

फ. श्री आदिपुराण सर्ग 10 / 45 में इसप्रकार कहा है:-

वधकान् पोषयित्वान्यजीवानां येऽतिनिर्घृणाः।
खादका मधुमांसस्य तेषां ये चानुमोदकाः॥

अर्थ- जो मधु और मांस खाने में तत्पर हैं, अन्य जीवों की हिंसा करने वाले कुत्ता-बिल्ली आदि पशुओं को पालते हैं, अतिशय निर्दय हैं। वे जीव पाप के भार से नरक में प्रवेश करते हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों में कुत्ता, बिल्ली आदि को पालना नरकायु का आस्रव कहा है। आपका कुत्ता चाहे आपके द्वारा शाकाहारी समझा जाता हो परन्तु वह त्रस जीवों को मारने एवं गंदे स्थानों पर जाने से नहीं चूकता। अतः कुत्ता-बिल्ली आदि पापी प्राणी ही हैं और इनको पालना आगम में निषिद्ध है। पूज्य मुनि श्री सुधासागर जी ने अपने प्रवचन में कहा था कि जिन घरों में कुत्ता-बिल्ली आदि हिंसक प्राणी पाले जाते हैं, वे घर मुनि के आहार के योग्य नहीं हैं। अतः धार्मिक दृष्टि के अनुसार आपको ऐसे हिंसक जन्तुओं का पालन नहीं करना चाहिए।

फरवरी, 2007

*****

द्रव्यानुयोग

244. धर्मास्तिकाय न होने से लोकान्त के बाहर गमन नहीं

जिज्ञासा- □ या सिद्ध भगवान् धर्मास्तिकाय के अभाव में लोकान्त के आगे गमन नहीं करते या उनकी उपादान शक्ति लोकान्त तक ही गमन करने की है ? स्पष्ट कीजिए।

समाधान- तǎवार्थसूत्र (सोनगढ़ प्रकाशन) में अध्याय 10, सूत्र 8 के अर्थ में इस प्रकार लिखा है - 'जीव और पुद्गल की गति स्वभाव से इतनी है कि वह लोक के अन्त तक ही गमन करता है, यदि ऐसा न हो तो अकेले आकाश में लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसे दो भेद ही न रहें, गमन करने वाले द्रव्य की उपादान शक्ति ही लोक के अग्रभाग तक गमन करने की है, अर्थात् वास्तव में जीव की अपनी योग्यता ही अलोक में जाने की नहीं है अतएव वह अलोक में नहीं जाता, धर्मास्तिकाय का अभाव तो इसमें निमिǎा मात्र है।'' यह कथन आगम विरुद्ध है।

जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है। बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 2 में भी **'विस्ससोड्ढगई'** पद द्वारा जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव बतलाया है। किन्तु आयुकर्म ने जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का प्रतिबंध कर रखा है। कहा भी है कि **' आयुष्यवेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयोः स□ वात्।'**

अर्थ- जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का प्रतिबन्धक आयुकर्म का उदय और सुखगुण का प्रतिबंधक वेदनीय कर्म का उदय, अरहंतों के पाया जाता है। सिद्ध भगवान के आयुकर्म का क्षय हो जाने से उनकी ऊर्ध्वगमन शक्ति असीम हो जाती है। अतः यह कहना कि सिद्धों में लोकाकाश के अंत तक ही जाने की उपादान शक्ति है, इसी कारण सिद्ध भगवान का गमन भी लोक के अंत तक ही होता है, उचित नहीं है। आचार्य अमृतचंद्रस्वामी ने इस प्रकार कहा है -

ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषां, कस्मान् नास्तिचेन्मतिः।
धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परः॥ 144॥

अर्थ- लोक के शिखर से ऊपर सिद्धों की गति €यों नहीं होती ? गति का सहकारी कारण जो धर्मास्तिकाय, उसका अभाव होने से आगे सिद्धों की गति नहीं होती।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी श्री नियमसार गाथा 184 में इस प्रकार कहा है-

जीवाणं पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव ध मत्थी।
ध मत्थिकायभावे, तǎो परदो ण गच्छंति॥

अर्थ- जीव और पुद्गलों का गमन, जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, वहीं तक जानना चाहिए। धर्मास्तिकाय के अभाव में उससे आगे गमन नहीं होता है।

उपर्युक्त आगमप्रमाणों से यह भली प्रकार सिद्ध होता है कि सिद्ध भगवान् में अलोकाकाश में भी जाने की उपादान शक्ति है, किन्तु बाह्य सहकारी कारण धर्मद्रव्य का अभाव होने से अलोकाकाश में गमन नहीं है। यदि सोनगढ़ मतानुसार यह मान लिया जाये कि सिद्ध जीव की लोक के अंत तक ही गमन करने की शक्ति है, तो **'धर्मास्तिकायाभावात्'** यह सूत्र ही निरर्थक हो जायेगा और सूत्र अनर्थक होता नहीं है, €योंकि वचनविसंवाद के कारणभूत राग, द्वेष या मोह से रहित जिन भगवान् के वचन के अनर्थक होने का विरोध है।

सित बर, 2006

245. शुद्ध द्रव्यों में भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है

जिज्ञासा- शुद्ध द्रव्यों में उत्पाद-व्यय किस प्रकार होता है ?

समाधान- शुद्ध द्रव्यों में उत्पाद-व्यय के संबंध में श्री सर्वार्थसिद्धि भ/त्र की टीका में इस प्रकार कहा है:-

क्रियानिमिŽोत्पादाभावेऽप्येषां धर्मादीनामन्यथोत्पादः कल्प्यते। तद्यथा-द्विविध उत्पादः स्वनिमिŽाः परप्रत्ययश्च। स्वनिमिŽास्तावदनन्तानामगुरूलघुगुणामनामागमप्रामाण्याद- युपग यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्यययश्च। परप्रत्ययोऽपि अश्वादि गतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात् क्षणे क्षणे तेषां भेदाŽद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते।

अर्थ- धर्मादिक द्रव्यों में क्रियानिमिŽाक उत्पाद नहीं है तो भी इनमें अन्य प्रकार से उत्पाद माना गया है। यथा- उत्पाद दो प्रकार का है, स्वनिमिŽाक उत्पाद और परप्रत्यय उत्पाद। स्वनिमिŽाक यथा- प्रत्येक द्रव्य में आगम से, अनन्त अगुरुलघुगुण (अविभाग प्रतिच्छेद) स्वीकार किये गए हैं, जिनका छहस्थानपतित वृद्धि और हानि के द्वारा वर्तन होता रहता है, अतः इनका उत्पाद और व्यय स्वभाव से होता है। इसी प्रकार पर-प्रत्यय का भी उत्पाद और व्यय होता है। यथा- ये धर्मादिक द्रव्य क्रम से अश्वादि की गति, स्थिति और अवगाहन में कारण हैं, चूंकि इन गति आदिक में क्षण-क्षण में अंतर पड़ता है, इसीलिए इनके कारण भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए, इसप्रकार इन धर्मादिक द्रव्यों में प्रत्यय की अपेक्षा उत्पाद और व्यय का व्यवहार किया जाता है। सभी शुद्ध द्रव्यों में इसीप्रकार दो तरह से उत्पाद-व्यय मानना योग्य है।

फरवरी, 2007

246. वायु पुद्गल है, जीव नहीं

जिज्ञासा- वायु पुद्गल है या जीव है ?

समाधान- इस प्रश्न का समाधान समझने के लिये हमें वायु से संबंधित चार प्रकारों का लक्षण समझना आवश्यक है। जो इसप्रकार है-

1. **वायु**- यह पुद्गल का पिंड है। श्री राजवार्तिक 5/25 की टीका में इसप्रकार कहा गया है- ''वायु भी स्पर्शादि और शŽदादि पर्याय वाली है €योंकि उसमें स्पर्श गुण पाया जाता है। ाये हुये अन्न का वात, पिŽा, श्लेष्म रूप से परिणमन होता है। वात अर्थात् वायु। इसलिये वायु को भी स्पर्शादिवाला मानना चाहिये।''

जब जल को अग्नि पर गर्म किया जाता है तब वह हाइड्रोजन और ऑ सीजन रूप बन जाता है। ये दोनों वायु पुद्गल का पिंड हैं तथा अजीव हैं।

2. **वायुजीव**- जो जीव विग्रहगति से आकर वायु में जन्म लेने वाला है, वह वायुजीव है। यह जीव है, चेतन है।

3. **वायुकायिक जीव**- उपर्यु त वायुजीव, जब वायु में जन्म ले लेता है, अर्थात् वायु को अपना शरीर बनाकर जन्म ले लेता है, उसे वायुकायिक जीव कहते हैं। यह चेतन है।

4. **वायुकाय**- जिस जीव सहित वायु को गर्म कर लिया है या अन्य कारणों से जिसमें से वायुकायिक जीव मरण को प्राप्त हो गये हैं, वह वायु, वायुकाय है। यह अचेतन है।

वास्तव में पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु ये चारों ही पुद्गल के पिंड हैं। इनमें जो जीव, इनको ही अपना शरीर बनाकर जन्म ले लेते हैं, वे उस कायिक जीव कहलाते हैं। मुनिराज के कमंडलु में जो जल भरा जाता है, वह अचेतन (पुद्गल) है, उसमें जीव नहीं होते। इसी प्रकार चारों (पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु) के संबंध में समझ लेना चाहिये।

सित बर, 2007

247. परमाणु हल्का-भारी, कड़ा-नरम नहीं होता है

जिज्ञासा- परमाणु में चार स्पर्श के बजाय दो स्पर्श ही €यों पाये जाते हैं ?

समाधान- पुद्गल के 20 गुण हैं। पांच रूप, पांच रस, दो गंध, 8 स्पर्श। इनमें से एक परमाणु में एकरूप, एकरस, एकगंध और दो प्रकार का स्पर्श ही पाया जाता है। स्पर्श के आठ भेद हैं, हल्का-भारी, रूखा-चिकना, कड़ा-नरम, ठंडा-गरम। इनमें से दो या दो से ज्यादा परमाणुओं के मिलने से जो स्कंध बनता है उसमें 4 स्पर्श पाये जाते हैं, अर्थात् हल्का-भारी में से एक, कड़ा-नरम में से एक, रूखा-चिकना में से एक तथा ठंडा-गरम में से एक। परंतु परमाणु में रूखा-चिकना में से एक तथा ठंडा-गरम में से एक, कुल दो स्पर्श ही पाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि हल्का-भारी तथा कड़ा-नरम ये चार, गुण व्यंजन पर्याय न होकर द्रव्य की पर्याय हैं। इनका संबंध, स्कंध के ही साथ है, परमाणु के साथ नहीं। जैसा कि

1. राजवार्तिककार ने तǔवार्थसूत्र 5/25 की टीका में कहा है-

एक रसवर्णगन्धोऽणुः ---॥ 13॥ द्विस्पर्शो---॥14॥ ---कौ पुनः द्वौ स्पर्शौ। शीतोष्णस्पर्शयोरन्यतरः स्निग्धरूक्षयोरन्यतरश्च। एकप्रदेशत्वाद्विरोधिनोः युगपदनवस्थानम्। गुरुलघुमृदुकठिनस्पर्शानां परमाणुष्वभावः स्कन्धविषयत्वात्।

अर्थ- परमाणु में एक रस, एक गंध और एक वर्ण है। 13। दो स्पर्श। कौन से दो स्पर्श ? शीत-उष्ण में से कोई एक तथा स्निग्ध-रूक्ष में से कोई एक। एक प्रदेश वाला होने से विरोधी स्पर्श युगपत् नहीं पाये जाते। गुरु-लघु, और मृदु व कठिन स्पर्श परमाणु में नहीं पाये जाते, €योंकि वे स्कंध के विषय हैं।

भावार्थ- परमाणु में एक रूप, एक रस, एक गंध तथा दो स्पर्श पाये जाते हैं।

2. श्री हरिवंश पुराण सर्ग-7/33 में इस प्रकार कहा है-

एकदैकं रसं वर्णं गंधं स्पर्शावबाधकौ।
दधत् स वर्ततेऽभेद्यः श द हेतुरश दकः॥ 3॥

अर्थ- वह परमाणु एक काल में एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध, और परस्पर में बाधा नहीं करनेवाले दो स्पर्शों को धारण करता है। अभेद है, शǔद का कारण है और स्वयं शǔद से रहित है।

3. श्री आदिपुराण 24/148 में इस प्रकार कहा है-

अणवः कार्य लिङ्गाः स्युः द्विस्पर्शाः परिमण्डलाः।
एकवर्णरसा नित्याः स्युरनित्याश्च पर्ययः॥

अर्थ- परमाणु अत्यंत सूक्ष्म होते हैं, वे इन्द्रियों से नहीं जाने जाते। घट-पट आदि परमाणुओं के कार्य हैं उन्हीं से उनका अनुमान किया जाता है। उनमें कोई भी दो अविरूद्ध स्पर्श होते हैं, एक वर्ण, एक रस, एक

गन्ध रहता है। वे परमाणु गोल और नित्य होते हैं तथा पर्यायों की अपेक्षा अनित्य भी होते हैं॥ 148॥

उपर्युक्त आगम प्रमाणों के अनुसार पुद्गल के स्कंध में चार स्पर्श पाये जाते हैं, जबकि परमाणु में रूखा-चिकना में से एक तथा ठंडा-गरम में से एक, कुल दो ही स्पर्श पाये जाते हैं।

अ टूबर, 2007

248. परमाणु का आकार : दो मत

जिज्ञासा- परमाणु का आकार कैसा होता है, बताइये?

समाधान- इस संबंध में नि न प्रमाण दृष्टव्य है:-

1. आदि पुराण पर्व 24 श्लोक 148 में इस प्रकार कहा है:-

अणवः कार्य लिंगाः स्युः द्विस्पर्शाः परिमंडलाः।
एक वर्ण रसा नित्याः स्युरनित्याश्च पर्ययः॥ 148॥

अर्थ- वे अणु अत्यंत सूक्ष्म, कार्य से पहिचान में आने वाले, दो स्पर्श-एक गंध, एक वर्ण, एक रस वाले, गोलाकार, और नित्य होते हैं, पर्याय की अपेक्षा अनित्य भी होते है।

2. श्री आचारसार में इस प्रकार कहा है:-

अवुश्च पुदगलोऽमेद्यावयवः प्रचय शा तताः।
कामश्च स्कंध भेदोत्थ चतुरस्रस्त्वतीन्द्रिय ॥ 3/13॥

अर्थ- अभेद अवयव वाला, प्रचय शि€त की अपेक्षा कायवान, स्कंध के भेद से उत्पन्न चतुष्कोण, अतीन्द्रिय, ऐसा पुद्गल का अणु है। अर्थात् अणु चौकोर आकार वाला है।

3. पं. माणिकचंदजी कौन्देय (टीकाकार-श्लोक वार्तिक) ने अपनी पुस्तक 'शुद्ध द्रव्यों की आकृतियाँ' में अणु का आकार चौकोर कहा है।

इस प्रकार अणु के आकार के संबंध में दो प्रमाण प्राप्त होते हैं।

249. परमाणु के भेद

प्रश्न— €या परमाणु के भी भेद होते हैं?

समाधान— श्री नियमसार गाथा-ख्भ की टीका में एवं पंचास्तिकाय गाथा-त्त की टीका में परमाणु के चार भेद इस प्रकार कहे गये हैं—

क. **कारण परमाणु—** जो पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार धातुओं का कारण है उसे कारण परमाणु कहते हैं अथवा स्कंधों का निर्माण करने अर्थात् जिन परमाणुओं के मिलने से कोई स्कंध बने उसे कारण परमाणु कहते हैं।

ख. **कार्य परमाणु—** स्कन्धों के भेद होते-होते जो अंतिम अंश रहता है उसे कार्य परमाणु कहते हैं अर्थात् स्कंध के विघटन से उत्पन्न होने वाला कार्य परमाणु है।

फ. **जघन्य परमाणु—** जो परमाणु एक गुण स्निग्ध या एक गुण रूक्षवाला होने से बंध के अयोग्य है उसे जघन्य परमाणु कहते हैं।

ब. **उत्कृष्ट परमाणु—** एक गुण स्निग्ध और रूक्षता के ऊपर दो गुण वाले और चार गुण वाले का सम संबंध होता है तथा तीन गुण वाले का और पाँच गुण वाले का विषम बंध होता है वह उत्कृष्ट परमाणु है।

जनवरी, 2008

250. कोई परमाणु ऐसा नहीं, जो आज तक स्कन्ध न बना हो : दो मत

जिज्ञासा- तीनों लोकों में स्थित समस्त परमाणु स्कन्ध बन चुके हैं, या कुछ परमाणु ऐसे भी हैं, जो आज तक स्कन्ध नहीं बने हैं ?

समाधान- पुद्गल की स्वभावद्रव्यपर्याय परमाणु रूप है। श्री राजवार्तिक अध्याय-5, सूत्र 25 की टीका में इसप्रकार कहा गया है—**'न चानादि परमाणुर्नाम कश्चिदस्ति।'** अर्थ— अनादिकाल से अब तक परमाणु की अवस्था में ही रहनेवाला कोई अणु नहीं है।

इस प्रमाण से यह स्पष्ट है कि ऐसा कोई भी शुद्ध पुद्गल परमाणु नहीं है, जो अनादि से शुद्ध ही हो और आगे भी अनन्त काल तक शुद्ध रहेगा। परन्तु श्लोकवार्तिक के भाषा टीकाकार पं0 माणिकचन्द्र जी कौन्देय न्यायाचार्य का मत इससे भिन्न है। उन्होंने **त वार्थ-श्लोकवार्तिक**भाग-2, पृ. 173 पर भाषाटीका में इसप्रकार कहा है—'अनन्तानन्त परमाणु ऐसे हैं, जो अभी तक स्कन्ध अवस्था को प्राप्त नहीं हुए हैं, वे अनादि से परमाणु रूप हैं।' इस प्रकार इस विषय में दो मत हैं।

नव बर, 2008

251. धर्म और अधर्म द्रव्य श्रद्धान के विषय हैं

जिज्ञासा- धर्म तथा अधर्म द्रव्य हमको दिखते नहीं है, फिर हम उनको कैसे मानें ?

समाधान- यह सत्य है कि धर्म-अधर्म द्रव्य अमूर्तिक होने के कारण हमको नेत्रों से दृष्टिगोचर नहीं होते। परन्तु इसी कारणवश इनका अभाव नहीं कहा जा सकता है। आगम में पदार्थ दो प्रकार के कहे गये हैं- प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। यदि इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण न होने से ही इनका अभाव माना जायेगा, तब तो स्वर्ग, नरक आदि का भी अभाव होगा।

संसार में तीन प्रकार के पदार्थ ऐसे हैं, जिनको नेत्र इन्द्रिय के द्वारा नहीं देखा जा सकता, फिर भी उनका अस्तित्व स्वीकारा जाता है-

1. **सूक्ष्म**- वे पदार्थ जो सूक्ष्म हैं, जैसे कर्मवर्गणा आदि।

2. **दूरवर्ती**- वे पदार्थ, जो कहीं पर स्थित हैं, पर हम उनको देख नहीं सकते। जैसे- विदेह क्षेत्र, नन्दीश्वर द्वीप के जिनालय आदि।

3. **अंतरित**- जो पहले थे, पर अब जिनका अस्तित्व नहीं है, जैसे ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थङ्कर, भरत चक्रवर्ती इत्यादि।

इन तीनों प्रकार के पदार्थों का अस्तित्व हमें सर्वज्ञदेव के कथनानुसार स्वीकार करना होता है। सर्वज्ञदेव ने अपने केवलज्ञान के द्वारा समस्त उपर्युक्त पदार्थों को तथा अमूर्तिक पदार्थों को प्रत्यक्ष देखकर दिव्यध्वनि में कहा है और उसी के अनुसार अंग-पूर्वों की रचना गणधरदेव ने की है। वर्तमान में उपलZ्ध सभी शास्त्र, उन्हीं अंग-पूर्वों के आधार से ही लिखे गये होने से ये सब सर्वज्ञ के वचन हैं तथा इनके लिखनेवाले सत्यमहाव्रती

महामुनिराज हैं। अतः उनके द्वारा लिखा गया आगम परमसत्य है।

ये धर्म-अधर्म द्रव्य परोक्ष हैं, अमूर्तिक हैं। इनके उपकार का निमिŽापना जानकर इनके अस्तित्व का निश्चय किया जाता है। जीव तथा पुद्गलों को चलने और ठहरने में ये द्रव्य सहकारी हैं। जीव तथा पुद्गलों में प्रतिक्षण गति आदि भिन्न अवस्था होती हैं, अतः उनके हेतु का भिन्नपना मानना भी सिद्ध है।

यदि धर्म-अधर्म द्रव्य नहीं माने जायेंगे तो फिर लोक-अलोक का विभाग कैसे होगा? सिद्धात्माएँ फिर लोकांत तक ही यों जा सकेंगी? वे अनन्त आकाश में निरन्तर गमनशील रहेगीं, जो आगम से विरोध होगा। अतः नेत्र इन्द्रिय से नहीं देखे जाने पर भी धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन द्रव्यों का अस्तित्व स्वीकार करना ही युक्त है।

अ टूबर, 2010

252. अगुरुलघुत्व गुण के प्रकार

जिज्ञासा : अगुरुलघुत्व तो जीव का स्वाभाविक गुण कहा गया है फिर इसे नामकर्म के भेद में **€**यों गिना गया है।

समाधान : आगम में अगुरुलघुत्व शŽद का प्रयोग तीन स्थानों पर किया गया है - 1. अगुरुलघुत्व सामान्य गुण 2. अगुरुलघुत्व नामकर्म 3. गोत्रकर्म के क्षय से उत्पन्न होनेवाला अगुरुलघुत्व गुण। ये तीनों भिन्न भिन्न परिभाषा वाले हैं, जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है -

1. अगुरुलघुत्व सामान्यगुण- आलापपद्धति में इसका लक्षण इस प्रकार कहा है **'अगुरुलघो-र्भावोऽगुरुलघुत्वम्। सूक्ष्मावाग्गोचराः प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रमाणाद युपग या अगुरुलघुगुणाः।' अर्थ-** अगुरुलघुभाव अगुरुलघुपन है अर्थात् जिस गुण के निमिŽा से द्रव्य का द्रव्यपना सदा बना रहे, अर्थात् द्रव्य का कोई गुण न तो अन्य गुणरूप हो सके और न कोई द्रव्य अन्य द्रव्य रूप हो सके, अथवा न द्रव्य के गुण बिखरकर पृथक्-पृथक् हो सकें और जिसके निमिŽा से प्रत्येक द्रव्य में तथा उसके गुणों में समय-समय प्रति षट्गुणहानि वृद्धि होती रहे, उसे अगुरुलघु गुण कहते हैं। अगुरुलघु गुण का यह सूक्ष्म परिणमन वचन के अगोचर है, केवल आगम-प्रमाणग य है। यह द्रव्य का सामान्य गुण है और प्रत्येक द्रव्य में पाया जाता है।

2. अगुरुलघुनामकर्म- श्री सर्वार्थसिद्धि 8/11 में इस प्रकार कहा है - **'यस्योदयादयःपिण्डवत् गुरुत्वान्नाधः पतति न चार्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघुनाम।'** अर्थ- जिसके उदय से लोहे के पिण्ड के समान गुरु होने से न तो नीचे गिरता है और न रुई के समान लघु होने से ऊपर जाता है।' यह कर्म पुद्गलविपाकी है, इस कारण से इसका विपाक शरीर में प्राप्त होता है अर्थात् इस कर्म से शरीर विषयक अगुरुपना एवं अलघुपना होता है, जिसके कारण ही जीव अपने शरीर को उठाकर अन्यत्र जाने व इच्छित स्थान पर रुकने में सर्वत्र समर्थ होता है।

3. गोत्र कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला अगुरुलघुत्व गुण- श्रीपद्मनन्दिपंचविंशतिका के अनुसार इस गुण से सिद्धों को, उच्च गोत्र व नीचगोत्र इन दोनों से रहितपना युगपत् प्राप्त होता है। इससे आचरणकृत महत्व यानि उच्चगोत्रपना तथा तुच्छत्व यानि नीचगोत्रपने का अभाव एक साथ पाया जाता है। यह संसारी अवस्था में गोत्रकर्म के उदय के कारण वैभाविक अवस्था में रहता है और मुक्तजीवों में स्वाभाविक अवस्था में पाया जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अगुरुलघु नामक दो गुण भिन्न हैं और अगुरुलघुनामकर्म भिन्न है। यह भी जानने योग्य है कि उपर्युक्त अगुरुलघु नामक स्वाभाविक गुण का सांसारिक अवस्था में वैभाविक परिणमन ही पाया जाता है। (राजवार्तिक 8/11/12)

अप्रैल, मई, जून, 2006

253. तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य में अन्तर

जिज्ञासा - तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य की या परिभाषा है ?

समाधान - सामान्य परिणाम को तिर्यक्सामान्य कहते हैं और पूर्वोǽार पर्यायों में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जैसा कि परीक्षामुख 4/3-5 में कहा है -

सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वता ोदात्॥ 3॥
सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्।
परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु॥ 5॥

अर्थ - सामान्य दो प्रकार का है - एक तिर्यक् सामान्य दूसरा ऊर्ध्वता सामान्य। तहाँ सामान्य परिणाम को तिर्यक् सामान्य कहते हैं, जैसे गोत्व सामान्य, €योंकि खण्डी-मुण्डी आदि गौवों में गोत्व सामान्य रूप से रहता है तथा पूर्वो ार पर्यायों में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं, जैसे घड़े की पूर्वो ार पर्यायें हैं उन सबमें मिट्टी अनुगत रूप से रहती है।

सित बर, 2006

254. अभाव के भेद व स्वरूप

जिज्ञासा- अभाव के कितने भेद होते हैं, समझाने का कष्ट करें ?

समाधान- जैनाचार्यों ने अभावों को मु यत: चार भेदों में वर्गीकृत किया है। जिनका लक्षण कसायपाहुड़, आप्तमीमांसा टीका तथा जैनसिद्धान्तप्रवेशिका आदि में प्राप्त होता है। जिनका संक्षेप इस प्रकार है-

1. **प्राग् अभाव**- वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय में जो अभाव है, उसे प्राग् अभाव कहते हैं। अथवा वर्तमान पर्याय में आगे होनेवाली पर्याय का अभाव होना प्राग् अभाव है। जैसे दूध में दही का अभाव या दही में छाछ का अभाव।

2. **प्रध्वंस अभाव**- वर्तमान पर्याय में बीती हुई पर्याय के अभाव को प्रध्वंस अभाव कहते हैं, जैसे- दही में दूध का अभाव या छाछ में दही का अभाव।

3. **अन्योन्य अभाव**- द्रव्य की एक वर्तमान पर्याय में उसी द्रव्य की विगत और आगे होनेवाली सभी पर्यायों के अभाव को अन्योन्य अभाव कहते हैं तथा वर्तमान पर्याय में उसी द्रव्य की अन्य-अन्य वर्तमान पर्यायों का अभाव अन्योन्याभाव है। जैसे- दही में घास, भूसा, रोटी का अभाव तथा जैसे घी में मिट्टी, पत्थर लकड़ी आदि पुद्गल द्रव्य की अन्य-अन्य पर्यायों का अभाव अन्योन्याभाव है।

4. **अत्यन्त अभाव**- अन्य द्रव्य का, अन्य द्रव्य में अभाव होना या एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अभाव होना अत्यन्ताभाव है। जैसे पुद्गल में जीव का अभाव आदि।

श्री धवलाकार ने अभाव के दो अन्य भेद कहे हैं, जो इस प्रकार हैं-

1. **पर्युदास अभाव**- किसी एक वस्तु के अभाव द्वारा दूसरी वस्तु का सद्भाव दर्शाना पर्युदास अभाव है, जैसे- प्रकाश का अभाव ही अंधकार है।

2. **प्रसज्य अभाव**- वस्तु के अभाव मात्र को दर्शाना प्रसज्य अभाव है। जैसे- गधे के सिर पर सींग का अभाव।

मई, 2009

255. नित्य और ध्रौव्य में अन्तर

जिज्ञासा- नित्य व ध्रौव्य में €या अंतर है?

समाधान- नित्य व ध्रौव्य में कथंचित् अंतर है। इसी पर विचार करते हैं-

1. सर्वार्थसिद्धि टीका 5/4 में कहा है- **''नित्यं ध्रुवमित्यर्थः।'' अर्थ**- नित्य शŸद का अर्थ ध्रुव है। अर्थात् ये छहों द्रव्य कभी भी विनाश को प्राप्त नहीं होते, इसलिये नित्य हैं।''

सर्वार्थसिद्धि टीका 5/31 में कहा है- **''तदभावेनाव्ययं तद्भाव्ययं नित्यमिति निश्चीयते।'' अर्थ**- जिस वस्तु का जो भाव है उस रूप से च्युत न होना तद्भावाव्यय अर्थात् नित्य है ऐसा निश्चय होता है।

2. ध्रौव्य श द का अर्थ- सर्वार्थसिद्धि टीका 5/30 में कहा है-**''अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदया- भावात् ध्रुवति स्थिरीभवति इति ध्रुवः। ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्।'' अर्थ**- जो अनादि पारिणामिक स्वभाव है उसका व्यय और उदय नहीं होता, किन्तु वह ध्रुवति अर्थात् स्थिर रहता है इसलिये उसे ध्रुव कहते हैं। इस ध्रुव का भाव या कर्म ध्रौव्य कहलाता है। अर्थात् ध्रुवपने को ध्रौव्य कहते हैं।

उपर्युक्त आगम प्रमाण से स्पष्ट होता है कि नित्य और ध्रुव एकार्थवाची हैं, परन्तु ध्रौव्य का अर्थ ध्रुवपना या नित्यपना होने से, नित्य व ध्रौव्य में अंतर है। जैसे- जीव व जीवत्व में अंतर है।

मार्च, 2010

256. शŸद पुद्गल की पर्याय है, आकाश का गुण नहीं

जिज्ञासा- शŸद को आकाश का गुण कहा जाता है। इसे अमूर्तिक मानें, तो €या गलत होगा?

समाधान- तŸवार्थसूत्र अध्याय 5 के 25 वें सूत्र में इस प्रकार कहा है-

शŸदबंधसौक्ष्य यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च।।

अर्थ- श द्बंध, सौक्ष्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत वाले पुद्गल होते हैं अर्थात् ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं।

इस सूत्र में शŸद को पुद्गल की पर्याय कहा है। शŸद अमूर्तिक नहीं है, €योंकि-

1. यदि शŸद अमूर्तिक होता, तो कर्ण इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण कैसे कर लिया जाता?

2. यदि श द अमूर्तिक होता, तो वह कैसेट आदि में कैसे भर लिया जाता?

3. अमूर्तिक होने पर उसको एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रेरित करना कैसे स भव होता?

4. श द के द्वारा तो विस्फोट होने पर दीवारें फट जाती हैं, शरीर में घाव हो जाते हैं, कान के पर्दे फट जाते हैं, गर्भपात हो जाता है, अतः उसे अमूर्तिक नहीं कह सकते।

5. बाहर तेज श□ द होने पर दरवाजा या खिड़की बन्द करने पर, श□ दों में रुकावट हो जाती है। यदि श□ द अमूर्तिक होते तो रुकावट कैसे स भव है ?

उपर्युक्त सभी तथ्यों के अनुसार शŹद को अमूर्तिक और आकाश का गुण नहीं मानना चाहिये। शŹद मूर्तिक हैं और पुद्गल की पर्याय हैं।

अ□ टूबर, 2010

257. निश्चय से रागादि भाव पुद्गलमय हैं

जिज्ञासा- राग-द्वेष आदि जीव के परिणाम हैं, इनको चेतन माना जाय या अचेतन और €यों ?

समाधान- द्रव्यानुयोग के शास्त्रों में रागद्वेष आदि परिणामों को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से कहीं चेतनरूप कहा गया है और कहीं अचेतनरूप। श्री समयसार के क□ र्ा-कर्म अधिकार गाथा नं. 116-119 **सामण्ण पच्चया ——— क माणि**) की टीका में आचार्य जयसेन महाराज ने इसप्रकार कहा है- ''जीव और पुद्गल इन दोनों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वरागादिरूप जो भाव-प्रत्यय हैं, वे अशुद्ध उपादानरूप, अशुद्धनिश्चयनय से चेतन हैं, €योंकि जीव से स बद्ध हैं, किन्तु शुद्ध उपादानरूप शुद्धनिश्चयनय से ये सभी अचेतन हैं, €योंकि पौद्गलिक कर्म के उदय से हुए हैं। तात्पर्य यह है कि अशुद्ध निश्चयनय आत्मा को विकारमय दे ाता है, अत: उसकी दृष्टि में रागादि भाव आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं इसलिए चेतन ही हैं। किन्तु शुद्ध निश्चयनय आत्मा को शुद्ध देखता है, तो वहाँ रागादिक भाव होते ही नहीं हैं, अत: उसकी दृष्टि में राग-द्वेष आदि भाव पुद्गलकर्म के उदय से होते हैं, इसलिए वे पौद्गलिक हैं और अचेतन हैं।

उपर्युक्त प्रकार से सही व्या या समझकर धारणा बनानी चाहिए।

दिस बर, 2009

258. निश्चय स य€त्व और व्यवहार स य€त्व एक साथ नहीं होते

जिज्ञासा- निश्चय स य€त्व और व्यवहार स य€त्व एक साथ होते हैं या आगे पीछे ?

समाधान- व्यवहारस यग्दर्शन साधन है व निश्चय स यग्दर्शन साध्य है। अत: व्यवहारस यग्दर्शन पहले होता है व निश्चयस यग्दर्शन बाद में। कुछ आगम प्रमाण इस प्रकार हैं - 1. बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 41 की टीका में इस प्रकार कहा है-

''अत्र व्यवहारस य€त्वमध्ये निश्चय स य€त्वं किमर्थं व्या यातमिति चेद्व्यवहारस य€त्वेन निश्चयस य€त्वं साध्यत इति साध्यसाधक भावज्ञापनार्थमिति।''

अर्थ- यहाँ इस व्यवहार स य€त्व के व्या यान में निश्चयस य€त्व का वर्णन €यों किया जाता है ? व्यवहारस य€त्व से निश्चयस य€त्व सिद्ध किया जाता है, इस साध्यसाधकभाव को बतलाने के लिये किया गया है।

2. श्री पंचास्तिकाय गाथा 107 की टीका में आचार्य जयसेन ने कहा है-

''इदं तु नवपदार्थविषयभूतं व्यवहारस य€त्वं। किं विशिष्टम्। शुद्धजीवास्तिकायरुचिरूपस्य निश्चयस य€त्वस्य, छद्मावस्थायामात्मविषयसंवेदनज्ञानस्य पर परया बीजम्।''

अर्थ- यह जो नव पदार्थ का विषयभूत व्यवहार स य€त्व है, वह शुद्ध जीवास्तिकाय की रुचिरूप जो

निश्चयस य€त्व है, उसका तथा छद्मस्थ अवस्था में आत्मविषयक स्वसंवेदनज्ञान का पर परा से बीज है।

3. श्री प्रवचनसार चारित्राधिकार गाथा 2 की टीका में आ. अमृतचन्द्र स्वामी ने इस प्रकार कहा है -

''अहो नि:शङ्कितत्वनि:कांक्षितत्व-निर्विचकित्सत्वनिर्मूढदृष्टित्वोबृंहण-स्थितिकरण-वात्सल्य-प्रभावनालक्षण-दर्शनाचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत् त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे।''

अर्थ- अहो नि:शंकितत्व, नि:कांक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, निर्मूढदृष्टित्व, उपवृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना स्वरूप दर्शनाचार, तू शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है, ऐसा मैं निश्चय से जानता हूँ तो भी तुझको तब तक स्वीकार करता हूँ, जब तक तेरे प्रसाद से शुद्ध आत्मा को प्राप्त हो जाऊँ।

उपर्युक्त आगमप्रमाणों के अनुसार व्यवहारस यग्दर्शन पहले होता है, तदुपरांत वीतरागचारित्र का अविनाभावी निश्चयस यग्दर्शन होता है।

अप्रैल, मई, जून, 2006

259. मिथ्यादृष्टि के व्यवहार स य€त्व मानना मिथ्या धारणा है

जिज्ञासा— मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय-9, पृष्ठ 321 (जयपुर प्रकाशन) पर मिथ्यादृष्टि के भी व्यवहार स य€त्व कहा गया है, €या यह आगमस मत है ?

समाधान— जैन शास्त्रों में स य€त्व दो प्रकार का कहा गया है। बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा-41 की टीका में इस प्रकार कहा है,— **''शुद्धजीवादितǎवार्थश्रद्धानलक्षणम् सरागस य€त्वाभिधानम् व्यवहारस य€त्वं विज्ञेयं।— वीतराग - चारित्राविनाभूतं वीतरागस य€त्वाभिधानं निश्चयस य€त्वं च ज्ञातव्यमिति।**

अर्थ- शुद्ध जीवादि तǎवार्थों का श्रद्धानरूप सरागस य€त्व नाम से कहा जाने वाला व्यवहार-स य€त्व जानना चाहिए। वीतरागचारित्र के बिना नहीं होनेवाला, वीतरागस य€त्व नामक निश्चयस य€त्व जानना चाहिए।

अब प्रश्नकǎार्ा के प्रश्न पर विचार करते हैं। प्रश्न यह है कि उपर्युक्त सरागस य€त्व अथवा व्यवहार-स य€त्व प्रथम गुणस्थान में होता है या नहीं ? इस संबंध में समयसार गाथा 373 की टीका में इस प्रकार कहा गया है-

मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीनां तथैव चारित्रमोहनीयस्य चोपशमक्षयोपशमक्षये सति षड्द्रव्यपंचास्तिकाय सप्ततǎवनवपदार्थादिश्रद्धानज्ञानरागद्वेषपरिहाररूपेण भेदरत्नत्रयात्मकव्यवहारमोक्षमार्गसंज्ञेन व्यवहारकारण-समयसारेण साध्येन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्म-तǎवस यक् श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मक-निर्विकल्पसमाधिरूपेणानंतकेवल-ज्ञानादिचतुष्टयव्य€त-रूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकेन निश्चयकारणसमयसारेण विना खल्वज्ञानिजीवो रुष्यति तुष्यति च।

अर्थ- मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के तथा चारित्रमोहनीय के उपशम, क्षयोपशम व क्षय होने से छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तǎव, नौ पदार्थ आदि का श्रद्धान और ज्ञान के साथ-साथ रागद्वेष के त्यागरूप ऐसा भेदरत्नत्रय तदात्मक व्यवहारमोक्षमार्ग ही है नाम जिसका, ऐसे व्यवहार कारणसमयसार के द्वारा जो साध्य है

और विशुद्ध ज्ञान-दर्शन-स्वभाव जो शुद्धात्मतǔव, उसका समीचीन श्रद्धान-ज्ञान और आचरण रूप, ऐसा जो अभेदरत्नत्रय तदात्मक जो निर्विकल्पसमाधि-स्वरूप है तथा जो केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय की अभिव्यक्तिरूप कार्यसमयसार का उत्पादक है, ऐसे निश्चय कारणसमयसार के हुए बिना यह अज्ञानी जीव रोष करता है और संतुष्ट होता है।

2. श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा 107 की टीका में इस प्रकार कहा है-

भावाः खलु कालकलितपंचास्तिकायविकल्परूपा नवपदार्थाः तेषां मिथ्यादर्शनोदयापादिताश्रद्धानाभावस्वभावं भावांतरं श्रद्धानं स यग्दर्शनं, शुद्धचैतन्यरूपात्मतǔवविनिश्चयबीजम्।

अर्थ- कालसहित पंचास्तिकाय और विकल्परूप नव पदार्थ इनको भाव कहते हैं। मिथ्यादर्शन के उदय से उत्पन्न हुआ जो अश्रद्धान, उसका अभाव होने पर पंचास्तिकाय और नवपदार्थ का श्रद्धान, वह व्यवहार-स यग्दर्शन है और यह शुद्ध आत्मतǔव के निश्चय का बीज है।

सारांश- उपर्युक्त प्रमाण नं0 1 में यह स्पष्ट कहा है कि व्यवहारस यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप व्यवहार-मोक्षमार्ग में मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का (दर्शनमोहनीय की तीन तथा अनन्तानुबंधी की चार = सात) उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होता ही है। अर्थात् सात प्रकृतियों के उपशम आदि न होने पर व्यवहारस य€त्व नहीं होता। उपर्युक्त दूसरे प्रमाण से भी स्पष्ट है कि व्यवहारस यग्दर्शन में मिथ्यादर्शन का उदय नहीं रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि व्यवहारस य€त्व मिथ्यादृष्टि जीव के नहीं होता। किसी भी आचार्य ने, किसी भी शास्त्र में ऐसा नहीं कहा है कि मिथ्यादृष्टि के व्यवहारस य€त्व होता है। यदि हम गुणस्थान की अपेक्षा विचार करें, तो चौथे से सातवें गुणस्थान तक शुभोपयोग अवस्था में व्यवहार स यग्दर्शन होता है, तथा निश्चयचारित्ररूप शुद्धोपयोग के साथ होनेवाला निश्चयस यग्दर्शन सप्तम गुणस्थान से आगे तक रहता है।

आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने **स य€त्वसार शतकम्** गाथा-81 के विशेषार्थ में इस प्रकार कहा है- 'दर्शनमोह के उपशमादि द्वारा तǔवार्थश्रद्धान प्राप्त करते हुए चतुर्थ गुणस्थान में जो स यग्दर्शन होता है, वह व्यवहारस यग्दर्शन और तत्पूर्वक अणुव्रत-महाव्रतादि का पालन करना सो व्यवहार स यक् चारित्र एवं उनके साथ जो सचेष्ट स यक् ज्ञान हो वह व्यवहार स यग्ज्ञान होता है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह में भरतचक्रवर्ती के क्षायिक स यग्दर्शन को व्यवहार स यग्दर्शन कहा है यथा **'एषाम् भरतादीनाम् यत् स यग्दर्शनम् तǔु व्यवहार स यग्दर्शनम्।'**

अर्थ- इस प्रकार इन भरतादिकों के जो स यग्दर्शन है, वह व्यवहारस यग्दर्शन है। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि कुछ स्वाध्यायी लोगों की ऐसी धारणा है कि प्रथम नरक में स्थित राजा श्रेणिक के जीव के निश्चय स यग्दर्शन है अथवा निश्चय व्यवहार दोनों स यग्दर्शन हैं। ऐसे जीवों की धारणा आगम स मत नहीं है, गलत है। €योंकि निश्चय स य€त्व, निश्चय चारित्र के बिना कभी नहीं होता। नरक में निश्चय स य€चारित्र का नितान्त अभाव है। अतः राजा श्रेणिक के जीव के मात्र क्षायिकस य€त्वरूप व्यवहारस यग्दर्शन मानना ही आगमस मत है।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के व्यवहारस य€त्व मानना आगमस मत नहीं है।

मार्च, 2009

260. स यक् एकान्त, मिथ्या एकान्त आदि के लक्षण

जिज्ञासा- स यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त के भेद से €या एकान्त भी दो प्रकार का होता है ? और इसी प्रकार या अनेकान्त भी दो प्रकार का होता है ? समझाइये।

समाधान- एकान्त तथा अनेकान्त, ये दोनों ही स यक् एवं मिथ्यारूप होते हैं जिसको इस प्रकार समझा जा सकता है-

स यक् एकान्त- हेतु विशेष की सामर्थ्य से प्रमाण द्वारा प्ररूपित वस्तु के एक देश को ग्रहण करनेवाला स यक् एकान्त है। जैसे- जिस पुरुष की आत्मस्वरूप में निश्चल धारणा नहीं है उसकी एकान्त से मुक्ति नहीं होती है। अथवा व्यय होते हुए भी अनन्त का क्षय नहीं होता है, यह एकान्त नियम है।

मिथ्या एकान्त- एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करनेवाला मिथ्या एकान्त है। जैसे- वस्तु सर्वथा नित्य ही है या वस्तु सर्वथा अनित्य ही है, आदि।

स यक् अनेकान्त- युक्ति व आगम से विरोध रहित एक ही स्थान पर प्रतिपक्षी अनेक धर्मों के स्वरूप का निरूपण करना स यक्अनेकान्त है। जैसे कोई भी वस्तु द्रव्यदृष्टि से नित्य है और पर्यायदृष्टि से अनित्य है।

मिथ्या अनेकान्त- तत् व अतत् स्वभाव वस्तु से शून्य, केवल वचन विलासरूप परिकल्पित अनेक धर्मात्मक मिथ्या अनेकान्त है। जैसे- अग्नि में उष्णत्व व शीतलत्वरूप दोनों धर्मों के अस्तित्व का कथन करना।

जून, 2010

261. केवलज्ञान के द्वारा स्वात्मा को नहीं जाना जाता

जिज्ञासा- €या केवलज्ञान आत्मा को जानता है ?

समाधान- केवलज्ञान आत्मा को नहीं जानता है, सच तो यह है कि आत्मा ही केवलज्ञान से जानता है। जानने वाला तो आत्मा ही है। केवलज्ञान स्वयं पर्याय है अत: उसकी दूसरी पर्याय नहीं हो सकती। यदि केवलज्ञान को स्व-पर प्रकाशक माना जायेगा तो उसकी एक काल में स्व प्रकाशक और पर प्रकाशक रूप दो पर्यायें माननी पड़ेंगी। किंतु केवलज्ञान स्वयं पर प्रकाश स्वरूप ही एक पर्याय है। केवलज्ञान न तो जानता ही है और न देखता ही है, योंकि वह स्वयं जानने व देखने रूप क्रिया का कर्ता नहीं है। अत: ज्ञान को अंतरङ्ग-बहिरङ्ग, दोनों का प्रकाशक न मानकर, ऐसा मानना चाहिये कि जीव स्व और पर का प्रकाशक है। श्री जयधवला 1/325-26 में इसप्रकार कहा भी है- **ण केवल णाणं जाणइ पस्सइ वा, तस्स कÍारताभावादो।**

सित बर, 2007

262. आगमशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र में अन्तर

जिज्ञासा- आगमशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र में €या अन्तर है ?

समाधान- आगमशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र का लक्षण जानने से उनका अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं-

1. आगमशास्त्र- श्री पंचास्तिकाय गाथा 173 की टीका में इस प्रकार कहा है-

'वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादिस यक्श्रद्धान-ज्ञानव्रताद्यनुष्ठानभेदरत्नत्रयस्वरूपं यत्र प्रतिपाद्यते तदागमशास्त्रं भण्यते।'

अर्थ- वीतराग सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे गये षड्द्रव्य व सप्त तǍव आदि का स यक्श्रद्धान व ज्ञान तथा व्रतादि के अनुष्ठान रूप चारित्र, इस प्रकार **भेद रत्नत्रय का स्वरूप** जिसमें प्रतिपादित किया गया है, उसको आगमशास्त्र कहते हैं। जैसे तǍवार्थसूत्र, द्रव्यसंग्रह आदि।

2. अध्यात्मशास्त्र- श्री पंचास्तिकाय गाथा 173 की टीका-चूलिका पृष्ठ 401 में इस प्रकार कहा है-

''अर्थपदानामभेदरत्नत्रयप्रतिपादिकानामनुकूलं यत्र व्या यानं क्रियते तदध्यात्मशास्त्रं भण्यते।''

अर्थ- अभेद रूप रत्नत्रय के प्रतिपादक अर्थ और पदों के अनुकूल जहाँ व्या यान किया जाता है, उसे अध्यात्मशास्त्र कहते हैं। जैसे- समयसार आदि।

अ टूबर, 2010

263. शुभोपयोग से शुद्धोपयोग और उससे केवलज्ञान होता है

जिज्ञासा- शुभोपयोग के अभाव में शुद्धोपयोग तथा शुद्धोपयोग से केवलज्ञान होता है। यह कार्य-कारण व्यवस्था सही है या नहीं ?

समाधान- मोक्षमार्ग-प्रकाशक (अधिकार-7) में इस प्रकार कहा है कि पहले अशुभोपयोग छूट शुभोपयोग होता है। पीछे शुभोपयोग छूट शुद्धोपयोग होता है और शुद्धोपयोग से केवलज्ञान होता है। इस ग्रंथ में यह भी लिखा है कि शुभोपयोग, शुद्धोपयोग का कारण नहीं है। तǍवत: विचार किया जावे तो कारण-कार्य व्यवस्था अपेक्षा उपर्युक्त प्रकार मानना आगमस मत नहीं है। इस पर ही विचार किया जाता है।

प्रमेय-रत्नमाला 1/13 में लिखा है कि-

यद्भावाभावा यां यस्योत्पत्यनुत्पǍौ तत्कारणमिति।

अर्थ- जिसके होने पर ही होता है और जिसके न होने पर नहीं होता, वह उसका कारण होता है, ऐसा न्याय है।

उपर्युक्त कथन के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि शुभोपयोग के सद्भाव में ही शुद्धोपयोग की उत्पǏि होती है और शुभोपयोग के अभाव में शुद्धोपयोग की उत्पǏि नहीं होती। अत: शुभोपयोग, शुद्धोपयोग में कारण है। इसके साथ ही शुद्धोपयोग, शुभोपयोग होने पर ही होता है, और जब तक शुभोपयोग रहता है, तब तक नहीं होता। अत: शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का कारण कहना उचित है।

यदि पं. टोडरमल जी के कथन को ध्यान से देखा जाये, तो उन्होंने अशुभोपयोग के छूटने से शुभोपयोग तथा शुभोपयोग के छूटने से शुद्धोपयोग माना है, तो उनको ऐसा नहीं लिखना चाहिए था, कि शुद्धोपयोग से केवलज्ञान होता है। उनको ऐसा लिखना चाहिये था कि शुद्धोपयोग के छूटने से केवलज्ञान होता है, योंकि शुद्धोपयोग मात्र 12वें गुणस्थान तक माना गया है। यहाँ तक अर्थात् 12वें गुणस्थान तक केवलज्ञान नहीं होता और केवलज्ञान होने पर शुद्धोपयोग नहीं रहता, बल्कि केवलज्ञान शुद्धोपयोग का फल होता है। अत: सही मान्यता या कारण-कार्य व्यवस्था में तो ऐसी स्थिति होती है कि शुभोपयोग से शुद्धोपयोग और शुद्धोपयोग से केवलज्ञान होता है।

यही मान्यता उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार आगम स मत है।

264. अव्रती के भोग निर्जरा के कारण नहीं हैं

जिज्ञासा- मैं स्वयं को स यग्दृष्टि मानता हूँ, तो €या मेरे द्वारा जो पंचेन्द्रियों के भोग किए जाते हैं, वे सब निर्जरा के ही कारण हैं, या बंध के भी ?

समाधान- ऐसा प्रतीत होता है कि समयसार ग्रन्थ की गाथा नं. 193 पढ़कर आपने उपर्युक्त प्रश्न किया है। गाथा इस प्रकार है-

उवभोज्जमिंदियेहिं, दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि स मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमिŽं॥ 193॥

अर्थ- स यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के द्वारा जो चेतन और अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है, वह सब निर्जरा का ही निमि ा है।

इसकी टीका में आ0 अमृतचन्द स्वामी लिखते हैं कि- **'विरागस्योपभोगो निर्जरायै एव'** अर्थ- वीतराग का उपभोग निर्जरा के लिए ही है।

उपर्युक्त गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य जी लिखते हैं- **'अत्राह शिष्यः रागद्वेषमोहाभावे सति निर्जरा कारणं भणितं, स यग्दृष्टेस्तु रागादयः सन्ति, ततः कथं निर्जराकारणं भवतीति ? अस्मिन् पूर्वपक्षे परिहारः-अत्र ग्रन्थे वस्तुवृत्या वीतरागस यग्दृष्टेर्ग्रहणम्।'**

अर्थ- शिष्य पूछता है- राग-द्वेष-मोह का अभाव निर्जरा का कारण कहा गया है। किन्तु स यग्दृष्टि के रागादि होते हैं, तो उसके निर्जरा कैसे हो सकती है ? आचार्य उ ार देते हैं कि इस समयसार ग्रन्थ में वीतराग स यग्दृष्टि को ग्रहण करना चाहिए।

उपर्युक्त गाथा का यदि इसप्रकार सही भाव आपने समझ लिया होता, तो उपर्युक्त जिज्ञासा उत्पन्न ही नहीं होती। सिद्धान्त इस प्रकार है कि अविरतस यग्दृष्टि के पंचेन्द्रियों के विषयों का सेवन करते हुए मात्र बंध ही होता है, निर्जरा नहीं होती। जबकि पाँचवें या इससे ऊपर के गुणस्थानवर्ती जीव के सांसारिक कार्य करते हुए भी व्रती होने के कारण प्रतिसमय निर्जरा होती है।

उपर्युक्त प्रकरण पर पं0 टोड़रमल जी ने मोक्षमार्ग- प्रकाशक के आठवें अधिकार में इसप्रकार कहा हैं- स यग्दृष्टि की महिमा दिखाने के लिए, जो तीव्र बंध के कारण भोगादि प्रसिद्ध थे, उन भोगादिक के होते हुए भी श्रद्धान / भक्ति के बल पर मंद बंध होने लगा, उसको तो गिना नहीं और उसके ही बल से निर्जरा विशेष होने लगी, इसलिए उपचार से भोग को भी बंध का कारण नहीं कहा, निर्जरा का ही कारण कहा। विचार करने पर, यदि भोग ही निर्जरा के कारण हों, तो उनको छोड़कर स यग्दृष्टि, मुनिपद का ग्रहण €यों करे।

265. अरहन्त अवस्था शुद्धोपयोग का फल है

जिज्ञासा- शुद्धोपयोग सातवें से बारहवें गुणस्थान तक ही €यों कहा गया है ? केवली के शुद्धोपयोग €यों नहीं कहा गया है ?

समाधान- वृहद्द्रव्यसंग्रह में गाथा 34 की टीका में इस प्रकार कहा गया है-

''शुद्धोपयोगे शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठति तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धात्मस्वरूप-साधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते।''

अर्थ- शुद्धोपयोग में शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव का धारक जो स्व आत्मा है सो ध्येय होता है। इस कारण शुद्ध ध्येय होने से शुद्ध अवल बनपने से तथा शुद्धात्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग सिद्ध होता है।

केवली बनने पर ध्याता-ध्येयपना या शुद्ध आत्मद्रव्य का अवल बनपना नहीं रहता। इसी कारण केवली अवस्था में ध्यान भी उपचार से कहा गया है। अत: केवली के शुद्धोपयोग न कहकर शुद्धोपयोग का फल कहा गया है जो सर्वथा उचित है।

266. पाप त्रैकालिक हेय व पुण्य तात्कालिक उपादेय है

जिज्ञासा— €या हमको पुण्य तथा पाप को समान रूप से हेय मानना उचित है ?

समाधान— इस स बन्ध में हमें सर्वप्रथम पुण्य तथा पाप की परिभाषा देख लेनी चाहिये। श्री सर्वार्थसिद्धि अ.6/3 की टीका में इनकी परिभाषा इस प्रकार कही गई है-

क. **पुण्य- पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्।**

अर्थ- जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है, वह पुण्य है।

ख. **पाप- पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्। तदसद्वेद्यादि।**

अर्थ— जो आत्मा को शुभ से बचाता है, वह पाप है। जैसे- असातावेदनीय आदि।

पुण्य तथा पाप के फल के संबंध में श्री धवला पु. क पृष्ठ क्भ में इस प्रकार कहा है-

(अ) **काणि पुण्ण फलाणि। तित्थयर गणहर रिसि-च€कवट्टि-वलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहर रिद्धिओ।**

अर्थ— पुण्य के फल कौनसे हैं ? उǯार-तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं।

(आ) **काणि पाव फलाणि। णिरय-तिरिय-कुमाणुस-जोणीसु जाइ-जरा मरण वाहि-वेदणा-दालिद्दादीणि।**

अर्थ— पाप के फल कौन से हैं ? उǯार-नरक, तिर्यंच और कुमानुष की योनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दरिद्रता आदि की प्राप्ति पाप के फल हैं।

उपर्युक्त के अतिरिक्त श्री तǯवार्थसार ब्क्फ का नि नश्लोक भी इस संबंध में पठनीय है-

हेतु कार्य विशेषा यां, विशेषः पुण्यपापयोः।
हेतू शुभाशुभौ भावौ, कार्ये चैव सुखासुखे॥ क्फ॥

अर्थ— हेतु तथा कार्य की विशेषता होने से पुण्य और पाप में अंतर है। पुण्य का हेतु शुभ भाव है, और पाप का हेतु अशुभ भाव है। पुण्य का कार्य सुख है, और पाप का कार्य दु:ख है।

उपर्युक्त लक्षण, फल, हेतु, कार्य आदि को जानकर यह कैसे कहा जा सकता है कि हमको पुण्य तथा पाप को समान रूप से हेय मानना चाहिये। यद्यपि वर्तमान में एकांतवादी लोग पुण्य और पाप को समान रूप से हेय मानते हैं, परन्तु उनकी मान्यता उपर्युक्त संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में बिल्कुल उचित नहीं है।

श्री परमात्मप्रकाश गाथा क्त्र्त्त की टीका में इस जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार दिया गया है—

अत्राह प्रभाकर ाट्टः- तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठंति, तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति? भगवानाह-यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं त्रिगुप्तिगुप्त वीतराग- निर्विकल्प-परमसमाधिं ल ध्वा तिष्ठंति तदा संमतमेव। यदि पुनस्तथाविधामवस्थामलभमाना अपि सन्तो गृहस्थाव-स्थायां दानपूजादिकं त्यजंति तपोधनावस्थायां षड़ावश्यकादिकं च त्य€त्वोभयभ्रष्टाः सन्तः तिष्ठंति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम्।

अर्थ— ऐसा सुनकर प्रभाकर भट्ट कहता है— यदि ऐसा ही है तो कितने ही पुण्य-पाप दोनों को समान मानकर स्वच्छंद हुये रहते हैं, उन्हें आप दोष €यों देते हैं? तब योगीन्द्रदेव ने कहा—जब शुद्धात्मानुभूति स्वरूप तीन गुप्ति से गुप्त वीतराग—निर्विकल्प समाधि को पाकर ध्यान में मग्न हुये पुण्य-पाप को समान जानते हैं, तब तो उचित है। परन्तु जो मूढ़ परमसमाधि को न पाकर भी गृहस्थ अवस्था में दान-पूजा आदि शुभ क्रियाओं को छोड़ देते हैं, और मुनिपद में छह आवश्यकों को छोड़ देते हैं, वे दोनों ओर से भ्रष्ट हैं, तब उनको दोष ही है।

उपर्युक्त प्रकरण से स्पष्ट है कि परमसमाधिकाल में दोनों को हेय मानना उचित कहा गया है। हम गृहस्थियों के लिये तो पुण्य तथा पाप में समानता कैसे हो सकती है? हम गृहस्थियों को तो 'प्रवचनसार' गाथा ख्ब्की आ. अमृतचन्द्र की नि नलिखित टीका के अनुसार शुभोपयोग (पुण्य) को पापवत् हेय न मानते हुये, शुभोपयोग की मु यता ही रखनी चाहिये।

टीका— **'गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसंपर्के णार्क तेजस इवैधसां रागसंयोगेनाशुद्धात्मनोऽनुभवात् क्र मतः परमनिर्वाण-सौ यकारणत्वाच्च मु यः।'**

अर्थ— वह शुभोपयोग गृहस्थों के तो सर्वविरति के न होने से शुद्धात्मप्रकाशन के अभाव के कारण कषाय के सद्भाव में प्रवर्तमान होता हुआ, जैसे ईंधन को स्फटिक के संपर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है इसी प्रकार राग के संयोग से अशुद्ध आत्मा का अनुभव होने से, क्रमशः परमनिर्वाणसुख का कारण होने से, मु य है। अर्थात् गृहस्थों के शुभोपयोग की मु यता है।

267. पुण्य या शुभोपयोग त्रैकालिक हेय नहीं हैं

जिज्ञासा-€या पुण्य या शुभोपयोग सर्वथा हेय है?

समाधान- कतिपय त वजिज्ञासु शुभोपयोग को अशुभोपयोग के समान बताते हुए उसे सर्वथा हेय और संसार का कारण निरूपित करते हैं। उनका कहना है कि शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों रागात्मक हैं। राग संसार का कारण है, अतः हेय है। यह बात आगम के अनुकूल नहीं है। न तो शुभोपयोग, अशुभोपयोग के समान है और न ही वह संसार का कारण है। यह बात सत्य है कि शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों रागात्मक वृŽा हैं। पर इतने मात्र से ही दोनों समान नहीं हो सकते। देखा जाए तो नल और नाली दोनों में जल है, पर दोनों की गुणवŽाा में जमीन आसमान का अन्तर है। आचार्य गुणभद्र के अनुसार जैसे प्रभातकालीन लालिमा के बिना सूर्योदय नहीं होता, उसी प्रकार शुभोपयोग के बिना शुद्धोपयोग नहीं होता। शुभोपयोग प्रभातकालीन लालिमा के समान है, तो अशुभोपयोग संध्याकालीन लालिमा की भाँति है। आचार्य विद्यासागर जी ने लिखा

है कि संतजनों के प्रति राग भी हमारे पाप को मिटानेवाला है। जल कितना भी गर्म यों न हो, आग को बुझाने की सामर्थ्य उसमें बनी रहती है। इसलिए आचार्य ने शुभोपयोग को कर्मनिर्जरा का कारण बताया है। आगम में इसके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। उनमें से कुछ प्रमाणों को हम यहाँ दे रहे हैं।

1. आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने मोक्षपाहुड गाथा 25 में इस प्रकार कहा है-

वर वयतवेहिं सग्गो, मा दु खं होउ निरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं, पडिवालंताण गुरुभेयं॥ 25॥

अर्थ- जिस प्रकार छाया और धूप में स्थित पथिकों के प्रतिपालक-कारणों में बड़ा भेद है, उसी प्रकार पुण्य और पाप में भी बड़ा भेद है। व्रत तप आदि रूप पुण्य श्रेष्ठ है, €योंकि उससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और उससे विपरीत अव्रत तथा अतप आदि रूप पाप श्रेष्ठ नहीं है, योंकि उससे नरक की प्राप्ति होती है।

2. आदिपुराण पर्व 37 / 200 में आचार्य जिनसेन ने इस प्रकार कहा है-

ततः पुण्योदयोद्भूताम् मत्वा चक्रभृतः श्रियम्।
चिनुध्वं भो बुधाः पुण्यं यत्पुण्यं सुखस पदाम्॥

अर्थ- हे पंडितजन! चक्रवर्ती की विभूति को पुण्य के उदय से उत्पन्न हुई मानकर, उस पुण्य का संचय करो, जो समस्त सुख स पदाओं की खान है। (यदि पुण्य को सर्वथा हेय ही कहना उचित होता, तो श्री जिनसेनाचार्य इस प्रकार ज्ञानियों को पुण्य-उपार्जन करने का उपदेश €यों देते) ?

3. आत्मानुशासन श्लोक 23 में आचार्य गुणभद्र स्वामी ने इस प्रकार कहा है-

परिणाममेवकारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः।
तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः॥

अर्थ- बुद्धिमानों ने निश्चय करके पुण्य-पाप का कारण परिणामों को ही कहा है, अतः पाप का नाश और पुण्य का संचय भली प्रकार से करना ही योग्य है।

4. आचार्य पद्मनंदी महाराज ने भी पद्मनंदी पंचविंशतिका श्लोक 1/188 में इस प्रकार कहा है- हे पंडितजनो! पुण्य राशि के भाजन होओ, अर्थात् पुण्य का उपार्जन करो। यदि पुण्य सर्वथा हेय होता, तो स यग्दृष्टि के पुण्य को मोक्ष का कारण €यों कहा जाता ?

5. आ. कुन्दकुन्द स्वामी प्रवचनसार में कहते हैं-

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेÍिा भणिदा ताएव परं लहदि सो€खं॥ 254॥

अर्थ- यह प्रशस्तभूत चर्या अर्थात् शुभोपयोग मुनियों के गौणरूप से होता है, और गृहस्थ के मु यरूप से। और वे उसी भाव से परम सौ य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं। ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

6. आ. अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार गाथा 256 की टीका में कहा है-

शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भावोपल भः किल फलम्।

अर्थ- सर्वज्ञ-व्यवस्थापित वस्तुओं में उपयुक्त शुभोपयोग का फल पुण्यसंचयपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है।

आ. जयसेन ने भी उक्त प्रसंग में शुभोपयोग को पर परा से मोक्ष का कारण कहा है।

7. पंचास्तिकाय गाथा 170 की उत्थानिका और टीका में भी शुभोपयोग को पर परा से मोक्ष का कारण कहा है-**''अर्हदादिभक्तिरूपपरसमयप्रवृ ि: साक्षान्मोक्ष-हेतुत्वाभावेऽपि पर परामोक्षहेतुत्व-सद्भावद्योतनमेतत्।''**

अर्थ- यहाँ अर्हन्त आदि की भक्तिरूप परसमय की प्रवृ ि (शुभोपयोग) साक्षात् मोक्ष का हेतु न होने पर भी पर परा से मोक्ष का हेतु है, यह दर्शाया है।

8. ऐसा ही देवसेनाचार्य ने भावसंग्रह में कहा है-**स मादिट्ठी-पुण्णं ण होइ संसारकारणं नियमा॥** 404॥

अर्थ- नियम से स यक्दृष्टि का पुण्य संसार का कारण नहीं होता है। और भी देखें-

9. आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार गाथा 45 में अर्हन्त भगवान् को पुण्यप्रकृति का फल कहा है **'पुण्णफला अरहंता'** पुण्य का फल अरहंतपना है।

10. उपर्युक्त की टीका में श्री अमृतचन्द्रस्वामी लिखते हैं कि- **अर्हन्तः खलु सकलस यक्परिप€वपुण्य कल्पपादपफला एव भवन्ति।**

अर्थ- अरहंत भगवान् वास्तव में स यक् प्रकार से स पूर्ण परिप€व हुये पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के फल ही हैं।

11. आचार्य जयसेन स्वामी इसकी टीका इस प्रकार करते हैं-

अर्थ- जो पंचमहाकल्याणक की पूजा उत्पन्न करने वाला है, त्रिलोक को जीतनेवाला है, वह तीर्थंकर नाम का पुण्यकर्म है। इसी के फलभूत अरहंत भगवान् होते हैं।

12. श्री अकलंक स्वामी राजवार्तिक में इस प्रकार लिखते हैं-

'तत्र पुण्यास्रवो व्या येयः प्रधानत्वात् तत्पूर्वक-त्वात् मोक्षस्य।' (7 / 1)

अर्थ- अब पुण्यास्रव का व्या यान करना चाहिए, €योंकि वह प्रधान है। उस पूर्वक ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

13. सर्वार्थसिद्धिकार ने पुण्य की परिभाषा अध्याय 6/3 की टीका में इस प्रकार की है-

'पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यं- जो आत्मा को पवित्र करता है, या जिसके द्वारा आत्मा पवित्र होता है, वह पुण्य है।'

14. आचार्य विद्यानंद जी श्लोकवार्तिक व अष्ट-सहस्री में लिखते हैं-

मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्रविशेषात्मक पौरुषा याम् एव संभवात्। (पृ. 257)।

अर्थ- परमपुण्य के अतिशय से तथा चारित्र रूपी पुरुषार्थ से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों को ध्यान में रखते हुये पुण्य को सर्वथा हेय कहना छोड़कर, **पंडित टोडरमलजी** के **मोक्षमार्ग प्रकाशक** अधिकार 7 में कहे इन वचनों का आश्रय लेना चाहिए- **'जहाँ शुद्धोपयोग होता जानै तहाँ तो शुभकार्य का निषेध ही किया, अर जहाँ अशुभोपयोग होता जाने, तहाँ शुभ को उपायकरि**

अंगीकार करना युक्त है।'

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध है, कि पुण्य सर्वथा हेय नहीं है, अपितु कथंचित् हेय तथा कथंचित् उपादेय है। हम गृहस्थों को तो इस काल में शुद्धोपयोग होता नहीं, अत: शुभोपयोग अर्थात् पुण्य को ही उपादेय मानकर अंगीकार करना चाहिए। इतना अवश्य है कि पुण्य साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है। साक्षात् मोक्ष का कारण तो शुद्धोपयोग ही है।

268. पुण्य के भेद व स्वरूप

जिज्ञासा- €या पुण्य भी कई प्रकार का होता है ?

समाधान- आचार्यों ने पुण्य के भी विभिन्न भेद किये हैं-

1. समयसार गा. 239/242 की आ. जयसेन की टीका में पुण्य के स बन्ध में इस प्रकार कहा है- कोई एक (मिथ्यादृष्टि) जीव नवीन पुण्य कर्म के निमिŽाभूत शुभकर्मानुष्ठान को भोगाकांक्षा के निदान रूप से करता है, तब वह पापानुबंधी पुण्यरूप राजा कालान्तर में उसको विषयभोग प्रदान करता है। वे निदानबंधपूर्वक प्राप्त भोग भी रावण आदि की भाँति उसको अगले भव में नरकादि दु:खों की पर परा प्राप्त कराते हैं। (अर्थात् निदान-बंधपूर्वक किये गये पुण्यरूप शुभानुष्ठान अगले भवों में नरकादि गतियों के कारण होने से पापानुबंधी पुण्य कहलाते हैं।) कोई एक स यग्दृष्टि जीव निर्विकल्प समाधि का अभाव होने के कारण अश€यानुष्ठानरूप विषयकषाय-वंचनार्थ यद्यपि व्रत, शील, दान, पूजादि शुभकर्मानुष्ठान करता है, परन्तु (मिथ्यादृष्टि की भाँति) भोगाकांक्षारूप निदानबंध से उसका सेवन नहीं करता है, उसका वह कर्म पुण्यानुबंधी है, भवांतर में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि अ युदयरूप में उदय में आने पर भी वह स यग्दृष्टि पूर्वभव में भावित भेदज्ञान की वासना के बल से शुद्धात्मा की भावना को विनाश करनेवाले और विषयसुखों को उत्पन्न करनेवाले भोगों की आकांक्षारूप निदान या रागादिक परिणाम नहीं करता है, जैसे भरतेश्वरादि। अर्थात् निदानबन्ध रहित बाँधा गया पुण्य सदा पुण्यरूप से ही फलता है। पाप का कारण कदाचित् भी नहीं होता। इसलिए पुण्यानुबंधी पुण्य कहलाता है।

उपर्युक्त प्रमाण में पुण्य के 2 भेद बताये गये हैं, पापानुबंधी और पुण्यानुबंधी। जिनके फल स्पष्ट रूप से ऊपर बताये गये हैं।

2. श्री आदिपुराण भाग 2 पृ. 60 में इस प्रकार कहा है-

पुण्यं जिनेन्द्रपरिपूजनसाध्यमाद्यं,
पुण्यं सुपात्रगतदानसमुत्थमन्यत्।
पुण्यं व्रतानुचरणादुपवासयोगात्,
पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम्॥ 219॥

अर्थ- जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने से उत्पन्न होनेवाला पहला पुण्य है, सुपात्र को दान देने से उत्पन्न हुआ दूसरा पुण्य है, व्रतपालन करने से उत्पन्न हुआ तीसरा पुण्य है और उपवास करने से उत्पन्न हुआ चौथा पुण्य है। इस प्रकार पुण्य की इच्छा करनेवाले पुरुषों को उपर्युक्त लिखे हुए 4 प्रकार के पुण्यों का संचय करना चाहिये। इस आगम प्रमाण में पुण्य को 4 प्रकार का बताया गया है। पुण्य के दो भेद अलग-अलग विवक्षा से किये गये हैं।

*****

अन्य

269. भगवान् बाहुबली स्वामी की प्राचीन मूर्ति कहाँ हैं

जिज्ञासा : श्रवणबेलगोला स्थित भगवान् बाहुबली की मूर्ति से पूर्व भी €या ऐसी ही मूर्तियों की उपलाि ध होती है या यह मूर्ति सर्वाधिक प्राचीन है, स्पष्ट करें ।

समाधान : पूरे भारतवर्ष में जितनी भी भगवान् बाहुबली की मूर्तियाँ पाईं जाती हैं, उनमें सुंदरता की दृष्टि से श्रवणबेलगोला स्थित भगवान् बाहुबली का जिनबि ब अनुपम, अद्वितीय एवं सर्वश्रेष्ठ है तथा दसवीं शताŸदी की है। इससे पूर्व भी भगवान् बाहुबली की मूर्तियों के प्रमाण एवं मूर्तियों का सद्भाव पाया जाता रहा है। कुछ ज्ञात मूर्तियाँ इस प्रकार हैं-

1. च बल क्षेत्र में मन्दसौर जिले के घुसई स्थान से प्राप्त भ.बाहुबली की मूर्ति चौथी-पाँचवी शताŸदी की अनुमान की जाती है।

2. संभवत: कद बराज रविवर्मा द्वारा पाँचवी शताŸदी में निर्मित 'मन्मथनाथ' (कामदेव या बाहुबली) का मंदिर सर्वाधिक प्राचीन बाहुबली मंदिर सिद्ध होता है। इससे संबंधित शिलालेख उि ार कर्नाटक जिले के बनवासी के निकट गुदनापुर ग्राम में प्राप्त हुआ है।

3. ऐहोल की गुफा में भगवान् बाहुबली की मूर्ति स्थित है, जो लगभग 7 फीट ऊँची है और 7वीं शताि दी की मानी जाती है। इसमें भगवान् बाहुबली की जटायें कन्धों तक प्रदर्शित हैं और उनकी बहिनें लताओं को हटाते हुए दिखाई गईं हैं।

4. बादामी के जैन गुफा मंदिर में भी भ. बाहुबली की एक आठ फुट ऊँची प्रतिमा है, जो सातवीं-आठवीं शताि दी की मानी जाती है।

5. ऐलोरा-स्थित जैन गुफाओं में भ. बाहुबली की कई प्रतिमाएं हैं जो आठवीं-नौवीं शताि दी की मानी जाती हैं।

6. हुमचा में 898 ईसवी में राजा विक्रम सान्तर ने एक विशाल 'बाहुबली वसदि' बनवाई थी, जिसकी अब केवल चौकी ही शेष रह गई है और बाहुबली की जीर्ण 5 फुट ऊँची प्रतिमा अब कुन्दकुन्द विद्यापीठ भवन में रखी हुई है। इस मूर्ति पर भी जटाएँ प्रदर्शित हैं, किन्तु लताएँ केवल पैरों तक ही उत्कीर्ण हैं।

7. कर्नाटक के गोलकुंडा के खजाना-बिल्डिंग-संग्रहालय में भी 1.73 मीटर ऊँची काले वेसाल्ट पाषाण की भ. बाहुबली की मूर्ति है, जो दसवीं शताŸदी की कही जाती है।

8. जूनागढ़ संग्रहालय में भ. बाहुबली की एक मूर्ति प्रदर्शित की गई है, जो नौवीं शताि दी की कही जाती है।

9. खजुराहो में पार्श्वनाथ मंदिर की बाहरी दक्षिणी दीवाल पर भी भ. बाहुबली की मूर्ति उत्कीर्ण है, जो दसवीं शताि दी की है।

10. लखनऊ संग्रहालय में भ. बाहुबली की मूर्ति है, जिसका मस्तक और चरण खण्डित है, यह भी 10वीं शताि दी की है।

11. इसके अलावा महोबा, देवगढ़, श्रवणगिरि आदि में भ. बाहुबली की कई मूर्तियाँ हैं, जो लगभग 10वीं शता दी की हैं।

इस प्रकार भ. बाहुबली की, चढ़ी हुई बेलवाली विशिष्ट शैली की मूर्तियों के निर्माण की पर परा ईसा की चौथी शता दी से माननी चाहिए।

अप्रैल, मई, जून, 2006

270. जैन कन्याओं का विवाह अजैनों में नहीं करना चाहिये

जिज्ञासा : आजकल बहुत सी कन्याओं के विवाह स बन्ध, पैसा एवं शिक्षा आदि की अधिकता देखकर अजैनों में किये जा रहे हैं। या ऐसा करना उचित है ?

समाधान : जैन परिवार में जन्म लेना, अत्यन्त दुर्लभ एवं परम सौभाग्य का सूचक है। अत: यदि कोई कन्या, स्वयं किसी अजैन लड़के के साथ चली जाती है या कोई माता-पिता धन अथवा शिक्षा की अधिकता देखकर जैन कुल में उत्पन्न कन्या का अजैन परिवार में विवाह कर देते हैं, तो इससे बड़ा अनर्थ या दुर्भाग्य €या हो सकता है ? श्रावकाचार आदि ग्रन्थों में ऐसे विवाहों को अत्यन्त निन्दनीय कहा गया है।

1. श्री सर्वोपयोगी श्लोकसंग्रह पृ. 452 पर इस प्रकार कहा है-

दूरस्थानामविद्यानां, धर्मकर्म विनाशिनाम्।
शूराणां निर्धनानां च न देया कन्यका शुभै:।।

अर्थ - धर्मात्मा मनुष्य को चाहिये कि वह दूरवर्ती, विचाररहित, **धर्म कर्म से शून्य,** शूर तथा निर्धन को कन्या न दे।

2. श्री प्रश्नो ार श्रावकाचार / 74 में इस प्रकार कहा है -

वरं क्षिप्तांधकूपादौ, पुत्री सन्मृत्युहेतवे।
न च दातुं कुमिथ्यात्वाधिष्ठिताय जडात्मने॥

अर्थ - बेटी को अन्धे कुएँ में डाल देना अच्छा है परन्तु अन्यधर्मरूपी मिथ्यात्व को सेवन करने वाले अज्ञानी को देना, बिल्कुल अच्छा नहीं।

3. श्री सागारधर्मामृत में इस प्रकार कहा है -

आधानादिक्रियामंत्र - व्रताद्यच्छेदवाञ्छया।
प्रदेयानि सधर्मे य: कन्यादीनि यथोचितम्।। ख/भ्त्र॥

अर्थ - गर्भादानादि क्रियाओं, णमोकार आदि मंत्र तथा व्रतों को सदा बनाये रखने की इच्छा से, कन्या साधर्मी को ही देना चाहिये। लड़की यदि अन्यधर्म में जाती है, तो उसका धर्म ही छूट जाता है। इसलिये हमेशा साधर्मी को ही कन्या देनी चाहिये।

4. श्री प्रश्नो ार श्रावकाचार / 75 में कहा है -

सा कूपे पतिता दु:खं, भुङ्क्ते चैकभवं पुन:।
अनन्तभवजं पापान्मिथ्यादृष्टिगृहे गता॥

अर्थ - कुएँ में डाली गयी बेटी तो एक भव में ही दु:ख भोगेगी, परन्तु अन्यधर्मवाले मिथ्यादृष्टि के साथ विवाह होने पर, मिथ्यात्वरूपी पाप के कारण अनन्त भवों तक दु:ख पायेगी। अत: अन्यधर्मी के साथ कन्या का विवाह करना उचित नहीं है।

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि किसी भी जैन कन्या का अजैन वर के साथ विवाह नहीं करना चाहिये।

जुलाई, 2006

271. गौतम बुद्ध पहले दिग. साधु थे, बाद में नये मत का प्रचार किया

जिज्ञासा- €या बुद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतमबुद्ध, पूर्व में दिग बर साधु थे ? प्रमाण देकर समझाइये।

समाधान- शा€यवंशी कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के राजकुमार महात्मा बुद्ध, भगवान् महावीर के समकालीन थे। प्रोफेसर भंडारकर ने (जे.एच.एम. इलाहाबाद- फरवरी 1925 के पृष्ठ 25 पर) कहा है कि महात्मा बुद्ध कुछ समय तक जैनमुनि रहे। महात्मा बुद्ध की चर्या कुछ समय तक जैनमुनि के रूप में थी। बौद्ध ग्रंथ मज्झिम निकाय पृष्ठ 48-49 में महात्मा बुद्ध लिखते हैं- वहाँ सारिपुत्र! मेरी यह तपस्विता थी- अचेलक (नग्न) था। मुक्ताचार, हस्तावलेटनन (हथचट्टा) नष्ट हिमादन्तिक (बुलाई भिक्षा का त्यागी) न तिष्ठ भदन्तिक (ठहरिये, कहकर दी गई भिक्षा को) न अपने उद्देश्य से किये गये का और न निमंत्रण को खाता था। — न मछली, न मांस, न शराब पीता था। — शाकाहारी था। — केश दाढ़ी नोंचने वाला था। इससे स्पष्ट है कि महात्माबुद्ध जैनधर्म ग्रहण करके जैनसाधु हो गये थे। श्री भंडारकर ने आगे पृष्ठ 26 पर कहा है- महात्माबुद्ध वास्तव में भ. महावीर के उपदेशों से प्रभावित होकर जैनसाधु बन गये थे, परन्तु जैनसाधु की कठिन चर्या पालने में असमर्थ होने पर उन्होंने मध्यम मार्ग चलाया। यही मध्यम मार्ग 'बौद्धधर्म' कहलाया।

बौद्धग्रंथ मज्झिमनिकाय पृष्ठ 92-93 पर और भी कहा है- मैंने निर्ग्रन्थों से पूछा ऐसी घोर तपस्या की वेदना को €यों सहन कर रहे हो ? तो उन्होंने कहा 'निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। उन्होंने बताया है कि कठोर तप करने से कर्म कटकर दु:ख क्षय होता है।' इस पर बुद्ध कहते हैं ''यह कथन हमारे लिये रुचिकर प्रतीत होता है और हमारे मन को ठीक जंचता है।'' महात्मा बुद्ध पर भ. महावीर का बहुत प्रभाव था इसी का फल है कि उन्होंने बौद्धग्रंथ 'ध मपद' के पृष्ठ 331 पर भ. महावीर की सर्वज्ञता को स्वीकार किया और उनकी प्रशंसा की प्रो. सिल ने (जे.एच.एम. नव बर 1926 पृष्ठ 2) कहा है कि उन्होंने वास्तव में बहुत से जैनसिद्धांतों को स्वीकार किया। डॉ. हर्मन जैकोवी ने दि. जैन सूरत पत्र के पृष्ठ 48 पर लिखा है कि जैनदर्शन, बौद्धमत की माता है। श्री बालगंगाधर तिलक ने जैनधर्म मह व के भाग 2 (सूरत) पृष्ठ 83 पर महात्मा बुद्ध को भगवान् महावीर का शिष्य स्वीकार किया है। विद्वानों का कथन है कि बौद्धधर्म तो जैनधर्म से निकला है।

जैनशास्त्र दर्शनसार में महात्मा बुद्ध को जैनाचार्य पिहिताश्रव (जो भ. पार्श्वनाथ के तीर्थ में हुये थे) का शिष्य मुनि बुद्धकीर्ति के नाम से कहा गया है।

उपरोक्त सभी प्रमाणों के अनुसार महात्मा बुद्ध पहले जैनमुनि बने थे। परन्तु जैनमुनि की कठिन चर्या न पाल सकने के कारण उन्होंने बौद्धमत चलाया था। यह बौद्धग्रंथों से ही सिद्ध होता है।

अगस्त, 2007

272. णमोकार मंत्र के विभिन्न उच्चारण

जिज्ञासा— णमोकार मंत्र का असली उच्चारण €या है ? णमो अरिहंताणं या णमो अरहंताणं ?

समाधान— आचार्य पुष्पदंत द्वारा श्री षट्खंडागम के प्रथम खण्ड के मंगलाचरण के रूप में इस महामंत्र की रचना हुई है। इस निबद्ध मंगल का वहाँ इस प्रकार उल्लेख है—

णमो अरिहंतांण, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं॥

इस प्रकार इस मंत्र का असली उच्चारण है। परंतु इसके प्रथम चरण के णमो अरहंताणं तथा णमो अरुहंताणं इस प्रकार दो तरह से भी उच्चारण प्राप्त होते हैं। ये उच्चारण भी अर्थ की अपेक्षा निर्दोष हैं। पू0 आ0 विद्यासागर जी महाराज ने एक बार बताया था कि आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज को जब णमोकार मंत्र का तीन बार उच्चारण करना होता था, तब वे एक बार 'णमो अरिहंताणं', दूसरी बार 'णमो अरहंताणं' तथा तीसरी बार 'णमो अरुहंताणं' बोलते थे, अर्थात् ये तीनों ही उच्चारण निर्दोष हैं।

अ टूबर, 2007

273. उपसर्गविजेता भगवान् की मूर्ति में फण बनाना अनुचित नहीं

जिज्ञासा— भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति पर फण बनाना उचित है या नहीं ? ऐसी मूर्तियाँ पूज्य मानी जायें या नहीं ?

समाधान— वर्तमान में सभी तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उपल ध हैं। उनमें से केवल भगवान् सुपार्श्वनाथ तथा भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति पर सर्प के फणों की रचना दृष्टिगोचर होती है। अन्य सभी मूर्तियाँ पूर्ण निष्परिग्रहता या नि:संग अवस्था की होती हैं। इस विषय में वास्तविकता तो यह है कि केवलज्ञान होने से पूर्व ही समस्त उपसर्ग दूर होने का नियम है। अत: इन मूर्तियों पर सर्प का फण नहीं बनाना चाहिये। इसी प्रकार भगवान् बाहुबली की मूर्ति पर भी बेलें चढ़ी हुई दिखाई जाती हैं। यह मूर्ति अरिहंत अवस्था की है, अत: इस पर भी बेलों का अंकन नहीं होना चाहिये था। इस प्रश्न के उ ार में एक बार पू. आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने बताया था कि यद्यपि ये सर्प के फण तथा बेलों का अंकन नहीं होना चाहिये था, परंतु भगवान् पार्श्वनाथ एवं सुपार्श्वनाथ पर उपसर्ग हुआ था। ये दोनों तीर्थंकर महान् उपसर्गविजेता हुये हैं तथा ागवान् बाहुबली मुनि अवस्था में एक वर्ष तक, एक ही स्थान पर इस प्रकार कायोत्सर्ग मुद्रा से स्थित रहे कि उनके शरीर की स्थिरता के कारण उन पर बेलें भी चढ़ गईं। इस प्रकार तपस्या की उत्कृष्टता दिखाने हेतु ऐसा अंकन किया जाता है। बड़े-बड़े आचार्यों ने इन मूर्तियों की प्रतिष्ठा एवं वंदना की है। अत: इन मूर्तियों को पूज्य एवं निर्दोष मानते हुये, अरिहंत परमेष्ठी के बि बवत् इनकी पूजा करनी चाहिये।

अत: हम स ाी को इन मूर्तियों पर सर्प का फण या बेलों के अंकन को उचित मानते हुये, पूर्ण भक्ति-भाव से वंदना, पूजा करना योग्य है। यह भी विशेष है कि भगवान् पार्श्वनाथ तथा भगवान् सुपार्श्वनाथ की मूर्ति पर यदि सर्प का फण न बनाया जाय, तो भी कोई आपžि नहीं, इनका अंकन नियामक नहीं मानना चाहिये तथा ऐसी धारणा भी नहीं बनानी चाहिये कि उपसर्ग दूर करनेवाला होने से धरणेन्द्र की महžा बताने को इस प्रकार

की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ऐसी फणोंवाली मूर्तियों पर अभिषेक करते समय, फणों के ऊपर से जल की धारा न डालकर, भगवान् के मस्तक पर ही जल की धारा देनी चाहिये।

अ टूबर, 2007

274. देवों की भाषा

जिज्ञासा— देव लोग किस भाषा में बोलते हैं ?

समाधान— शास्त्रों में ऐसा कोई वर्णन पढ़ने में नहीं आया कि देवों की भाषा कौनसी है ? इस प्रश्न को मैंने पू0 आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज से एक बार निवेदन किया था, तब उन्होंने कहा था कि संस्कृत को देववाणी कहते हैं। अत: शायद देव संस्कृत में बोलते हों। इसका कोई आगमप्रमाण उपलÅध नहीं होता।

अ टूबर, 2007

275. जैनध्वज के पंचरंग पंचपरमेष्ठी के प्रतीक

प्रश्न— जैनध्वज में पाँच रंग किसके प्रतीक हैं ?

समाधान— वीरनिर्वाण के ख्व्वें वर्ष के अवसर पर आ0 विद्यानन्द जी ने सर्वप्रथम जैनध्वज का प्रचलन आरंभ किया। जैनध्वज में पाँच वर्ण होते हैं। सबसे पहला लाल रंग, सिद्ध परमेष्ठी एवं पुरुषार्थ-कल्याण का प्रतीक है। दूसरा पीत वर्ण, आचार्य परमेष्ठी व धनादि का प्रतीक है। तीसरा सफेद रंग, अरिहंत परमेष्ठी तथा शांति को प्रदर्शित करने वाला है। चौथा हरा रंग, उपाध्याय परमेष्ठी का प्रतीक है एवं भय का नाश करने वाला है। अंतिम पाँचवा नील वर्ण, साधु परमेष्ठी तथा विजय का प्रतीक है।

मानसार ग्रंथ के अध्याय फ्भ् (स्थापत्य एवं मूर्तिकला) में इस प्रकार कहा है—

स्फटिंक श्वेतं र तं च, पीतश्यामनिभं तथा।
एतत्पंचपरमेष्ठिन: पंचवर्णं यथाक्रमम्॥

जनवरी, 2008

276. ओम् ह्रां ह्रीं आदि श दों के अर्थ

जिज्ञासा— ओम् ह्रां ह्रीं आदि श दों का या अर्थ होता है ?

समाधान— पं0 गुलाब चन्द जी 'पुष्प' द्वारा रचित 'प्रतिष्ठा-रत्नाकर' में ओम् ह्रीं आदि बीजाक्षरों का अर्थ एवं शक्तियाँ इस प्रकार कही गईं हैं—

ओम् = यह शÅद पंचपरमेष्ठी, आत्मवाचक और प्रणववाचक है।

ह्रीं = यह ख्ब तीर्थंकरों का प्रतीक है।

श्री = यह कीर्तिवाचक है।

 लीं = लक्ष्मीप्राप्ति-वाचक है।

ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रों ह्र: = ये सर्व शान्ति, मांगल्य, कल्याण, विघ्नविनाशक, सिद्धिदायक हैं।

क्षां क्षीं क्षूं क्षें क्षैं क्षों क्षौं क्ष: = सर्वकल्याण, सर्वशुद्धिबीज वाचक हैं।

स्वाहा = शान्ति और हवनवाचक है।

उपर्युक्त को आदि लेकर समस्त बीजाक्षरों की उत्पत्ति णमोकारमंत्र तथा इस मंत्र में प्रतिपादित पंच-परमेष्ठी के नामाक्षर तीर्थंकर नामाक्षरों से हुई है।

'भगवान् शान्तिनाथ विधान' में जो क्र. € ल्र्व्यूं ख्र. ल्र्व्यूं फ्र. घ ल्र्व्यूं ब्र. इ ल्र्व्यूं भ्र. ल्र्व्यूं म्र. ल्र्व्यूं स्त्र. ह ल्र्व्यूं त्र. ल्र्व्यूं ये आठ शक्ति आते हैं, ये शक्ति प्रदान करनेवाले, आठ वज्र हैं।

दिस बर, 2008

277. पुरुषार्थ का अर्थ एवं भेद

जिज्ञासा— चार पुरुषार्थों का स्वरूप और उनकी उपयोगिता बतायें ?

समाधान— पुरुषार्थ श□ द का अर्थ, अष्टशती में इस प्रकार कहा है—**'पौरुषं पुनरिह चेष्टितम्'**

अर्थ— चेष्टा करना पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के चार ोद कहे गये हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनका स्वरूप परमात्मप्रकाश (गाथा क्ख) में इसप्रकार कहा है—

ध महँ अत्थहँ कामहँ वि एयहँ सयलहँ मो€खु।
उत्तामु पभणहिं णाणि जिय अण्णँ जेण ण सो€खु॥

अर्थ- हे जीव। धर्म, अर्थ और काम रूप इन सभी से ज्ञानी मोक्ष को ही उ□ ाम कहते हैं, □ योंकि अन्य से सुख नहीं है।

टीकार्थ— धर्म शब्द से यहाँ पुण्य समझना (पुण्य प्राप्ति के लिए पूजा-स्वाध्याय आदि करना), अर्थ शब्द से पुण्य का फल, राज आदि स पदा जानना और काम शब्द से उस राज का मु य फल स्त्री, वस्त्र, सुगंधित माला आदि वस्तु रूप भोग जानना। इन तीनों से परम सुख नहीं है, □ लेश रूप दुख ही है।

श्री भगवती-आराधना में इस प्रकार कहा है—

(गाथा नं. क्त्स्त्र-क्त्क्ब) **अर्थ—** अर्थ, काम और सब मनुष्यों की देह अशुभ है। सब सुखों की खान एक धर्म ही शुभ है, शेष सब अशुभ हैं। (क्त्स्त्र)

अर्थ पुरुषार्थ—धन सब अनर्थों की जड़ है। यह जीव में इस लोक और परलोक संबंधी दोष लाता है अर्थात् धन पाकर मनुष्य विषयों में फँस जाता है और उससे वह इस लोक में भी निन्दा का पात्र होता है, और परलोक में भी कष्ट उठाता है। मृत्यु आदि महान् भयों का मूल होने से धन महाभय रूप है और मोक्षमार्ग के लिए तो बेड़ी है। धन में मस्त मनुष्य मोक्ष की बात भी सुनना नहीं चाहता। (क्त्त्)

काम पुरुषार्थ— यह काम भोग अपवित्र अपने और पर के शरीर के संयोग से पैदा होता है। यह मनुष्य को गिराता है, उसे लोगों की दृष्टि में नीचा करता है। यह अल्पकाल के लिए होता है तथा दोनों ही लोकों में दु:खदाई है तथा सुलभ भी नहीं है। (क्त्-)

धर्म पुरुषार्थ— धर्म पवित्र है €योंकि रत्नत्रयात्मक धर्म में स्थित को, देव भी नमस्कार करते हैं। पवित्र धर्म के स बन्ध से आत्मा भी पवित्र है। धर्म से ही साधु भी जल्लौषधि आदि ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं अर्थात् रत्नत्रय रूप धर्म का साधन करने से साधुओं के शरीर का मल भी औषधि रूप हो जाता है।

मोक्षपुरुषार्थ- इसका स्वरूप ज्ञानार्णव (फ/म्) में इस प्रकार कहा है— जो प्रकृति, प्रदेश, स्थिति तथा अनुभाग रूप समस्त कर्मों के संबंध के सर्वथा नाशरूप लक्षणवाला संसार का प्रतिपक्षी है, वही मोक्ष है। इस

मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करना मोक्ष पुरुषार्थ है। जिनेन्द्र भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे स यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को मुक्ति का कारण कहते हैं, वे इन स यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से ही मोक्ष की साधना करते हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों का सारांश यह है कि अर्थ व काम पुरुषार्थ अकल्याणकारी हैं, धर्म-पुरुषार्थ पुण्य रूप होने से लौकिक कल्याण को देनेवाला है और पर परा से मोक्ष को भी प्राप्त करानेवाला है। मोक्ष-पुरुषार्थ तो साक्षात् कल्याणप्रद है। मुनि महाराज तो धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ का साधन करते हैं। पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज के अनुसार, सद्गृहस्थों को न्याय-नीतिपूर्वक धर्म, अर्थ एवं काम पुरुषार्थ का सेवन करना चाहिए तथा तीनों पुरुषार्थों को समान समय अर्थात् त्त-त्त घंटे देने चाहिए।

दिस बर, 2008

278. अनधिकृत भूमि पर जिनालय स्थापित करना उचित नहीं

जिज्ञासा— बिना दान में दी हुई या बिना खरीदी हुई भूमि पर नवीन मंदिर बनवाना उचित है या नहीं?

समाधान— किसी अनधिकृत भूमि पर नवीन जिनमंदिर बनवाना उचित नहीं है, इसे भी **'अद ादानं स्तेयं'** के अंतर्गत चोरी ही माना जायेगा। परंतु आजकल सभी धर्म के लोग अपने-अपने मंदिरों के लिए बिना खरीदी हुई सरकारी भूमि के किसी भाग को अधिग्रहण करके मंदिर बनाते हुये देखे जाते हैं। वे रातों रात उस भूमि पर नाजायज अधिकार करके, एक रात में ही मंदिर खड़ा कर लेते हैं। ऐसा करना आजकल बहुत सामान्य हो गया है अथवा लोकरीति बन गई है। अत: यदि किसी स्थान पर उचित भूमि न मिलने के कारण वहाँ की जैनसमाज भी किसी रि€त पड़ी भूमि का अधिग्रहण करके जिनमंदिर निर्माण करती है, तो उसे चोरी न मानकर कदाचित् लोकरीति कहा जा सकता है। परंतु शास्त्रानुसार इसे उचित नहीं कहा जायेगा।

फरवरी, 2009

279. स मेदशिखर में जन्म लेनेवाले निकट भव्य होते हैं

जिज्ञासा- €या स मेदशिखर पर जन्म लेनेवाले त्रस व स्थावर जीव निकटभव्य ही होते हैं?

समाधान- स मेदशिखर शाश्वत निर्वाण धाम है। इसके संबंध में सबसे विस्तृत वर्णन **'श्रीस मेदशिखर माहात यम्'** (रचियता- श्री लोहाचार्य), में उपल ध होता है। आपके प्रश्न के समाधान में, इस ग्रन्थ में इस प्रकार कहा गया है-

वदन्ति मुनयश्चैवं केवलज्ञज्ञनसंयुता:।
भव्यराशे: कीदृगपि पापिष्ठस्तत्र तिष्ठति॥ 26॥
एकोनपञ्चाशज्जनन्मध्ये सोऽपि प्रमुच्यते।
एकेन्द्रिये य: संसार आ पञ्चेन्द्रियजन्तव:॥ 27॥
ये तत्र भागादुत्पन्ना नानानामाकृतिप्लुता:।
गणितव्यं भव्यराशेश्चान्येषां तत्र नोद्भव:॥ 28॥

अर्थ- केवलज्ञानी मुनिराज ऐसा कहते हैं कि, भव्य राशि का कोई भी, कैसा भी, पापी जीव स मेदशिखर पर ठहरता है या बैठता है तो 49 भवों के अन्दर ही, वह मुक्त हो जाता है। इस संसार में एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों में, जो नामकर्म की विभिन्नता से अनेकानेक आकृति वाले हैं, वे भव्य राशि के हिस्से

से स मेदशिखर सिद्धक्षेत्र पर उत्पन्न होते हैं, वे निश्चित ही उनचास भवों के भीतर मोक्ष जाने योग्य भव्य जीव हैं। ाव्य राशि से अन्य जीवों का, वहाँ जन्म ही नहीं होता है। (पृष्ठ 11-12)।

यहाँ ऐसा विचार उठता है कि क्षेत्रपरिवर्तन के अन्तर्गत अभव्य को भी पूरे लोक में उत्पन्न होना होता है। तब उपर्युक्त कथन की धारणा कैसे बनाई जाए? इस प्रश्न के उ र में पं0 माणिकचंद जी कौन्देय ने लिखा है कि जैसे भवपरिवर्तन में वैमानिक देवों के 32 या 33 सागर आयुवाले प्रकरण, या भावपरिवर्तन में तीर्थंकर आहारकद्विक, प्रकृतिबंधयोग्य कषायाध्यावसायस्थान और अनुभागबंधाध्यवसायस्थान छोड़ने पड़ते हैं, उसी तरह क्षेत्रपरिवर्तन में 170 स मेदशिखर भी छोड़ने पड़ते होंगे।

उपर्युक्त प्रकरण के अनुसार स मेदशिखर सिद्ध क्षेत्रों (सभी ढाई द्वीप संबंधी 170) पर उत्पन्न होने वाले सभी त्रस व स्थावर जीव निकटभव्य ही होते हैं।

मई, 2009

280. मंदिरों के शिखरों एवं चौखटों पर मूर्तियाँ बनाने का प्रयोजन

जिज्ञासा- पहले जैन मंदिरों के शिखरों तथा दरवाजों की चौखटों पर भी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। इसका या अभिप्राय था?

समाधान- आपके प्रश्न के उ र में पं0 नाथूराम जी प्रेमी ने अपनी पुस्तक, 'जैन साहित्य और इतिहास' में इस प्रकार कहा है- ''कुछ सज्जन ऐसा कहते हैं कि ये मूर्तियाँ शूद्रों और अस्पृश्यों के लिए स्थापित की जाती रही हैं, जिससे वे बाहर से ही भगवान् के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त कर सकें। यह बात कहने-सुनने में तो बहुत अच्छी मालूम होती है, परन्तु अभी तक इस विषय में किसी शिल्प-शास्त्र, प्रतिष्ठापाठ या पूजा प्रकरण का कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया है और यह बात कुछ समझ में भी नहीं आती है कि जो लोग दर्शन-पूजन-पाठादि के अधिकारी ही नहीं माने जाते हैं, उनके लिए शिखरों पर या द्वारों पर मूर्तियाँ जड़ने का परिश्रम यों आवश्यक समझा गया होगा। यदि इन लोगों को दूर से दर्शन करने देना ही अभीष्ट होता, तब तो मंदिरों के बाहर दीवालों में या आगे खुले चबूतरों पर ही मूर्तियाँ स्थापित कर दी जातीं। मेरी समझ में तो शिखर पर या द्वार पर जो मूर्तियाँ रहती हैं उनका उद्देश्य केवल यह प्रकट करना होता है कि उस मंदिर में कौनसा देव प्रतिष्ठित है अर्थात् वह किस देवता का मंदिर है। वास्तव में वह मु य देव का संक्षिप्त चिन्ह होता है, जिससे लोग दूर से ही पहचान जाएँ कि यह अमुक का मन्दिर है——।''

तारीख 9 अगस्त 1953 के 'नवभारत टाइ स' में श्रीमती गोमती रावत ने 'खजुराहो' शीर्षक लेख में लिखा है- ''यहाँ के गर्भगृह के दरवाजों पर उत्कीर्ण देव प्रतिमा को देखकर ही प्रधान देव का अनुमान किया जा सकता है।''

मई, 2009

281. मन्दिर या धर्मसभा में मोबाइल बन्द रखना ही उचित

जिज्ञासा-आजकल मोबाइल जेब में रखना अति आवश्यक हो गया है, यदि दर्शन करते समय या स्वाध्याय गोष्ठी में कभी घंटी बज जाए तो €या पापबंध का कारण है?

समाधान- अपनी जेब में मोबाइल रखना वास्तव में उतना आवश्यक नहीं है, जितना हमने मान लिया

है। हम इतने वेसब्र हो गए हैं कि मंदिर में दर्शन करते समय, जाप देते समय, प्रवचन सुनते समय, तथा स्वाध्याय करते समय भी अपना मोबाइल बंद नहीं रखना चाहते। देखा जाता है कि जाप देने वाले कुछ लोग जाप देते हुए बीच में ही, जाप देना छोड़कर, पूजा करने वाले पूजा बीच में ही छोड़कर, मोबाइल सुनने लग जाते हैं, जो महान् कर्मबन्ध का कारण है। आप स्वयं सोचें, जब आपके मोबाइल की घण्टी बजने लगती है, तब या उसको सुनकर मंदिर में दर्शन या पूजन करनेवाले अन्य जीवों का मन उधर से हटकर आपकी घंटी की ओर आकर्षित नहीं होता है ? या स्वाध्याय करते समय जब मोबाइल की घंटी अचानक बज उठती है, तो स ी स्वाध्याय करनेवाले जीवों को स्वाध्याय करने में व्यवधान नहीं होता है ? €या प्रवचन सुनते समय यदि घंटी बज जाए, तो निकट बैठे हुए पच्चीस-पचास लोगों का ध्यान प्रवचन से हटकर आपकी ओर नहीं हो जाता है ? इन सबका उ ार आप स्वयं यही दे पायेंगे कि वास्तव में ऐसा होता तो है। जब मोबाइल बज उठता है, तब अपने साथ अन्य स ी को पूजा-स्वाध्याय आदि में व्यवधान होता ही है। इस तरह यदि हम अन्य के धार्मिक कार्यों में व्यवधान करते हैं, तो दूसरे के कार्यों में विघ्न डालने से महान् अन्तराय कर्म का बन्ध होता है, साथ ही ज्ञानावरण आदि कर्मों का बन्ध होता है। देव-शास्त्र-गुरु की अविनय होती है, जिससे महान् अशुभ कर्मों का बन्ध होता है।

अत: उचित तो यही है कि हम धार्मिक कार्यों में जब जायें, तब मोबाइल न ले जाएँ। यदि ले भी जाएँ तो उसे बंद रखें ताकि महान् अशुभ कर्मों का बंध न हो।

वर्तमान में अन्य मत के मंदिरों में मोबाइल लेकर प्रवेश नहीं करने दिया जाता है। जैसे देहली के पास नोएडा में जो अक्षरधाम नामक विशाल मंदिर बना है, उसमें प्रवेश करते ही मोबाइल दरवाजे पर ही जमा कराना होता है। पूछने पर वे कहते हैं कि यदि मोबाइल साथ रखेंगे तो एकाग्रता नहीं रह सकेगी। जब अन्य मत के लोग इस प्रकार सोचते हैं, तो अन्तराय आदि कर्मों के बंध की प्रक्रिया जानने वाले हम जैनों को तो इस प्रकरण पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

जून, 2009

282. जिस पर लिखा हो, ऐसे पत्थर पर भी पैर न रखें

जिज्ञासा- विभिन्न तीर्थस्थानों पर क्षेत्र की वंदना करते समय रास्ते में जमीन पर उस रास्ते के निर्माता के नाम के पत्थर लगे हुए दिखाई देते हैं। जैसे सोनागिर जी में पर्वतवंदना के मार्ग में। जब वंदना करनेवाले के पैर इन पर पड़ते हैं, तो पाप लगता है या नहीं ?

समाधान- दान देने का सही मार्ग तो यह है कि दान दिया जाये और अपने नाम की भावना भी न रखी जाए। परन्तु आजकल दान देनेवाला पहले यही पूछता है कि हमारे नाम का पाटा लगेगा या नहीं ? यदि उसका उŽार नहीं में होता है, तो दान देनेवाला, दान नहीं देता है। बहुत से स्थानों पर पाटिये न लगने के कारण झगड़े भी होते हुए देखे जाते हैं। उचित तो यही है कि पाटे लगाने की पर परा बंद हो जाए। मैंने सोनागिर जी की वंदना बहुत बार की है और उसमें पर्वत की वंदना मार्ग पर लगे हुए पाटियों को भी देखा है। इन पाटियों पर वीर निर्वाण संवत् या अन्य मंगलसूचक शŽद भी लिखे रहते हैं। सच पूछा जाये तो ये सभी अक्षर द्रव्यश्रुत के अन्तर्गत आते हैं। यदि इन पर अपने पैर पड़ते हैं तो द्रव्यश्रुत की महान् अविनय होती है। मैंने विभिन्न

मुनिराजों के मुख से सुना है कि अखबारों के ऊपर बैठना या उन पर खड़े होना, महान् द्रव्यश्रुत की अविनय का कारण है। विभिन्न मंदिरों के दरवाजों पर प्रवेश करते ही ऐसे पाटिये जमीन पर लगे हुए दिखाई पड़ते है। ये सब द्रव्यश्रुत की अविनय के प्रसंग हैं।

इस महान् अविनय से बचने के लिए जहाँ-जहाँ पैर रखने के स्थानों पर अक्षरसहित पाटिये लगे हों, उनको या तो दीवार पर लगा देना उचित है अथवा हटा देना उचित है। ऐसे वंदना मार्गों पर इन लिखे हुए पाटियों के स्थान पर प्लेन पत्थर लगा दिए जायें, तो सुन्दरता भी बनी रहेगी और अविनय से भी बचा जा सकेगा।

जून, 2009

283. स मेदशिखर में सुवर्णभद्रकूट के ऊपरवाले चरण प्राचीन हैं

जिज्ञासा- स मेदशिखर तीर्थराज पर भगवान् पार्श्वनाथ के चरण नीचे गुफा में भी हैं और ऊपर भी ? इन दोनों में से कौन से चरण प्राचीन हैं ? हम तो नीचे गुफावाले चरणों को मूल चरण मानते हैं ?

समाधान- शास्त्रों में भगवान् पार्श्वनाथ का निर्वाण स मेदशिखर के सुवर्णभद्र कूट से वर्णित है। वर्तमान में भगवान् पार्श्वनाथ की टोंक पर दो स्थानों पर चरण बने हैं। एक तो ऊपर टोंक पर और दूसरे नीचे गुफा में। प्राय: यात्रीगण जब वंदना को जाते हैं, तो उन्हें नीचे गुफा वाले चरणों को ही मूल चरण बता दिया जाता है। कुछ समय पूर्व तक मेरी भी ऐसी ही धारणा थी, लेकिन एक दिन जब मैंने दोनों चरणों की प्रशस्तियाँ पढ़ीं, तो उनका अन्तर स्पष्ट हो गया। ऊपर की प्रशस्ति में **'संवत् 1849 मि. माघ मासे शु ल पक्षे पंचमी तिथौ बुधवासरे श्री पार्श्वनाथ- जिनस्य चरणन्यास: श्री संघाग्रहण श्री वृद्धखरतरगच्छिया जग्रमायुग त भट्टारक श्री जिनचन्द्रसूरि प्रतिष्ठत: श्रीरस्तु।'** यह प्रशस्ति लिखी है। जब कि नीचे के गुफा के चरणों में **'संवत् 1949 माघ सु. 10 स ऋवा। श्री रामत शैल पवते श्री पार्श्वनाथ जिनवर चरण पिते-प्रति-मा श्री विजयराजसुरि तपागच्छ'** अंकित है। इससे यह स्पष्ट है कि पूर्व में ऊपर वाले ही चरण थे। नीचे वाले चरण तो उसके 100 वर्ष बाद प्रतिष्ठित हुए हैं। वहाँ के कर्मचारियों ने भी बताया कि उनके पूर्वज ऐसा बताते थे कि इस नीचे वाली गुफा में पहले कर्मचारी रहते थे। चरणों की रचना तो बाद में हुई है। अत: ऊपरवाले चरणों को ही मूलचरण मानना उचित है।

जनवरी, 2010

284. उज्जोवणमुज्जवणं— का अर्थ €या है

जिज्ञासा- तǎवार्थसूत्र के प्रार भ में निम्न गाथा पढ़ने में आती है, इसका अर्थ बताइयेगा।

उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसण-णाण-चरिǎं तवाणमाराहणा भणिया।।

समाधान- स यग्दर्शन, स यग्ज्ञान, स यक्चारित्र तथा तप के उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण को आराधना कहा है। इन पाँच शǍदों का अर्थ निम्न प्रकार है-

1. उद्योतन- शङ्का आदि दोषों से रहित होना उद्योतन है।
2. उद्यवन- दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि में बार-बार आत्मा की परिणति होना उद्यवन है।

3. निर्वहण- निराकुलता से रत्नत्रय को धारण करना निर्वहण है।

4. साधन- पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अलग-अलग स यग्दर्शन आदि परिणाम से उपयोग परिवर्तन के द्वारा नये-नये स यग्दर्शन आदि परिणामों की निष्पत्ति होना साधन है।

5. निस्तरण- स यग्दर्शन आदि को भवान्तर में ले जाना निस्तरण है।

जून, 2010

285. पंचवि इंदिय मुण्डा— गाथा का अर्थ क्या है

जिज्ञासा- पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज सामायिक के अन्त में कुछ मुण्डोंवाली गाथा बोलते हैं। वह कौनसी गाथा है और उसका क्या या अर्थ है ?

समाधान- आप जिस गाथा की बात कर रहे हैं, वह मूलाचार ाग 1 की 121वीं गाथा है। मैंने भी कई बार पूज्य आचार्यश्री के श्रीमुख से इस गाथा को तथा कुछ अन्य विशिष्ट गाथाओं को सामायिक के अन्त में सुना है। गाथा इस प्रकार है-

पंचवि इंदियमुंडा वचमुंडा हत्थपायमणमुंडा।
तणुमुंडेण वि सहिया दस मुंडा वण्णिया समए॥ 121॥

गाथार्थ- पाँच इन्द्रियमुण्डन, वचनमुण्डन और शरीरमुण्डन से सहित हस्त, पाद एवं मनोमुण्डन ऐसे दस मुण्डन आगम में कहे गये हैं।

टीकार्थ- पाँचों ही इन्द्रियों का मुण्डन करना अर्थात् अपने विषयों के व्यापार से उन्हें अलग करना, ये पाँच इन्द्रिय मुण्डन हैं। अप्रासङ्गिक प्रलापरूप वचन का रोकना वचनमुण्डन है। हस्त और पाद का अप्रशस्तरूप से संकोचन नहीं करना और न फैलाना, ये हस्तमुण्डन और पादमुण्डन है तथा मन को अप्रशस्त चिन्तन से रोकना यह मनोमुण्डन है। ऐसे ही शरीर का मुण्डन है। मुण्डन के ये दश भेद आगम में कहे गये हैं। इनका व्या यान हमने अपनी बुद्धि से नहीं किया है, ऐसा समझना। अथवा इन दश मुण्डनों से मुण्डधारी मुण्डित कहलाते हैं, न कि अन्य सदोष प्रवृत्तियों से।

भावार्थ- सिर को मुडा लेने या केशलोंच कर लेने मात्र से ही कोई मुण्डित नहीं हो जाते हैं, जब तक कि इन दश प्रकार के मुण्डन से सहित नहीं हों। इसलिये इन्द्रियों का नियन्त्रण और हाथ-पैर तथा शरीर की अप्रशस्त क्रियाओं का रोकना एवं मन में अशुभ परिणामों का नहीं होने देना, ये सब संयम के साथ-साथ ही आवश्यक हैं।

दिस बर, 2010

286. क्या श्री कषायपाहुड़ से पूर्व भी शास्त्र होते थे

जिज्ञासा- क्या श्री कषायपाहुड से पहले ग्रंथ होते थे या नहीं ?

समाधान - उपर्युक्त जिज्ञासा के समाधान में हमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण तो ज्ञात नहीं होते हैं, परन्तु प्रसंगों से यह ज्ञात अवश्य होता है कि ई.पू. में भी ग्रंथों का सद्भाव तो था ही।

जैसे- क. आचार्य कुन्दकुन्द को अपने पूर्व भव में ग्वाले की पर्याय में, जंगल के एक कोटर में एक शास्त्र रखा हुआ दृष्टिगोचर हुआ, जिसमें से कांति निकल रही थी। वह ग्वाला उस शास्त्र को विनयपूर्वक अपने

घर ले आया और समय पर उसने वह शास्त्र एक मुनि महाराज को भेंट कर दिया। इस ज्ञानदान के महाप्रभाव से वह ग्वाला अगले भव में आ. कुन्दकुन्द बना।

ख. श्री मूलाचार गाथा क्त्- में इस प्रकार कहा है-

अज्झयणे परियट्ठे सवणे कहणे तहाणुपेहाए।
तवविणय संजमेसु ये अविरहिदुपओग जोगजुॅाओ॥

अर्थ - वे आर्यिकाएँ शास्त्र पढ़ने में, पाठ करने में, सुनने में, कहने में और अनुप्रेक्षाओं के चिन्तवन में तथा तप, विनय और संयम में नित्य ही उद्यत रहती हुईं ज्ञाना यास में तत्पर रहती हैं।

फ. इसी मूलाचार गाथा त्त्-म् में इस प्रकार कहा है-

धीरो वइरग्गपरो थोवं हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु।
ण य सिज्झदि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्थाइं॥

अर्थ - धीर, वैराग्य में तत्पर मुनि, निश्चितरूप से थोड़ी भी शिक्षा पाकर सिद्ध हो जाते हैं, किन्तु वैराग्य से हीन मुनि **सर्वशास्त्रों को पढ़कर** भी सिद्ध नहीं हो पाते।

ब. श्री प्रवचनसार प/ख्- में इस प्रकार कहा है-

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पिय विणओ सुॅाज्झयणं च णिद्दिट्ठं॥

अर्थ- सर्वज्ञवीतरागदेव-कथित निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग में मुनि के उपकारी परिग्रह इस प्रकार कहे हैं- जैसा मुनि का स्वरूप चाहिए वैसा ही यथाजात रूप द्रव्यलिंग का होना, जो अनुभवी महामुनि हैं, उनके प्रति विनयरूप प्रवृ ा होना तथ**शास्त्रों का अध्ययन करना।**

उपर्युक्त सभी प्रमाण ई. की पहली शताॅदी अथवा उससे पूर्व के हैं, जिनमें प्रमाण नं.क से विदित होता है कि आ. कुन्दकुन्द से पूर्व भी लिपिबद्ध शास्त्रों का सद्भाव था, तभी तो उस ग्वाले ने शास्त्रदान किया। यह कथा ई. पू. की है। इसके अतिरिक्त शेष प्रमाण पहली शताॅदी के हैं, जिनमें आर्यिकाओं तथा मुनियों को शास्त्रों के पठनपाठन का उपदेश दिया गया है। इससे ध्वनित होता है कि ई. पू. में भी लिपिबद्ध शास्त्रों का सद्भाव था।

विद्वानों से निवेदन है कि इस संबंध में और प्रकाश डालें।

जनवरी, 2007

287. दस धर्मों में पहले शौच या सत्य

जिज्ञासा- दशधर्म के वर्णन में पहले उॅाम शौच आता है या उॅाम सत्य ?

समाधान- वास्तविकता तो यह है कि कोई धर्म आगे पीछे नहीं आता। सभी दसों धर्म आत्मा के स्वभाव हैं। आचार्यों एवं मुनियों के द्वारा सदैव पालने योग्य हैं, तथा श्रावकों के द्वारा भी यथायोग्य नित्य पालनयोग्य हैं। परन्तु दशलक्षणपर्व में जब इनका प्रवचन होता है, तब चौथे दिन किस धर्म का प्रवचन होना चाहिये, इस पर कहीं-कहीं विवाद देखा जाता है। यह विवाद उचित नहीं है, फिर भी आचार्यों ने इनका क्रम किस प्रकार कहा है, उसे देखते हैं-

1. तǎवार्थसूत्र के रचयिता आ. उमास्वामी तथा उनके सभी टीकाकारों ने उǎाम शौच के बाद उǎाम सत्य कहा है। इसी प्रकार स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, तǎवार्थसार तथा चामुंडरायरचित चारित्रसार में भी इसी प्रकार का वर्णन है।

2. आ. कुंदकुंद ने वारसाणुवे€खा में, भ. सकलकीर्ति ने मूलाचारप्रदीप में, ब्रह्मदेवसूरि ने बृहद्द्रव्यसंग्रह में, आ. पद्मनंदि ने पद्मनंदिपंचविंशातिका में, आ. जिनसेन ने आदिपुराण में तथा अमितगतिश्रावकाचार आदि में उǎाम सत्य के बाद उǎाम शौचधर्म कहा है।

3. आ. वट्टकेर ने मूलाचार में तथा आचार्य वसुनंदि ने वसुनंदिश्रावकाचार में धर्म का क्रम इस प्रकार कहा है- क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, तप, संयम, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य तथा त्याग।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि आचार्यों ने इसका वर्णन कई प्रकार से किया है। अतः इस संबंध में विवाद उचित नहीं है।

मसई, 2008

288. सप्त परमस्थान

जिज्ञासा- सप्त परमस्थान कौन से होते हैं?

समाधान- जब किसी विधान या अनुष्ठान के बाद हवन किया जाता है, तब सप्त परमस्थान प्राप्त होने की भावना की जाती है। इनके संबंध में श्री आदिपुराण भाग-2 पर्व 38 में इस प्रकार कहा है-

सज्जातिः सद्गृहित्वं च, पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं, परनिर्वाणमित्यपि॥ 67॥
स्थानान्येतानि सप्त स्युः परमाणि जगत्त्रये।
अर्हद्वाग्मृतास्वादात् प्रतिल यानि देहिनाम्॥ 68॥

अर्थ- सज्जाति, सद्गृहस्थपना, जिनदीक्षा की प्राप्ति, सुरेन्द्रता, साम्राज्य, अर्हन्त पद प्राप्ति तथा परम निर्वाण पद प्राप्ति, ये सात स्थान तीनों लोकों में उत्कृष्ट माने गये हैं और ये सातों ही अरहन्त भगवान् के वचन रूपी अमृत के आस्वादन से जीवों को प्राप्त हो सकते हैं।

मार्च, 2010

****

स्मरणीय बिन्दु

स्मरणीय बिन्दु

स्मरणीय बिन्दु

स्मरणीय बिन्दु

स्मरणीय बिन्दु

स्मरणीय बिन्दु

स्मरणीय बिन्दु